उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

MAPS-109
राजनीति विज्ञान
अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति

खण्ड

01

स्वरूप और उपागम

इकाई-1	5
अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अर्थ, स्वरूप एवं क्षेत्र	
इकाई-2	15
अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के उपागम	
इकाई-3	26
अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन का शक्ति उपागम	

परामर्श-समिति

प्रो० केदार नाथ सिंह यादव	कुलपति
डॉ० हरीशचन्द्र जायसवाल	कार्यक्रम संयोजक
डॉ० इति तिवारी	सहसंयोजक
श्री एम. एल. कनौजिया	कुलसचिव

विशेषज्ञ समिति (परिमार्जक)

1- प्रो० एस. के. झा	पूर्व विभागाध्यक्ष, राजनीतिशास्त्र विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय

सम्पादक

प्रो० एस. एम. सईद	अवकाश प्राप्त प्रोफेसर, लखनऊ विश्वविद्यालय

लेखक मंडल

1- प्रो० नन्द लाल	प्रोफेसर काशी विद्यापीठ, काशी	–	3 इकाई
2- डॉ० मनूका खन्ना	रीडर, लखनऊ विश्वविद्यालय,	–	3 इकाई
3- डॉ० शशि शुक्ला	रीडर, लखनऊ विश्वविद्यालय	–	3 इकाई
4- प्रो० बी. के. तिवारी	प्रोफेसर, लखनऊ विश्वविद्यालय	–	4 इकाई
5- डॉ० कमल कुमार	रीडर, लखनऊ विश्वविद्यालय	–	4 इकाई

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, **प्रयागराज**

IOST-041

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की ओर से कर्नल विनय कुमार, कुलसचिव द्वारा पुनः मुद्रित एवं प्रकाशित २०२४.

MAPS-109/2 मुद्रकः सिग्नस इन्फार्मेशन सल्यूशन प्रा० लि०, लोढ़ा सुप्रीमस साकी विहार रोड, अन्धेरी ईस्ट, मुम्बई।

खण्ड 1 का परिचय : अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का स्वरूप तथा उपगम

सामाजिक युग में वैज्ञानिक और तकनीकी विकास के परिणाम स्वरूप पूरा विश्व सिकुड़ कर रह गया है। आज पूरा विश्व के विभिन्न भाग एक दूसरे से जुड़े हुये हैं। परिणाम स्वरूप विश्व के एक भाग में घटने वाली घटना विश्व के अन्य भागों को भी प्रभावित करती हैं। यही कारण है कि विश्व के राष्ट्र अन्य राष्ट्रों के निरंतर सम्पर्क में रहना चाहते हैं ।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में अपनी भूमिका का निर्वाह करने वाले प्रत्येक 'कर्ता' (अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की शब्दावली में राज्य को कर्ता या 'एक्टर' कहा जाता है) का उद्देश्य अपने राष्ट्रीय हित की प्राप्ति करना होता है । और यहीं से शुरू होता है, राष्ट्रों के मध्य संघर्ष जो उनके राष्ट्रीय हितों में ताल मेल न बैठने की स्थिति का द्योतक है। प्रत्येक राष्ट्र अन्य राष्ट्रों के व्यवहार को प्रभावित और नियंत्रित करके अपने हितों की सुरक्षा करता है। राष्ट्र इसके लिये विदेश नीति को माध्यम बनाता है। इसीलिये यह कहा जाता है कि प्रत्येक राष्ट्र की विदेश नीति का अंतिम लक्ष्य राष्ट्रीय हित की प्राप्ति होता है । इसीलिए कभी कभी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को विदेश नीतियों के मध्य अन्तः क्रिया के रूप में भी परिभाषित किया जाता है। यह आंशिक रूप से ही सत्य माना जा सकता है क्योंकि विदेश नीति की तुलना में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का क्षेत्र कहीं अधिक व्यापक है।

अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति की आकांक्षा से ही राज्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में आते हैं, बने रहते हैं और अपनी भूमिका का निर्वाह करते हैं। भूमिका-निर्वाह की प्रक्रिया में अनिवार्यतः वे अन्य राज्यो या देशों के सम्पर्क में आते हैं। यही सम्पर्क अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की केन्द्रीय विषय-वस्तु का निर्माण करते हैं।

किसी न किसी प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध प्रारम्भिक काल से ही रहा है। भारत, मिस्त्र, यूनान और भारत जैसे देशों में परराष्ट्र सम्बन्धों की विस्तृत आचार संहिताएं भी प्राप्त होती हैं। वैसे यह सत्य है कि इनमें उल्लिखित अधिकांश नियम नैतिकता पर आधारित थे और राष्ट्रों द्वारा कठोरतापूर्वक पालन नहीं किये जाते थे। दूसरी बात यह कि राष्ट्रों का प्रायः अपने क्षेत्र के राज्यों से ही सम्बन्ध होता है । अतएव इन्हें क्षेत्रीय सम्बन्ध कहना बेहतर होगा। पहली बार 17वीं शताब्दी में राष्ट्रों में अपने क्षेत्र से बाहर के राष्ट्रों से सम्बन्ध बनाने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। एक प्रकार से यही समय भले ही प्रतीकात्मक रूप में, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की शुरूआत का समय था। उद्योग जगत में व्यापक परिवर्तन तथा परिवहन एवं संचार के साधनों में विकास ने राष्ट्रों को एक दूसरे के और निकट किया और प्रकारान्तर से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के और आगे विकास का मार्ग प्रशस्त किया। उल्लेखनीय है उन दिनों अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध का आशय कमोबेश रूप से कूटनीतिक इतिहास से किया जाता था। जिसमें तथ्यों का क्रमवार विवरण होता है। अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य और घटनाक्रम को समझने के लिये किसी सैद्धान्तिक प्रतिमान का निर्माण इस काल में नहीं किया गया।

यह स्थिति न्यूनाधिक रूप से 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक बनी रही।

प्रस्तुत खण्ड में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप एवं उसके अध्ययन के उपागमों की चर्चा की गयी है। पहली इकाई में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अर्थ समझाया गया है; इसे परिभाषित किया गया है और इस बात की भी व्याख्या की गयी है कि यह किस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध से भिन्न हैं? इसी इकाई में एक अनुशासन के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र की भी विवेचना की गई है। द्वितीय इकाई में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के विभिन्न परम्परागत एवं आधुनिक उपागमों की चर्चा की गयी है। ये विभिन्न उपागम अपने अपने प्रकार से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन और विश्लेषण का प्रस्ताव करते हैं। तीसरी इकाई में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के शक्ति या यथार्थवादी उपागम की विस्तार से चर्चा की गई है ।

इस खण्ड में उल्लिखित विषयों के अध्ययन से अन्तराष्ट्रीय राजनीति के अर्थ और स्वरूप को समझने में मदद मिलेगी। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के निमित्त विकसित विभिन्न उपागमों से भी अध्येता का साक्षात्कार हो सकेगा । उसे शक्ति उपागम की विस्तार से भी जानकारी हो सकेगी जिसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक अध्ययन और निरूपण में कदाचित सर्वाधिक मान्यता प्राप्त है।

इकाई - 1 : अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अर्थ, स्वरूप एवं क्षेत्र

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अर्थ

1.3 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की परिभाषा

1.4 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध में अन्तर

1.5 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का स्वरूप

1.6 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का क्षेत्र

1.7 सारांश

1.8 सन्दर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

1.9 सम्बन्धित प्रश्न

1.10 प्रश्नोत्तर

1.0 उद्देश्य

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से अब तक के पांच दशकों में राष्ट्रों को इस बात का भली भाँति एहसास हो गया है कि युद्ध से विध्वंश ही हो सकता है, किसी समस्या का स्थायी समाधान नहीं। अब राष्ट्र परस्पर जुड़ कर विकास की यात्रा तय करना चाहते हैं । इस सोच में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति या राष्ट्रों के मध्य राजनीति कुछ ज्यादा सक्रिय और ज्यादा जीवंत हो गयी है।

इस इकाई का उद्देश्य अध्येता को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सामान्य परिचय देना है। इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आपः

- अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अर्थ, उसके स्वरूप तथा क्षेत्र से परिचित हो सकेंगे ।
- अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति तथा अन्तर्राष्ट्रीय संबंध में विभेद कर सकेंगे ।

1.1 प्रस्तावना

अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में प्रत्येक राष्ट्र (कर्ता) अपने स्व-प्रस्तावित राष्ट्रीय हितों और अपने उपलब्ध शक्ति संसाधनों के परिप्रेक्ष्य में अपनी नीति और भूमिका का निर्धारण करता है। राष्ट्रीय हित की प्राप्ति की संभावना से ही राष्ट्र अन्य राष्ट्रों के सम्पर्क में आते हैं। इन्हीं सम्बन्धों की समष्टि को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध करते हैं। लौकिक जगत से जुड़ी अन्य वस्तुओं की भाँति ही

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध भी परिवर्तन शील है क्योंकि पर्यावरण के प्रभाव से अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था मे निरंतर परिवर्तन आता रहता है। मोटे तौर पर, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में इसी परिवर्तन शील अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था और इसमें कर्ताओं के मध्य अन्तः क्रिया का अध्ययन किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं और तथ्यों के अध्ययन के लिये अनेक तरीके या उपागम अपनाये जा सकते हैं। ये सभी एक दूसरे के पूरक हैं।

1.2 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अर्थ

'अन्तर्राष्ट्रीय' (इण्टरनेशनल) शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम ब्रिटिश विचारक जर्मी बेन्थम द्वारा 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में राष्ट्रों की विधि के संदर्भ में किया गया । आगे चल कर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति शब्द इसी से विकसित हुआ।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अर्थ को भली भाँति समझने के लिये राजनीति शब्द का अर्थ समझना आवश्यक है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सुप्रसिद्ध विद्वान **क्विंसी राइट** के विचार में राजनीति प्रभावित करने और चालाकी की एक कला है जिसका उद्देश्य अपने या अपने समूह के हित को दूसरे या दूसरे समूह के हित की तुलना में आगे बढ़ाना है। यह वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा शक्ति अर्जित की जाती है। बरकरार रखी जाती है। और बढ़ायी जाती हैं। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में राष्ट्र या राष्ट्रों के समूह अन्य राष्ट्रों के समूह के हित की तुलना में अपने हित को आगे बढ़ाते हैं । इस पूरी प्रक्रिया में सबसे बड़ी भूमिका शक्ति की होती है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के तीन मूल आधार हैं : राष्ट्रीय हित, शक्ति और संघर्ष । इनमें राष्ट्रीय हित लक्ष्य हैं शक्ति इसे प्राप्त करने का माध्यम है । जबकि संघर्ष अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का वातावरण है। मोटे तौर एर, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति किसी समय विशेष पर, राष्ट्रों के मध्य शक्ति सम्बन्धों (पावर रिलेशन्स) की समष्टि है। वैसे यह सत्य है कि राष्ट्रों के मध्य मात्र संघर्ष ही नहीं होता है। उनमें किसी न किसी मात्रा में सहयोग भी पाया जाता है। पिछले कुछ दशकों में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के सामान्य स्वरूप से ऐसे ही संकेत मिलते हैं । अब राष्ट्र अपनी समृद्धि में ज्यादा रूचि रखते हैं । इसी लिए पिछले कुछ वर्षों में अन्तरार्ष्ट्रीय सम्बन्ध का आर्थिक पक्ष अधिक महत्वपूर्ण होता जा रहा है। लेकिन सहयोग तभी संभव है जब संघर्ष को नियंत्रित किया जाय। संघर्ष को अपेक्षाकृत इच्छित दिशा में निर्देशित भी किया जा सकता है। इस रूप में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति संघर्ष के नियंत्रण एवं सहयोग के स्थापन का अध्ययन है।

संघर्ष की उत्पत्ति राष्ट्रों के हितों के विरोधकारी होने के कारण होती है। प्रत्येक राष्ट्र के व्यवहार को प्रभावित और नियंत्रित करके अपने हितों को संरक्षित करना चाहता है। राष्ट्र अपने हितों की पूर्ति विदेश नीति के माध्यम से करते हैं इसी लिये कुछ विद्वान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को विदेश नीतियों के मध्य अन्तः क्रिया के रूप में परिभाषित करते हैं । **फेलिक्स ग्रॉस** ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और विदेशनीति के अध्ययन को पर्यायवाची माना है। परन्तु इस विचार में आंशिक सत्य ही माना जा सकता है। यह सत्य है कि विदेश नीति का अध्ययन अन्तर्राष्ट्रीय

राजनीति को इसके विभिन्न आयामों में समझने के लिये कदाचित सर्वाधिक सहायक हैं परन्तु मात्र विदेश नीतियों के अध्ययन से ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को भली भाँति नहीं समझा जा सकता। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था इसकी शक्ति संरचना और अन्तर्राष्ट्रीय कर्ता की प्रभावशीलता का भी ज्ञान किसी काल विशेष की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को समझने के लिये आवश्यक है। अधिक से अधिक **स्प्राउट** और **स्प्राउट** के शब्दों में विदेश नीति को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की एक उप श्रेणी माना जा सकता है।

मोटे तौर पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति वह प्रक्रिया है जिसमें विभिन्न राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति हेतु सहभागी बनते हैं और इसके लिये वे शक्ति को माध्यम बनाते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की विषय वस्तु को लेकर जरूर विद्वानों में किंचित मत वैभिन्न है। **चार्ल्स श्लीचर** ने सभी अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों को अन्तराष्ट्रीय राजनीति की विषय वस्तु माना है हालाँकि वे यह स्वीकार करते हैं कि राष्ट्रों के मध्य राजनीतिक और अराजनीतिक दोनों प्रकार के सम्बन्ध होते हैं। **नार्मन जे. पैडेलफोर्ड** और **जार्ज ए. लिंकन** के विचार में, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति व्यवक्तिगत राष्ट्रीय राज्यों के मध्य एक अन्तःक्रिया है जिसे वे अपने निदर्शित राष्ट्रीय हितों और लक्ष्यों की प्राप्ति के प्रयास से सम्पन्न करते हैं। **नार्मन डी. पामर** और **हावर्ड सी. पार्किन्स** का यह मानना है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अनिवार्यतः राज्यों की व्यवस्था से सम्बन्धित है। **हैन्स मार्गेन्थाऊ** का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का पूरा विश्लेषण राजनीतिक सम्बन्धों और शाँति की समस्या पर केन्द्रित है। उनका ऐसा मानना है कि किसी भी अन्य राजनीति की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति भी शक्ति के लिए संघर्ष है। सबसे अच्छी व्याख्या **जॉन बर्टन** की है जिसने अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को एक ऐसी व्यवस्था माना है जिसमें विभिन्न राष्ट्र जान बूझ कर विवाद से बचने और शान्तिपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने के लिए प्रयास करते रहते है।यह मान कर कि संघर्ष की बहुत बड़ी कीमत देनी पड़ सकती है।

1.3 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की परिभाषा

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, मोटे तौर पर, राष्ट्रों के बीच की एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में अपने राष्ट्रीय हितों की प्राप्ति के लिये निरंतर कोशिश करते हैं। विभिन्न विद्वानों द्वारा इसे भिन्न भिन्न तरीके से परिभाषित किया गया है। कुछ प्रमुख परिभाषाएं नीचे दी जा रही हैं।

1. "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति राष्ट्रों के राजनीतिक सम्बन्ध और शान्ति की समस्या का अध्ययन है।'

- हैन्स जे. मार्गेन्थाऊ

2. "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रों के मध्य सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है।"

- चार्ल्स श्लीचर

3. "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति सम्बन्धों के बदलते प्रतिमान के भीतर राज्यों की नीतियों के मध्य अन्तः क्रिया का अध्ययन किया जाता है।"

- नार्मन पैडेलफोर्ड एवं जार्ज लिंकन

4. "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति राज्य व्यवस्था से सम्बन्धित विषय है।"

- पामर एवं परकिन्स

5. "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का आशय स्वतंत्र राजनीतिक समुदायों के मध्य सम्बन्धों और अन्तः क्रिया के उन पक्षों से है जिनमें विरोध, प्रतिरोध अथवा उद्देश्य या हित के संघर्ष का तत्व विद्यमान हो।"

- हेरोल्ड स्प्राउट और मार्गरेट स्प्राउट

6. "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति उन प्रक्रियाओं पर केन्द्रित है जिसके द्वारा राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हितों का अन्य राष्ट्रों के राष्ट्रीय हितों से ताल मेल बैठाते हैं।"

- हार्टमैन

7. "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति उन सभी घटनाओं और स्थितियों का अध्ययन है जो एक से अधिक राज्यों से सम्बन्धित है। यह शांतिपूर्ण संचार की एक व्यवस्था है जहाँ राज्य जानबूझकर अपने ही हित में संघर्ष से बचते हैं क्योंकि संघर्ष की कीमत बहुत अधिक होती है।"

- जॉन बर्टन

8. "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति राष्ट्रों के मध्य प्रतिद्वन्दिता और उन स्थितियों और संस्थाओं का अध्ययन है जो इन सम्बन्धों को तीव्र या नरम करते हैं।"

- केनिथ टॉम्सन

9. "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन करती है।"

- स्ट्रॉज ह्यूप

1.4 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध में अन्तर

सामान्य बोल चाल की भाषा में इन दोनों शब्दों को पर्यायवाची माना जाता है। यहाँ तक कि विषय के कतिपय ख्यातिलब्ध अध्येताओं ने भी दोनों को एक ही माना है। **मार्गेन्थाऊ** और **केनिथ टॉम्सन** जैसे शीर्ष विद्वानों ने दोनों को लगभग समानार्थी स्वीकार करते हुये यह माना है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध का मुख्य घटक तत्व हैं।

सामान्य रूप से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध का अध्ययन अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था , अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, शक्ति प्रतिद्वन्दिता, विदेश नीति, अन्तर्राष्ट्रीय रणनीति और प्रवर्तन प्रक्रियायों के सदर्भ में किया जाता है। यही सब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के भी अध्ययन विषय हैं ।

लेकिन फिर भी उन्हें पर्यायवाची नहीं माना जा सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध का आशय राष्ट्रों के मध्य सभी प्रकार के सम्बन्धों से हैं। ये सम्बन्ध राजनीतिक या अराजनीतिक, शांतिपूर्ण या युद्धकारी, वैधानिक या सांस्कृतिक, आर्थिक या भौगोलिक, सरकारी या गैर-सरकारी हो सकते हैं । अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के परिक्षेत्र में ये सभी आते हैं। यह राष्ट्रों के मध्य सम्बन्धों का समग्र अध्ययन है। दूसरी ओर, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति राष्ट्रों के मध्य मात्र राजनीतिक सम्बन्धों का अंतर है। हम चाहें तो ऐसा भी कर सकते हैं। कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध का राजनीतिक पक्ष है।

यह सहज ही स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध का क्षेत्र व्यापक है । अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का क्षेत्र अपेक्षाकृत संकुचित है। विद्वानों में इस बात पर आम सहमति है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध की एक उप श्रेणी है।

अन्तर के बावजूद, दोनों प्रत्ययों के बीच की दूरी क्रमशः धूमिल होती जा रही है। शान्ति और व्यवस्था की खोज दोनों का अभीष्ट है।

1.5 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का स्वरूप

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप में गुणात्मक बदलाव आ गया है। 1945 के बाद से अन्तर्राष्ट्रीय जगत में घटित विभिन्न विकासों ने सम्प्रभु राज्य, राज्यों के मध्य संघर्ष, राष्ट्रीय हित, शक्ति और विकास की अवधारणा में कांफी कुछ बदलाव ला दिया है।

यहाँ ऐसे कुछ कारकों की चर्चा की जानी चाहिये जिन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप को बदल दिया है। सर्वप्रथम सन 1945 के बाद के समय काल में संप्रभु राष्ट्रों की संख्या में आशातीत वृद्धि हुयी है। अब तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रमुख कर्ता यूरोपीय राष्ट्र ही रहे थे। परन्तु उपनिवेशवाद के घटते प्रभाव के कारण स्वतंत्र राष्ट्रों की संख्या क्रमशः बढ़ती गई है। सन 1945 में संयुक्त राष्ट्र के चार्टर पर हस्ताक्षर करने वाले सदस्यों की संख्या 51 थी जबकि अब संयुक्त राष्ट्र के सदस्यों की संख्या 192 है । परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मात्र यूरोपीय राजनीति नहीं रह कर सही अर्थों में अन्तर्राष्ट्रीय बन गई ।

दूसरी बात यह कि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद हुए तकनीकी विकास ने भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप को परिवर्तित किया है। इस काल के तकनीकी विकास ने हथियारों के स्वरूप और प्रकारान्तर से युद्ध के स्वरूप को बदल दिया है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दृष्टि से इस युग का सबसे बड़ा तकनीकी विकास परमाणु बम का अविष्कार था। यह काल अन्तर्द्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों, परमाणु क्षमता युक्त जेट एअर क्राफ्ट तथा परमाणु शक्ति से लैस पन्डुब्बियों का हैं। उपलब्धियों की सूची बहुत लम्बी है। ये कुछ उदाहरण मात्र हैं। यह सत्य है कि ये उपलब्धियाँ तकनीकी प्रगति का दस्तावेज हैं फिर भी इन्होंने अपनी विध्वंशात्मक क्षमता के कारण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को ज्यादा खतरनाक बना दिया है। यह सत्य है कि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से अब तक

परमाणु अस्त्रों का कहीं प्रयोग नहीं हुआ परन्तु फिर भी इनके रहते अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विध्वंशक हो जाने की संभावना बनी हुयी है। **मैक्स लर्नर** ने इसे 'ओवरकिल' की क्षमता कहा है।

तीसरी बात यह कि शक्ति की राजनीति के साथ ही शांति के लिये उत्कट इच्छा भी समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की प्रमुख निर्धारक तत्व है। विदेश नीति के प्रत्येक निर्णय की पृष्ठभूमि में हमेशा शांति की कामना रहती है। यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का लक्ष्य है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अन्तिम उद्देश्य ऐसे माध्यमों और तरीकों की खोज करना है जिससे शांतिपूर्ण विश्व की स्थापना हो सके।

शान्ति की आकांक्षा ही अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को जन्म देती हैं शांति लक्ष्य है तो अन्तर्राष्ट्रीय संगठन इसका संस्थात्मक माध्यम । शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के बीच इस सम्बन्ध ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप को एक नया कलेवर प्रदान कर दिया है। अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति केवल शक्ति के लिये ही नहीं वरन शान्ति के लिये भी संघर्ष है।

1.6 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का क्षेत्र

किसी भी विषय के क्षेत्र का आशय उन आयामों से होता है जो उस विषय की सीमा परिधि में आते हैं। इस रूप में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का क्षेत्र उन विषयों तक प्रसारित है जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों से सम्बन्धित हैं ।

मोटे तौर पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विषय क्षेत्र के अन्तरर्गत निम्नांकित विषय आते हैं।

1. **अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का अध्ययन** - किसी समय विशेष में राष्ट्रों की भूमिका का अध्ययन उस समय की अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के स्वरूप के संदर्भ में ही भली प्रकार से किया जा सकता है। इस लिये राष्ट्रों के मध्य सम्बन्धों के अध्ययन के लिये अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का ज्ञान आवश्यक है।

2. **विदेश नीतियों का अध्ययन** - अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के अन्तर्गत राष्ट्रों की विदेश नीतियों का अध्ययन अनिवार्यतः किया जाता है। विदेश नीति ही वह माध्यम है जिसके द्वारा राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में अपनी भूमिका का निर्वाह करते हैं। कुछ विद्वान तो यहाँ तक मानते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति राष्ट्रों की विदेश नीतियों के मध्य अन्तःक्रिया मात्र है।

3. **शक्ति संरचना का अध्ययन** - अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अन्तर्गत विश्व शक्ति संरचना का अध्ययन अभीष्ट है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में किसी भी राष्ट्र की भूमिका अन्ततः इसी शक्ति संरचना द्वारा निर्धारित होती है। राष्ट्र अलग अलग शक्ति वाले राष्ट्रों के साथ भिन्न भिन्न सम्बन्ध रखते हैं । अपने राष्ट्रीय हितों को सुरक्षित रखते के लिये हर राष्ट्रीय कर्ता की यह कोशिश रहती है कि वह शक्ति संरचना में उच्चतर स्थान प्राप्त राष्ट्र या राष्ट्रों से बेहतर सम्बन्ध रखे।

4. **अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का अध्ययन** - अन्तर्राष्ट्रीय संगठन आज के अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के अनिवार्य अंग हैं। ये राष्ट्रों की शान्ति की जिजीविषा के प्रतीक हैं । इन का उद्देश्य एक ओर अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में शान्ति और सौहार्द्र की स्थापना करना है। तो दूसरी ओर राष्ट्रों के मध्य सहयोग की स्थापना करना है। राष्ट्र संघ (लीग आफ नेशन्स) सही अर्थो में पहला अन्तर्राष्ट्रीय संगठन था जो 1920 से 1939 तक सक्रिय रहा । इसी के ध्वंशावशेषों पर द्वितीय विश्व युद्ध (1939-1945) के उपरांत संयुक्त राष्ट्र की स्थापना हुई ।

5. **क्षेत्रीय संगठनों का अध्ययन** - अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अन्तर्गत क्षेत्रीय संगठनों का अध्ययन भी किया जाता है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के समयकाल में क्षेत्रीय संगठनों की बाढ़ सी आ गयी है। इसका कारण संभवतः राष्ट्रों में विकसित यह भाव है कि किसी समस्या का क्षेत्रीय समाधान अन्तर्राष्ट्रीय समाधान की तुलना में कहीं अधिक आसान हैं । ये संगठन सैनिक और असैनिक दोनों प्रकार के हैं ।

6. **अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अध्ययन** - अन्तर्राष्ट्रीय कानून अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की नियामक इकाई है। यह राष्ट्रों द्वारा अपने पारस्परिक व्यवहार में पालन करने वाले नियमों का संग्रह है। यह सत्य है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पीछे वैसी बाध्यकारी शक्ति नहीं होती जैसी कि राष्ट्रीय कानूनों के पीछे होती हैं। फिर भी सामान्यतः राष्ट्र इस का पालन करते हैं । अन्तर्राष्ट्रीय कानून मोटे तौर पर तीन भागों में बांटा जाता है। (क) शान्तिकाल की विधि (लॉ आफ पीस) , (ख) युद्ध काल की विधि (ला आफ वॉर), तथा (ग) तटस्थता की विधि (ला आफ न्युट्रेलिटी) ।

1.7 सारांश

मूल रूप से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति राष्ट्रों के मध्य सम्बन्धों का अध्ययन है। वैश्वीकरण के वर्तमान युग में यह हर राष्ट्र की मजबूरी है कि वह अन्य राष्ट्रों के सम्पर्क में आये। इसलिये प्रत्येक राष्ट्रीय कर्ता अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में अपनी भूमिका का निर्वाह करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में भूमिका निर्वाह के दौरान प्रत्येक राष्ट्र का एक ही लक्ष्य होता है । पहले से पूरे हो रहे राष्ट्रीय हित में वृद्धि करना अथवा कम से कम उन्हें यथावत बरकरार रखना। अपने राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा के निमित्त राष्ट्र बलकारी उपाय करने के लिए स्वतंत्र है। लेकिन राष्ट्र हित की सुरक्षा या उसमें अभिवृद्धि करने के लिए क्षमता चाहिए। यही क्षमता अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की शब्दावली में शक्ति कहलाती है। यह दूसरे को, उसकी इच्छा के विरूद्ध अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने हेतु बाध्य कर देने की क्षमता है। दूसरे शब्दों में शक्ति वह माध्यम है जिसके द्वारा राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हित में अभिवृद्धि का प्रयास करते हैं। इस रूप में राष्ट्रीय हित और शक्ति में अटूट सम्बन्ध है। एक लक्ष्य है तो दूसरा माध्यम। विदेश नीति की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि अभीष्ट राष्ट्रीय हित और उपलब्ध शक्ति के मध्य समानुपातिक सम्बन्ध हो । मार्गेन्थाऊ ने लिखा भी है कि 'शक्ति के संदर्भ में राष्ट्रीय हित

ही विदेश नीति है।'

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में राष्ट्रों द्वारा शक्ति अर्जित करने की प्रक्रिया का अध्ययन है। यह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध की अपेक्षा एक संकुचित अवधारणा है क्योंकि इसके अन्तर्गत राष्ट्रों के मात्र राजनीतिक सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है। जबकि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के अन्तर्गत राष्ट्रों के सभी प्रकार के सम्बन्धों - आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक - का अध्ययन अभीष्ट होता है । चाहे तो हम ऐसे भी कह सकते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध एक बड़ा वृत्त है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति उसके भीतर विद्यमान एक छोटा केन्द्रीय वृत्त है।

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का क्रमशः लोकतंत्रीकरण होता गया है द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में स्वतंत्र कर्ताओं (राज्यों) की संख्या निरंतर बढ़ती गई है। इससे अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मात्र यूरोपीय राजनीति न रह कर सही अर्थों में अन्तर्राष्ट्रीय हो गयी।

परमाणु अस्त्रों के प्रसार ने भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को क्रमशः प्रभावित किया है। इन्होंने युद्ध के स्वरूप को ज्यादा तकनीकी और भयावह बना दिया है। लेकिन इससे शान्ति की संभावनाएं भी प्रबल हुई हैं। क्योंकि राष्ट्र अपने अस्तित्व को खतरे में डाल कर युद्ध के लिये नहीं तैयार होते।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का क्षेत्र उन सभी विषयों तक प्रसारित है जो राष्ट्रों के मध्य सम्बन्ध से किसी भी रूप और किसी भी मात्रा में सम्बंन्धित हैं इसमे उस पूरे परिवेश का अध्ययन आ जाता है जिससे राष्ट्र अपनी अन्तः क्रिया करते हैं इसके अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था, राष्ट्रों की शक्ति संरचना, राष्ट्रों की विदेश नीतियों आदि का अध्ययन अभीष्ट होता है।

1.8 संदर्भ ग्रन्थ

1. Palmer and Perkins : International Relations
2. Wolfe International Relations - Power and Justice
3. Prakash Chandra International Politics
4. Mahendra Kumar Theoretical Aspects of International Relations (हिन्दी संस्करण उपलब्ध)

1.9 सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अर्थ समझाइये और इसके स्वरूप की व्याख्या कीजिये ।
2. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध में क्या अंतर है? अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र की विवेचना कीजिये ।

3. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप और क्षेत्र की चर्चा कीजिये ।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का क्या अर्थ है?

2. कोई ऐसे दो कारक बताइये जिन्होंने 1945 के बाद के समयकाल में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप में बदलाव ला दिया है?

3. अन्तर्राष्ट्रीय संगठन किसे कहते हैं ?

4. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में आने वाले किन्हीं दो विषयों के नाम लिखिये?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति सम्बंन्धित है -

   (क) राज्यों से

   (ख) व्यक्तियों से

   (ग) राज्यों और व्यक्तियों दोनों से

   (घ) अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों से

2. निम्नांकित में से किस विद्वान ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को विदेश नीतियों के मध्य अन्तः क्रिया माना है?

   (क) मार्गेन्थाऊ

   (ख) श्लीचर

   (ग) फेलिक ग्रॉस

   (घ) पामर-परकिन्स

3. "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति राष्ट्रों के राजनीतिक सम्बन्ध और शान्ति की समस्या का अध्ययन है।" यह कथन निम्नांकित में से किसका है -

   (क) चार्ल्स श्लीचर

   (ख) हैन्स मार्गेन्थाउ

   (ग) पामर एवं पर्किन्स

   (घ) हार्ट मैन

4. निम्नांकित में से क्या अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विषय क्षेत्र में नहीं आता -

   (क) अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का अध्ययन

   (ख) विदेश नीतियों का अध्ययन

(ग) सामाजिक व्यवस्था का अध्ययन

(घ) क्षेत्रीय संगठनों का अध्ययन

1.10 प्रश्नोत्तर

1. क

2. ग

3. ख

4. ग

इकाई -2 : अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के उपागम

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 परम्परागत ऐतिहासिक संस्थात्मक उपागम

2.3 आदर्शवादी उपागम

2.4 यथार्थवादी उपागम

2.5 वैज्ञानिक/व्यवहारवादी उपागम

2.6 सारांश

2.7 संदर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

2.8 सम्बन्धित प्रश्न

2.9 प्रश्नोत्तर

2.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य विद्यार्थियों को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के विभिन्न उपागमों और उनके संभावित लाभों और हानियों से अवगत कराना है।

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आपः

- अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के विभिन्न उपागमों का विवेचन कर सकेंगे ।
- विभिन्न उपागमों की दुर्बलताओं से अवगत हो सकेंगे ।
- एक समन्वित उपागम से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन कर सकेंगे ।

2.1 प्रस्तावना

जार्ज सिम्पसन के अनुसार "उपागम का आशय उस मापदण्ड से है जिसका प्रयोग अनुसंधान के दौरान समस्या और आंकड़े के चयन के लिये किया जाता है । इसका सिद्धान्त से नजदीकी सम्बन्ध है। प्रत्येक विषय के अनेक उपागम होते हैं या हो सकते हैं । शोधकर्ता सिद्धान्त निर्माण के लिये इन्हीं उपागमों का प्रयोग करते हैं । अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के संदर्भ में भी यही सही है।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से अब तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के अनेक उपागम विकसित हो चुके हैं। **बर्टन सैपिन** के अनुसार अब तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के कुल 27 उपागम विकसित किये जा चुके हैं जबकि क्विन्सी राइट के अनुसार कुल

उपागम 23 और पामर परकिन्स के अनुसार 7 हैं । इसके पूर्व के समयकाल में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के लिए ऐतिहासिक और संस्थात्मक उपागमों का प्रयोग किया जता था।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के आदर्शवादी और यथार्थवादी उपागम पूर्ण उपागम माने जाते हैं क्योंकि ये अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की व्याख्या उसकी समग्रता में करते हैं । जबकि दूसरे उपागम यथा निर्णय निर्माण उपागम, खेल उपागम, सौदेबाजी उपागम आदि आंशिक उपागम माने जाते हैं।

आदर्शवादी उपागम 1920 और 1930 के दशक में विशेष चर्चित रहा। यह उपागम मनुष्य को एक विवेकशील और स्वाभाविक रूप से एक सामाजिक प्राणी मानता है। यह उपागम बल, संघर्ष और युद्ध का निषेध करता है। इसकी यह मान्यता है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि और अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को मजबूत करके एक शांतिपूर्ण विश्व की स्थापना की जा सकती है।

इसके विपरीत यथार्थवाद ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को 'शक्ति के लिये संघर्ष' के रूप में परिभाषित किया। इस दृष्टिकोण में मनुष्य को स्वाभाव से स्वार्थी माना जाता है । राष्ट्रहित में अभिवृद्धि राष्ट्र का धर्म है, इसकी प्राप्ति के लिये शक्ति का अधिकतम संचयन राष्ट्र की आवश्यकता है।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के समयकाल में वैज्ञानिकता के प्रभाव के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के लिये अनेक आधुनिक उपागम विकसित हुए। इन्हें सम्मिलित रूप से वैज्ञानिक या आधुनिक या व्यावहारवादी उपागम कहा जाता है । व्यवस्था उपागम निर्णय निर्माण उपागम , खेल उपागम तथा सौदेबाजी उपागम मुख्य रूप से इस श्रेणी में रखा जा सकता है।

2.2 परम्परागत ऐतिहासिक- संस्थात्मक उपागम

ऐतिहासिक और संस्थात्मक उपागम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के परम्परागत उपागमों में रखे जाते हैं । ये दोनां ही उपागम 18-19वीं शताब्दी और 20वीं शताब्दी के पहले दो दशकों में ज्यादा प्रचलित रहे। इस दौरान प्रसिद्ध विश्वविद्यालयों में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रोफेसर पद पर इतिहासकारों की नियुक्ति भी इसी प्रवृत्ति की द्योतक हैं ।

ऐतिहासिक उपागम को 'कूटनीतिक इतिहास उपागम' (डिप्लोमेटिक हिस्ट्री) भी कहा जाता है। इस उपागम का मूल मन्तव्य यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के वर्तमान स्वरूप को समझने के लिये इसके भूत का ज्ञान होना स्वाभाविक है। इतिहास के पास घटनाओं का प्रचुर संकलन है जिसकी मदद से वर्तमान की अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का निदर्शन और विश्लेषण किया जा सकता है। यह उपागम मानता है कि वर्तमान का आगमन विगत के गर्भ से होता है। 'इतिहास अपने को दोहराता है' यह एक प्रचलित उक्ति है। इतिहास भूतकाल में शासकों द्वारा अपनाई गई नीतियों उनके परिणामों की विस्तारः से चर्चा करता है। इनसे वर्तमान काल में किसी नीति का निर्माण करने में आसानी रहती हैं ।

ऐतिहासिक उपागम का प्रयोग करने वाला अध्येता अपने वर्तमान के अध्ययन के लिये भूतकाल की घटनाओं को आधार बनाता है।

मूल्यांकन : ऐतिहासिक उपागम की मूल धारणा में कुछ सत्य का अंश अवश्य है कि भूतकाल की घटनाओं अथवा नीतियों के अध्ययन के आधार पर वर्तमान को घटनाओं का बेहतर विश्लेषण हो सकता है। इसी प्रकार किसी नयी नीति को अपनाने के पूर्व यदि भूतकाल में उस जैसी किसी नीति और उसके परिणामों का अध्ययन कर लिया जाय तो नीति की असफलता की संभावना न्यूनतम हो जाती है।

परन्तु यह उपागम पूर्ण रूप से संगत नहीं माना जा सकता ।यह सत्य है कि इतिहास अपने को दोहराता है। परन्तु पूरा इतिहास अपने को कभी नहीं दोहराता । इस उपागम का प्रयोग करने में दूसरी दिक्कत यह है कि युग और परिस्थितियों में अंतर आता रहा है। व्यवस्था के मूल्य बदलते रहते हैं । ऐसी स्थिति में बहुत निश्चितता पूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि भूतकाल की घटना की वैसी ही पुनरावृत्ति होगी कि नहीं ।

संस्थात्मक उपागम (इन्स्टीट्यूशनल एप्रोच) एक और परम्परागत उपागम है जो दोनों विश्व युद्धों के बीच के समयकाल में विशेष लोकप्रिय हुआ । यह प्रथम विश्व युद्ध के बाद तुरंत जन्मे राजनीतिक आदर्शवाद से उदभूत हुआ। राजनीतिक आदर्शवाद ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शांति प्रगति और विकास के मूल्यों पर विशेष बल दिया । इसके राजनीतिक आदर्शवादियों ने तीन बातों पर विशेष जोर दिया -

1. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सामञ्जस्य और समन्वय की स्थापना के लिये अधिराष्ट्रीय (सुपरानेशनल) संस्थाओं की स्थापना की जाय ।

2. युद्ध से छूटकारा पाने के लिये और यदि युद्ध छिड़ ही जाय तो युद्ध के विध्वंश को कम करने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय कानुन का निर्माण किया जाय; तथा

3. शान्ति और व्यवस्था की जड़ें मजबूत करने के लिये निःशस्त्रीकरण तथा शस्त्र-नियंत्रण के द्वारा हथियारों को समाप्त किया जाय ।

सन 1920 में इसी आदर्शवादी प्रभाव के अन्तर्गत राष्ट्रसंघ (लीग आफ नेशन्स) की स्थापना हुई । 1920 और 1930 के पूरे दशक में यह विचार छाया रहा कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून और अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के माध्यम से राष्ट्रों के मध्य राजनीति का ज्यादा बेहतर नियमन शांति की दिशा में किया जा सकता है। इसी उपागम को संस्थात्मक उपागम कहा जाता है।

समीक्षा : ऐतिहासिक उपागम की भाँति संस्थात्मक की भी सीमित उपयोगिता है । इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि राष्ट्रों के मध्य अन्तःक्रिया का अधिकांश भाग अन्तर्राष्ट्रीय संगठन से बाहर सम्पन्न होता है। शक्ति सम्बन्धों का निर्धारण राष्ट्रों की क्षमता से होता है। जिसका अन्तर्राष्ट्रीय संगठन या अन्तर्राष्ट्रीय कानून से कोई खास सम्बन्ध नहीं होता । शक्ति संरचना का **स्वतंत्र अध्यन होना चाहिए न कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन या कानून के परिप्रेक्ष्य में**

2.3 आदर्शवादी उपागम

आदर्शवादी उपागम के मूल में इसकी मानव स्वभाव की धारणा है यह उपागम मनुष्य को मूलतः विवेकशील, शांतिप्रिय और सामाजिक प्राणी मानता है । इसलिए इसकी मान्यता है कि राष्ट्रों के मध्य सामञ्जस्यपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना की जा सकती है। और उनके मध्य विवादों को शांतिपूर्ण तरीके से सुलझाया जा सकता है।

आदर्शवादी उपागम से जुड़े मुख्य विद्वान हैं : बर्ट्रेण्ड रसेल, बुडरो विल्सन, हक्सले, विलियम लैड, रिचर्ड कालेन, मार्गरेट मीड आदि ।

आदर्शवादी उपागम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को संघर्ष की प्रक्रिया नहीं वरन सामञ्जस्य की प्रक्रिया मानता है। यह युद्ध का विरोधी है और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को शान्ति, सहयोग और नैतिक मूल्यों पर आधारित करने का पक्षधर है । **बर्टेण्ड रसेल** का प्रसिद्ध कथन है : "प्रसन्नता से भरे संसार की प्राप्ति मनुष्य के लिये असम्भव नहीं है।"

आदर्शवादी उपागम आदर्श संसार की रचना के लिये नैतिकता और नैतिक मूल्यों का आह्वान करता है। इस उपागम का मानना है कि नैतिक मूल्यों को अपने व्यवहार में अपना कर राष्ट्र न केवल अपना विकास कर सकते हैं वरन शेष व्रिश्व के विकास में भी मदद कर सकते हैं। यही नहीं प्रकारान्तर से इसके माध्यम से विश्व से युद्ध शोषण और संघर्ष को भी मिटाया जा सकता है।

2.4 यथार्थवादी उपागम

यथार्थवादी उपागम 18वीं और 19वीं शताब्दी में काफी प्रचलन में रहा। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद यह पुनः चर्चा में आया। इस उपागम से जुड़े प्रसिद्ध विद्वान हैं : रोनाल्ड नीबर, निकोलस स्पाइकमैन, आर्नाल्ड बुल्फर्स, केनिथ टाम्सन, जार्ज एफ. केनन, हेन्स जे. मार्गेन्थाक तथा फ्रेडरिक शुमैन ।

इस उपागम का प्रतिनिधिकारी विचारक हैन्स जेत्र मार्गेन्थाऊ को माना जाता ह। जिसने अपनी पुस्तक 'पॉलिटिक्स अमंग नेशन्स' में इसकी विधिवत् व्याख्या की । मार्गेन्थाऊ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को शक्ति के लिये संघर्ष के रूप में देखता है । उसके लिये विदेश नीति "शक्ति के संदर्भ में परिभाषित राष्ट्रीय हित है।" सन 1945 के बाद ई.एच्र. कार, जार्ज श्वार्जनबर्गर तथा क्विन्सी राइट जैसे विद्वानों ने भी यथार्थवादी उपागम का समर्थन किया ।

यथार्थवाद की आधारभूत मान्यताएं निम्नांकित हैं :

1. मानव स्वभाव से एक स्वार्थी प्राणी है और चूँकि सभी प्रकार की राजनीति की शुरूआत मानव स्वभाव से होती है। अतएव अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति भी शक्ति के लिये संघर्ष है ।
2. राष्ट्र हमेशा अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के लिये प्रयासरत रहते हैं ।
3. राष्ट्रीय हित स्थिर नहीं वरन् गतिशील होते हैं । इनके निर्धारण में अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था

के पर्यावरण की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

4. किसी राष्ट्र के व्यवहार का अध्ययन सार्वभौमिक नैतिक सिद्धान्तों के आधार पर नहीं किया जाना चाहिये ।

5. किसी राष्ट्र की नैतिक आकांक्षाओं और विश्व के सार्वभौमिक नैतिक सिद्धान्तों के मध्य किसी साम्य की तलाश नहीं की जानी चाहिए ।

6. शांति की रक्षा शक्ति के समुचित प्रबन्ध द्वारा की जा सकती है। इस हेतु कुछ उपाय है। शक्ति संतुलन , सामूहिक सुरक्षा, विश्व सरकार , कूटनीति, गठबंधन आदि।

यथार्थवाद की यह मूल मान्यता है कि विश्व विरोधकारी हितों की जंग है। स्वार्थ और शक्ति की आकांक्षा इस संघर्ष के कारण हैं शक्ति की आकांक्षा की कोई सीमा नहीं होती । यही कारण है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति हमेशा संघर्षमय रहती है।

2.5 वैज्ञानिक / व्यवहारवादी उपागम

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के वैज्ञानिक या व्यवहारवादी उपागम के अन्तर्गत वे सभी आधुनिक उपागम आ जाते हैं जो अनुभविक अध्ययन पर आधारित हैं । ये सभी उपागम राज्यों के व्यवहार के बारे में किसी प्रकार का सामान्यीकरण करने के लिये परिमाणन (क्वाण्टीफिकेशन) और सांख्यिकीय विश्लेषण का प्रयोग करते हैं। ये सभी उपागम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के लिए वैज्ञानिक विधियों के प्रयोग की अनुशंसा करते हैं ।

इस श्रेणी के प्रमुख उपागमों की चर्चा नीचे की जाती है।

1. **व्यवस्था उपागम** (सिस्टम्स एप्रोच) - यह सिद्धान्त सन 1950 के दशक में प्रचलित हुआ। इसकी आधारभूत अवधारणा यह तत्व है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में एक व्यवस्था है । राष्ट्र अन्य राष्ट्रों के साथ बहु आयामीय अन्तः क्रिया करते हैं। प्रत्येक राष्ट्र किसी न किसी मात्रा में अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में सहभागिता करता है। मैक्लीलैण्ड ने एक राष्ट्र के व्यवहार को 'एक हाथ से लेने और एक हाथ से देने' के रूप में व्याख्यायित किया है।

यह उपागम राष्ट्रों के व्यवहार के मध्य अन्तः क्रिया पर बल देता है। इसका यह मानना है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में राष्ट्रों के व्यवहार का सामान्यीकरण संभव है।

व्यवस्था सिद्धान्त की केन्द्रीय अवधारणा 'अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था' (इन्टरनेशनल सिस्टम है) **मार्टन कैप्लान** के अनुसार, अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था एक विश्लेषणात्मक इकाई है जिसके माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय कर्ताओं के व्यवहार और उनकी नीतियों के नियमतकारी, समाकलनात्मक (इन्टीग्रेटिव) और विघटनकारी नीतियों का अध्ययन किया जा सकता है।

इस उपागम से जुड़े प्रमुख नाम हैं : मॉर्टन कैप्लान, रिचर्ड रोजीकैन्सेज, जॉन बर्टन, चार्ल्स मैक्लीलैण्ड, जे. डेविड सिंगर, कार्ल ड्यूच, के. जे. होल्सटी, जार्ज माडेलस्की, स्टेनली हॉफमैन, केनिथ बोल्डिंग आदि ।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में व्यवस्था सिद्धान्त का प्रतिनिधिकारी विचारक मॉर्टन कैप्लन है। उसने अपनी पुस्तक 'सिस्टम्स एण्ड प्रासेस इन इन्टरनेशनल पालिटिक्स' (1957) में 6 प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थाओं की चर्चा की है:

1. शक्ति संतुलन व्यवस्था
2. शिथिल द्वि-ध्रुवीय व्यवस्था
3. कसी द्वि-ध्रुवीय व्यवस्था
4. सार्वभौमिक व्यवस्था
5. पद-सोपानीय व्यवस्था
6. इकाई निषेधाधिकार व्यवस्था

कैप्लन द्वारा प्रतिपादित उपरोक्त व्यवस्थाओं में से पहली दो व्यवस्थाएं वास्तविक जगत से सम्बन्धित हैं। तीसरी व्यवस्था की संभावना नहीं के बराबर हैं क्योंकि अब द्वि ध्रुवीय व्यवस्था के स्थान पर एक ध्रुवीय व्यवस्था की स्थापना हो चुकी है। चौथी व्यवस्था के बारे में यह कहा जा सकता है कि आंशिक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था विकसित हो रही है। सार्वभौमिक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था अभी सुदूर लक्ष्य है। पांचवी व्यवस्था की अभी कोई संभावना नहीं है। परमाणु अप्रसार की दिशा में राष्ट्रों द्वारा निरंतर किये जा रहे प्रयासों के चलते छठी व्यवस्था की कोई संभावना नहीं दिखती ।

कैप्लन के व्यवस्था सिद्धान्त का सीमित महत्व है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का वही सिद्धान्त प्रासंगिक हो सकता है जो मूल्य निर्माण (वैल्यू फार्मेशन) से संबंधित हो । कैप्लन का सिद्धान्त ऐसे मूल्यों का निर्माण नहीं कर पाता जिससे राज्यों के व्यवहार को व्याख्यायित किया जा सकता है।

2. **निर्णय निर्माण उपागम** (डिसीजन मेकिंग एप्रोच) - यह उपागम 1950 के दशक में रिचर्ड स्नाइडर, एच. डब्ल्यू. ब्रुक और बर्टन सैपिन द्वारा विकसित किया गया । अपनी पुस्तक 'डिसीजन मेकिंग एज एन एप्रोच टू द स्टडी आफ इण्टरनेशनल पालिटिक्स' (1954) में इन विद्वानों ने राष्ट्रों के व्यवहार को व्याख्यायित करने के लिये राजनीतिक कर्ता द्वारा लिये जाने वाले निर्णयों को आधार बनाया। ये राज्य को निर्णय निर्माणकारी इकाई के रूप में परिभाषित करते हैं।

निर्णय लेने वाले किसी विशेष परिस्थिति में कोई विशेष निर्णय ही क्यों लेते हैं? मुख्य रूप से इस संदर्भ में दो प्रकार के दृष्टिकोण इस उपागम से जुड़े सिद्धान्तकारों द्वारा रखे गये हैं **हैरोल्ड** और **मार्गरेट स्प्राउट** के अनुसार निर्णय निर्माण में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका पर्यावरण या वातावरण की होती है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का यह पर्यावरण ही निर्णय निर्माण को सर्वाधिक प्रमाणित करता है। इस पर्यावरण के भी दो भाग होते हैं । एक भाग वह होता है जिसे निर्णय निर्माणकर्ता अपनी दूर दृष्टि से देख सकता है।और उसे ध्यान में रख कर निर्णय ले सकता

है। परन्तु वातावरण या पर्यावरण का एक भाग ऐसा भी होता है।जो उनकी समझ और दृष्टि से परे होता है। इस दृष्टिकोण के प्रतिपादकों का मत है कि पर्यावरण के इन दोनों भागों की तुलना करके निर्णय निर्माणकर्ता द्वारा लिए गये निर्णयों का परीक्षण किया जा सकता है। दूसरा दृष्टिकोण **एलेक्जेण्डर** और **जूलियट जार्ज** का है अपनी पुस्तक ''वुडरो विल्सन एण्ड कर्नल हाउस'' में इन विद्वानों ने यह प्रतिपादित किया है कि किसी भी निर्णय में पर्यावरण से कहीं अधिक निर्णय निर्माण कर्ता के अपने व्यक्तित्व का योगदान रहता है । इन्होंने अमरीकी राष्ट्रपति वुडरो विल्सन के जीवन और व्यक्तित्व का अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला कि वुडरो विल्सन ने अपने कमजोर व्यक्तित्व के कारण ही ऐसी नीतियाँ अपनाई जो अमरीका के लिये आत्मघाती सिद्ध हुयी ।

निर्णय निर्माण उपागम के अन्तर्गत कुछ और दृष्टिकोण भी उल्लेखनीय हैं । **बर्नार्ड कोहन** ने उन कर्ताओं के अध्ययन पर बल दिया है जो विदेश नीति की निर्माण प्रक्रिया में सहभागी बनते हैं । कोहन ने विदेश नीति के निर्माण में पाँच तत्वों की मुख्य भूमिका मानी है : जनमत का सामान्य स्वरूप, राजनीतिक हित समूह, जन संचार के माध्यम, कार्यपालिका के विशिष्ट अभिकरण और व्यवस्थापिका की विशिष्ट समितियाँ। इसी प्रकार **रोजर हिल्समैन** ने निर्णयों के परीक्षण में सरकार के अंगों कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के मध्य अन्तःक्रिया को प्रमुख तत्व माना है । **जेम्स राबिन्सन** का मानना है कि व्यवस्थापिका की आंतरिक प्रक्रिया विदेश नीति का वास्तविक स्वरूप निर्धारित करती है ।

अन्य आंशिक उपागमों की भाँति, निर्णय निर्माण उपागम में भी कुछ त्रुटियाँ हैं । सर्वप्रथम यह उपागम अनिश्चयता पर आधारित है । यह स्पष्ट नहीं कर पाता कि किस एक तत्व का निर्णय निर्माण में सर्वाधिक योगदान होता है? दूसरे, यह उपागम मूल्य उन्मुख (वैल्यू ओरियेण्टेड) नहीं है क्योंकि यह किसी भी निर्णय के गुण और दोष पर विचार नहीं करता । अंतिम बात यह कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का निर्माण केवल चैतन्य और सोच समझ कर उठाये गये कदमों से नहीं होता; इसके कुछ विकास त्वरित होते हैं ।

3. **खेल उपागम** (गेम एप्रोच) - यह उपागम गणितीय प्रतिमानों (माडेल्स) को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के निमित्त प्रयोग करता है। इस उपागम को गणितज्ञों और अर्थशास्त्रियों द्वारा विशेष प्रश्रय दिया गया । इस उपागम से जुड़े प्रमुख विद्वान हैं : मार्टिन शूबिक, आस्कर मार्गन्सटीन और कार्ल ड्यूश ।

खेल उपागम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को 'रणनीति के खेल' (गेम आफ स्ट्रेटजी) मानता है। यह उपागम खेल के कुछ प्रकारों की चर्चा करता है । मूल खेल को इन्होंने 'टू परसन जीरो-सम गेम' कहा है। इसमें एक की विजय दूसरे की पराजय होती है। 'नान जीरो एम' खेल में ऐसा नहीं होता। इसमें दोनों की विजय हो सकती है।

खेल सिद्धान्त की पाँच मूल संकल्पनाएं हैं : (क) संघर्ष अर्थात अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में राष्ट्र संघर्षरत है, (ख) खेल के नियम अर्थात अन्य खेलों की भाँति ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति

के खेल के कुछ नियम होते हैं। (ग) तार्किक व्यवहार अर्थात खेल में प्रत्येक राष्ट तार्किक व्यवहार करता है। (घ) रणनीति अर्थात विपक्षी के मन्तव्यों को पहले से जान कर तदनुसार तैयारी करना। तथा (च) परिणाम जिसका आशय संभावित लाभ और हानि से होता है।

4. **सौदेबाजी उपागम** (बारगेनिंग एप्रोच) - **जोसेफ फ्रैन्केल** ने लिखा है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में जब खेल सिद्धान्त लागू किया जाता है। तो सौदेबाजी के सिद्धान्त की उत्पत्ति होती है। यह सिद्धान्त इस धारणा पर आधारित है कि अन्तर्राष्ट्रीय वार्ताएं अन्तर्राष्टीय राजनीति का आधार हैं।

इस उपागम से जुड़े मुख्य विद्वान हैं : जे. एफ. नैश, टामस सी. सेलिंग, रोजर फिशर, आर्थार ली बर्न्स तथा जोसेफ नोगी । टामस शेलिंग ने 'अप्रत्यक्ष सौदेबाजी' (टैसिट बारगेनिंग), रोजर फिशर ने 'स्थिर सौदेबाजी' (कन्स्टैन्ट बारगेनिंग) आर्थर ली बर्न्स ने 'परिवर्तनशील सौदेबाजी' (चेंजिंग बारगेनिंग) और नोगी ने 'अर्ध वार्ता' (क्वासी निगोसियेशन) का माडल प्रस्तुत किया है।

इस उपागम की सबसे बड़ी कमी यह है कि इससे अन्तर्राष्ट्रीय या द्विपक्षीय वार्ताओं का तो अध्ययन किया जा सकता परन्तु इससे पूरी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन संभव नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का एक समुच्चय है। दूसरी बात यह कि इसका प्रयोग सम्पूर्ण संघर्ष की स्थिति जिसमें कुछ भी सामान्य हित न हो में भी संभव नहीं है जहाँ वार्ता की कोई संभावना नहीं रह जाती। अन्ततः यह सिद्धान्त मात्र वार्ता के स्वरूप और परिणामों से सम्बन्धित है। निर्णयकारों के दृष्टिकोण और मनोभाव से कोई सम्बन्ध नहीं है।

2.6 सारांश

इस इकाई में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के निमित्त विकसित प्रमुख उपागमों का वर्णन किया गया है।

उपागम का आशय उस मापदण्ड से है जिसका प्रयोग अनुसंधान के दौरान समस्या और आंकड़े के चयन के लिये किया जाता है। प्रत्येक विषय के अपने निश्चित उपागम होते हैं । यही बात अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के बारे में भी सही है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के कुछ प्रमुख उपागम हैं : परम्परागत ऐतिहासिक संस्थात्मक उपागम, आदर्शवादी उपागम, यथार्थवादी उपागम तथा वैज्ञानिक/व्यवहरवादी उपागम ।

ऐतिहासिक संस्थात्मक उपागम 18वीं और 19वीं शताब्दी और 20वीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों में विशेष लोकप्रिय रहा । ऐतिहासिक उपागम वर्तमान की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का विश्लेषण भूतकाल के घटनाक्रम के आधार पर करना चाहता है। संस्थात्मक उपागम दोनों विश्व युद्धों के बीच के समयकाल में विशेष लोकप्रिय हुआ । इस उपागम में अन्तर्राष्ट्रीय संगठन और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के माध्यम से विश्व शान्ति करने पर विशेष बल दिया गया ।

आदर्शवादी उपागम 20वीं शताब्दी के प्रारम्भिक चार दशकों में विशेष चर्चित रहा। यह उपागम मनुष्य को एक विवेकशील प्राणी मानता है और तदनुसार इसकी यह मान्यता है कि राष्ट्रों के मध्य सामञ्जस्य पूर्ण सम्बन्धों की स्थापना की जा सकती है।

यथार्थवादी उपागम 18वीं और 19वीं में लोकप्रिय रहा । द्वितीय विश्व युद्ध के बाद यह पुनः चर्चा में आया। हैन्स जे.मार्गेन्थाऊ को इस उपागम का प्रतिनिधिकारी विचारक माना जाता है। इस उपागम की यह मान्यता है कि मनुष्य स्वभाव से 'स्वार्थी होता है। अतएव अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अन्य सभी राजनीति की भाँति, शक्ति के लिये संघर्ष है। यह दृष्टिकोण राष्ट्रीय हित, शक्ति और संघर्ष को सर्वाधिक महत्व देता है और यह मानता है कि 'शक्ति के संदर्भ में परिभाषित राष्ट्रीय हित ही विदेश नीति है।'

1945 के बाद समयकाल में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अनेक व्यवहारवादी उपागम विकसित हुए। ये सभी उपागम वैज्ञानिक भी कहे जाते हैं। ये अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में राज्यों के व्यवहार के बारे में सामान्यीकरण करने के लिये परिमाणन और सांख्यकीय विश्लेषण का प्रयोग करते हैं। व्यवस्था उपागम राष्ट्रों के मध्य अन्तः क्रिया पर बल देता है। निर्णय निर्माण उपागम निर्णय निर्माण कर्ताओं द्वारा लिये गये निर्णयों का अध्ययन करके अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को व्याख्यायित करना चाहता है। इस उपागम से जुड़े कुछ विद्वानों का मत है कि निर्णय निर्माण में सबसे प्रमुख भूमिका पर्यावरण या वातावरण की होती है। कुछ दूसरे विद्वानों का मत है कि निर्णय निर्माण में सबसे प्रमुख भूमिका निर्णय लेने वाले के व्यक्तिव की होती है। खेल उपागम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को 'रणनीति का खेल' मानता है। सौदेबाजी का सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय वार्ताओं के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की व्याख्या का प्रयास करता है ।

2.7 संदर्भ ग्रन्थ

1.	Stanley Hoffman	Conflicting Approaches to the Study of International Relations.
2.	Trevor Taylor	Theories of International Relations.
3.	Mahendra Kumar	Theoretical Aspects of International Relations (Hindi Edition also)
4.	Prakash Chandra	International Politics
5.	बाबू लाल फाड़िया	अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति

2.8 सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के परम्परागत उपागम की चर्चा कीजिये ।

3. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के व्यवहारवादी उपागमों की विवेचना कीजिये।

4. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के विभिन्न उपागमों की संक्षिप्त चर्चा करते हुये वह बताइये कि आप इनमें से किसे सर्वश्रेष्ठ मानते हैं और क्यों ?

5. किन्हीं दो पर टिप्पणी लिखिए -

(क) निर्णय निर्माण उपागम

(ख) व्यवस्था उपागम

(ग) खेल उपागम

(घ) सौदेबाजी उपागम

लधु उत्तरीय प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के किन्हीं दो उपागमों के नाम लिखिए ।

2. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के किन उपागमों को पूर्ण उपागम माना जाता है?

3. कौन सा उपागम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को नैतिक मूल्यों पर आधारित करना चाहता है।

4. यथार्थवाद की मूल मान्यता क्या है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में व्यवस्था उपागम को विकसित करने का श्रेय निम्नांकित में से किये दिया जाता है?

(क) मॉर्टन कैपलन

(ख) हैरोल्ड स्प्राउट

(ग) टॉमस शेलिंग

(घ) जेम्स राबिन्सन

2. 'बुडरो विल्सन एण्ड कर्नल हाउस' के लेखक हैं -

(क) रोजर हिल्समैन

(ख) एलेक्जेण्डर एवं जूलियट जार्ज

(ग) वर्नार्ड कोहेन

(घ) हैरोल्ड और मार्गरेट स्प्राउट

3. मनुष्य मूलतः एक स्वार्थी प्राणी है। यह निम्नांकित में से किए उपागम का आधार है।

(क) आदर्शवादी

(ख) ऐतिहासिक

(ग) संस्थात्मक

(घ) यथार्थवादी

4. निम्नांकित में से कौन सा उपागम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में अन्तर्राष्ट्रीय कानून और अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को विशेष महत्व देता है।

(क) आदर्शवादी

(ख) यथार्थवादी

(ग) ऐतिहासिक

(घ) व्यवस्था

2.9 प्रश्नोत्तर

1. क
2. ख
3. घ
4. क

इकाई -3 : अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन का शक्ति उपागम

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 शक्ति उपागम परिचयात्मक

3.3 शक्ति उपागम की मूल मान्यताएँ

3.4 मार्गेन्थाऊ और शक्ति उपागम

3.5 शक्ति उपागम से जुड़े कुछ प्रमुख समकालीन विचारक

3.6 शक्ति उपागम की समालोचना

3.7 सारांश

3.8 संदर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

3.9 सम्बन्धित प्रश्न

3.10 प्रश्नोत्तर

3.0 उद्देश्य

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन का शक्ति उपागम द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के उपागमों में सर्वाधिक चर्चित और प्रासंगिक उपागम रहा है।

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आपः

- शक्ति उपागम की आधारभूत मान्यताओं - राष्ट्रीय हित, शक्ति और संघर्ष - से अवगत हो सकेंगे ।
- शक्ति उपागम से जुड़े प्रमुख विद्वानों के विचारों से अवगत हो सकेंगे ।

3.1 प्रस्तावना

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन का शक्ति उपागम राष्ट्र की सुरक्षा के परिप्रेक्ष्य में राष्ट्र की क्षमता या शक्ति पर सर्वाधिक बल देता है। इस सिद्धान्त से जुड़े प्रसिद्ध विद्वान **हैन्स जे. मार्गेन्थाऊ** ने लिखा है, "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति सभी राजनीति की भाँति शक्ति के लिये एक संघर्ष है । अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अन्तिम उद्देश्य कुछ भी हो। इसका त्वरित उद्देश्य शक्ति होता है। राजनीतिज्ञ और सामान्य जन अन्ततः स्वतंत्रता, सुरक्षा, खुशहाली या स्वयं शक्ति की कामना कर सकते हैं। वे अपने लक्ष्य की व्याख्या धार्मिक, दार्शनिक, आर्थिक या सामाजिक आदर्श के संदर्भ में कर सकते हैं। वे यह आशा कर सकते हैं कि यह आदर्श अपनी किसी

आंतरिक शक्ति से अथवा दैवी हस्तक्षेप से अथवा प्राकृतिक विकास से प्राप्त किया जा सकता है। वे इसकी प्राप्ति के लिये गैर राजनीतिक उपाय जैसे अन्य राष्ट्रों के साथ तकनीकी सहयोग अथवा अन्तर्राष्ट्रीय संगसठन का प्रयोग भी कर सकते हैं। यथार्थवादी उपागम पूरी 18वीं और 19वीं शताब्दी में प्रचलित रहा । 20वीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों में आदर्श वादी उपागम कहीं अधिक लोकप्रिय रहा परन्तु द्वितीय विश्व युद्ध के बाद यह पुनः तेजी से लोकप्रिय हुआ । अपने नये रूप में जन्में शक्ति उपागम का प्रवर्तक **रेनाल्ड निबुर** था। उसके अनुयायियों में प्रमुख हैं: केनिथ टाम्सन, जार्ज एफ. केनन, हैन्स जे. मार्गेन्थाऊ , आर्नाल्ड बुल्फर्स, फ्रेडरिक शुमैन, स्पाइक मैन आदि। इनमें से मार्गेन्थाऊ को शक्ति सिद्धान्त का प्रतिनिधिकारी विचारक समझा जाता है। मार्गेन्थाऊ ने ही शक्ति उपागम को सैद्धान्तिक आधार प्रदान किया ।

मार्गेन्थाऊ की यह मान्यता है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के केन्द्र में शक्ति है । मार्गेन्थाऊ ने शक्ति को अन्य मनुष्यों के मस्तिष्क और कृत्यों पर नियंत्रण के रूप में परिभाषित किया है।

3.2 शक्ति उपागम - परिचयात्मक

मूलतः शक्ति उपागम वह उपागम है जो शक्ति को पूरी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का आधार मानता है। इस सिद्धान्त के मूल मानव-स्वभाव विषयक इसकी धारणा हैं जिसके अनुसार मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी, धूर्त, संघर्षशील और प्रतिद्वन्दी है। मानव स्वभाव की नकारात्मक धारणा से प्रारम्भ करके यह उपागम मानता है कि यह संसार विरोधकारी हितों का समुच्चय है। संघर्ष इसका पर्यावरण है। इस संसार में हितों के संघर्ष को रोक पाना असंभव है। नैतिक सिद्धान्तों को व्यवहार में पूर्णरूपेण लागू करना असम्भव है। अधिक से अधिक यह हो सकता है कि इन विरोधी हितों में सामञ्जस्य बैठाने की कोशिश की जाय।

शक्ति उपागम उस इकाई पर अपने को केन्द्रित करता है जो सुरक्षा और शक्ति के लिये प्रबल इच्छा से सम्बन्धित है। यही नहीं, यह इनके संभावित परिणामों की भी चर्चा करता है। पहली बार इसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति इटली के यथार्थवादी चिन्तक मैक्यावेली (1469-1527) की रचनाओं में मिलती हैं। मैक्यावेली लिखता है , ". . . . इस लिए राजकुमार (राजा) का उद्देश्य राज्य को व्यवस्थित रखना और विजय करना होना चाहिए, साधन हमेशा सम्मानजनक समझे जायेंगे। और हर किसी द्वारा उनका समादार किया जायेगा।" अपनी पुस्तक 'दि प्रिन्स' में अन्यत्र उसने लिखा है "जहाँ देश की सुरक्षा खतरे में हो, इस बात का कोई विचार नहीं रह जाता कि क्या न्यायसंगत है या दयालुता है अथवा निर्दयता है अथवा सम्मानजनक अथवा शर्मनाक हैं । ऐसे अवसर पर मनुष्य को सिर्फ वही मार्ग अपनाना चाहिये जिससे देश का जीवन बच सके। और उसकी स्वतंत्रता सुरक्षित रह सके।"

टामस हॉब्स (1588-1679 ई.) को सही अर्थों में शक्ति उपागम का संस्थापक माना जाता है। उसकी कृति 'लेवियाथन' को शक्ति की राजनीति पर महान ग्रन्थ माना जाता है। लेवियाथन में हाब्स ने एक स्थान पर लिखा है, "... मेरा मानना है कि सभी मनुष्यों में शक्ति के लिए एक निरंतर और बेचैनी भरी इच्छा होती है। इसका कारण हमेशा यह नहीं होता कि

मनुष्य को पहले की तुलना में किसी गहरी प्रसन्नता की आशा हो अथवा यह कि वह औसत से सन्तुष्ट नहीं है वरन इस लिए कि उसे अपनी वर्तमान शक्ति, जो उसके जीवन को भली भाँति संचालित करने में सक्षम है को सुरक्षित और सुनिश्चित करने के लिए और अधिक शक्ति चाहिए।'' शक्ति राजनीति का लौह नियम शक्ति उपागम का आधार है और टामस हाब्स को सर्वमान्य रूप से इस उपागम का सर्वश्रेष्ठ व्याख्याकार माना जाता है । इस संदर्भ में हाब्स के विचारों को व्याख्यायित करते हुये ऑकशॉट ने लिखा है, ''.... दर्शन का अंतिम लक्ष्य शक्ति है। मनुष्य शक्तियों का समुच्चय है, इच्छा शक्ति के लिये इच्छा है, जीवन शक्ति का कभी न खत्म होने वाला व्यवहार है और मृत्यु शक्ति का पूर्ण स्खलन है।''

मैक्यावेली और हाब्स की विचारधारा को मार्गेन्थाऊ ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में लागू करने का प्रयास किया। मार्गेन्थाऊ का मानना है कि शक्ति की निरंतर आकांक्षा के कारण इस विश्व में कमजोर हमेशा शक्तिशाली की दया पर निर्भर रहेगा । यह व्यक्ति और राष्ट्र दोनों के सम्बन्ध में सत्य है। मार्गेन्थाऊ ने शक्ति को राष्ट्रीय हित की अवधारणा से जोड़ दिया । शक्ति ही वह मापदण्ड है जिससे राष्ट्रीय हित के औचित्य का आकलन किया जा सकता है। राष्ट्रीय हित का निर्धारण उपलब्ध शक्ति के तारतम्य में ही किया जाना चाहिए।

3.3 शक्ति उपागम की मूल मान्यताएँ

शक्ति उपागम कदाचित अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सर्वाधिक चर्चित और मान्यता प्राप्त उपागम हैं इसके समर्थकों में मैक्स वेबर, ई. एच. कार, फ्रेडरिक शुमैन, निकोलस स्पाइकमैन, रेनाल्ड निबुर, आर्नल्ड वुल्फर्स, केनिथ टाम्सन, जार्ज एफ. केनेन, हैन्स मार्गेन्थाऊ, हेनरी किसिंजर जैसे प्रसिद्ध विद्वान हैं ।

यह उपागम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को शक्ति के लिये संघर्ष मानता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को राष्ट्रीय हित, शक्ति और सुरक्षा जैसी अवधारणाओं के माध्यम से व्याख्यायित करना चाहता है। यह शक्ति की एक मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध मानता है। जिसमें एक कर्ता दूसरे कर्ता के व्यवहार को नियंत्रित करने की क्षमता रखता है। एक राजनीतिक कर्ता वह है जो अपने हित की प्राप्ति के लिए हमेशा सचेष्ट रहता है। ऐसे हित जो उसकी शक्ति के संदर्भ में परिभाषित है। शक्ति उपागम बुद्धिमानी या समझदारी (प्रूडेंस) को राजनीति का निर्देशक मानता है और प्रतिपादित करता है कि तार्किक दृष्टि से कार्य करने का अर्थ है, अपने हितों की रक्षा करना।

शक्ति उपागम की मूल मान्यताएं निम्नांकित हैं ।

1. मानव स्वभाव से स्वार्थी प्राणी है। शक्ति और प्रभुत्व की आकांक्षा सार्वभौमिक है और मानव स्वभाव का अपृथक्करणीय तत्व है।

2. इतिहास में इस बात के पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं कि मनुष्य स्वभाव से पापी और बदमाश रहा है।

3. शक्ति के लिये मनुष्य की आकांक्षा की कोई सीमा नहीं है। मनुष्य की इस प्रवृत्ति को

समाप्त नहीं किया जा सकता ।

4. शक्ति के लिए संघर्ष अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की अपरिवर्तनीय वास्तविकता है।

5. प्रत्येक राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हितों की प्राप्ति के लिए हमेशा प्रयासरत रहता है। इन राष्ट्रीय हितों को वह शक्ति के सन्दर्भ में परिभाषित करता है।

6. आत्म-परिरक्षण वह स्थायी नियम है जिससे राष्ट्र अपने व्यवहार का निर्धारण करते हैं।

7. राष्ट्र हमेशा शक्ति की आकांक्षा करते हैं इसका प्रदर्शन करते हैं और इसका प्रयोग करते हैं तथा

8. शान्ति की प्राप्ति शक्ति के प्रबन्ध के माध्यम से की जा सकती है। इसके लिऐ शक्ति संतुलन, सामूहिक सुरक्षा, विश्व सरकार, कूटनीति, गठबंधन जैसे उपायों को प्रयोग में लाया जा सकता है।

शक्ति उपागम की आधारभूत मान्यता इसकी यह धारणा है कि राष्ट्रों के मध्य किसी न किसी रूप में प्रतिद्वन्दिता और संघर्ष का होना आकस्मिक नहीं है वरन् यह प्राकृतिक है। हित की संपूर्ति के लिये प्रयास करना राजनीतिक है। अपने हितों की पूर्ति के लिए शक्ति अर्जित करना प्राकृतिक नियम है। यही सर्वोच्च नैतिक तथा वैधानिक सिद्धान्त है। इनका मानना है कि इस सिद्धान्त से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सम्पूर्ण कार्यकरण को समझा जा सकता है।

शक्ति उपागम एक सम्पूर्ण उपागम है जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का उसकी समग्रता में अध्ययन करना चाहता है।

3.4 मार्गेन्थाऊ और शक्ति उपागम

शक्ति उपागम एक ऐसा उपागम है जिसकी जड़ें 16वीं शताब्दी तक जाती हैं। 20वीं शताब्दी में मार्गेन्थाऊ को इस उपागम का प्रतिनिधि सिद्धान्तकार माना जाता है । वैसे प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व भी त्रीत्सके,नीत्से और एरिक कॉफमैन जैसे विद्वानों ने भी इस उपागम को प्रश्रय दिया। इसके अतिरिक्त फ्रेडरिक वाटकिन्स, हैरोल्ड लाएवेल और डेविड ईस्टन ने भी राजनीति विज्ञान में शक्ति उपागम को अपनाया। 1945 के बाद के अध्येताओं में ई. एच. कार, जार्ज श्वार्जनबर्गर तथा क्विन्सी राइट जैसे विद्वानों ने इस सिद्धान्त का समर्थन किया ।

मार्गेन्थाऊ वह पहला विद्वान था जिसने इस उपागम की विधिवत व्याख्या की और इसे विकसित किया। उसने इस दृष्टिकोण को एक सैद्धान्तिक कलेवर प्रदान दिया। मार्गेन्थाऊ के विचारों का सार 'राजनीतिक यथार्थवाद' के उसके 6 सिद्धान्तों में निहित है । जिसका प्रतिपादन उसने अपनी पुस्तक 'पालिटिक्स अमंग नेशन्स' के प्रथम अध्याय में किया है। इनकी संक्षिप्त चर्चा नीचे की जाती है।

1. राजनीति हमेशा निरपेक्ष नियमों से निर्धारित होती है। इन नियमों की जड़ें मानव स्वभाव में हैं। जिन नियमों द्वारा मनुष्य इस सामाजिक संसार में व्यवहार करता है वे

सार्वभौमिक और सार्वकालिक हैं । मानव स्वभाव प्रारम्भ से अब तक एक ही जैसा है

2. राष्ट्रीय हित अति महत्वपूर्ण है जिसे मार्गेन्थाऊ शक्ति के संदर्भ में परिभाषित करता है। इसका मानना है कि राजनीतिज्ञ और निर्णय निर्माणकर्ता शक्ति के संदर्भ में परिभाषित राष्ट्रीय हित को सर्वाधिक महत्व देते है । शक्ति विश्लेषण का माध्यम ही नहीं है। वरन यह नीति का निर्देशक भी है। यह वह स्थायी मापदण्ड है जिसके द्वारा राजनीतिक क्रिया कलापों का आकलन किया जाता है। मार्गेन्थाऊ के अनुसार, किसी भी विदेश नीति का पहला साध्य राष्ट्रीय हित होता है। इसे दो प्रचलित कल्पनाओं से अपने को दूर रखना चाहिए । मनोभाव और वैचारिक प्राथमिकता । इस लिए कि इन दो बातों से जुड़ने वाली विदेशनीति कभी सफल नहीं हो सकती । ये दोनों तत्व -अच्छा मनोभाव और वैचारिक प्राथमिकता सफलता की गारंटी नही हैं ।

3. राष्ट्रीय हित का कोई स्थायी निर्धारण सम्भव नहीं है। आवश्यकता के अनुसार शक्ति के संदर्भ में राष्ट्रीय हित की परिकल्पना में परिवर्तन अपरिहार्य है । मार्गेन्थाऊ का मानना है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का सामान्य वातावरण उन हितों के निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है जो राजनीतिक क्रिया कलाप को निर्धारित करते हैं । एक सफल राजनेता के लिए आवश्यक है कि वह पर्यावरण के परिर्वतन पर चौकस निगाह रखे।

4. मार्गेन्थाऊ का प्रतिपादन है कि राज्य के कृत्यों के संदर्भ में सार्वभौमिक नैतिक सिद्धान्तों को यथावत नहीं लागू किया जा सकता। काल और परिस्थितियों के अनुसार नैतिक सिद्धान्तों में आवश्यक संशोधन कर लिये जाने चाहिए। व्यक्ति नैतिक सिद्धान्तों के लिए अपनी कुर्बानी दे सकता है। परन्तु राष्ट्र ऐसा नहीं कर सकता । शक्ति उपागम समझदारी (प्रूडेन्स) को राजनीति का सर्वश्रेष्ठ गुण मानता है । नीति शास्त्र और राजनीतिक नीति शास्त्र में अंतर है। एक नीतिशास्त्री कह सकता है,'' न्यास होना चाहिये भले ही पूरा संसार नष्ट हो जाय।'' परन्तु एक राजनीतिक नीतिशास्त्री ऐसा कभी नहीं कहेगा । शक्ति उपागम यह मानता है कि राज्य के किसी कृत्य का मूल्यांकन उसके परिणामों के आधार पर किया जाना चाहिये। एब्राहम लिंकन ने एक बार कहा था कि, ''यदि किसी कार्य का परिणाम गलत निकलता है तो इससे कोई अंतर नहीं पड़ता कि दस देवदूत यह कहें कि मैं सही था।'' शक्ति उपागम किसी भी कार्य को उसके राजनीतिक परिणामों से नापता हैं ।

5. किसी राष्ट्र की नैतिक आकांक्षाओं और विश्व के सार्वभौमिक नैतिक नियमों के मध्य कोई समानता नहीं ढूँढी जानी चाहिये। यह मानता है कि सभी राष्ट्र शक्ति के संदर्भ में परिभाषित राष्ट्रीय हित की प्राप्ति को अपना सर्वोच्च नैतिक कर्तव्य मानते हैं यही नहीं राष्ट्र अपने इस प्रयास को नैतिक मूल्यों के आवरण में ढकने का भी प्रयास करते हैं।

6. राजनीति का क्षेत्र एक स्वायत्त क्षेत्र है : राजनीतिक यथार्थवाद राजनीति के क्षेत्र की स्वायत्तता पर बल देता है। यह शक्ति के संदर्भ में परिभाषित हित पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है। ठीक उसी प्रकार से जैसे धन के संदर्भ में परिभाषित हित पर अर्थशास्त्र केन्द्रित होता है।

कुल मिलाकर देखा जाय तो मार्गेन्थाऊ का सिद्धान्त तीन आधार भूत धारणाओं पर आधारित है । सर्वप्रथम राजनीतिज्ञ हमेशा अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के लिये प्रयासरत रहते हैं, दूसरे, हर राष्ट्र का राष्ट्रीय हित उसके प्रभाव - राजनीतिक, भौगोलिक, आर्थिक आदि के विस्तार में निहित हैं, तथा अन्ततः प्रत्येक राष्ट्र अपनी शक्ति और अपने प्रभाव का उपयोग अपने हितों की रक्षा के लिये करता है।

मार्गेन्थाऊ द्वारा प्रतिपादित शक्ति उपागम इस विश्वास पर आधारित है। कि राजनीतिक नियमों का स्रोत मानव स्वभाव है और मानव स्वभाव के अन्वेषण के आधार पर सिद्धान्त निर्माण किया जा सकता है। उसके अनुसार समाज मानव स्वभाव का ही बाह्य प्रकटीकरण है। इसमें अनेक प्रकार के हित पाये जाते हैं जो परस्पर संघर्षशील है। इस संघर्ष के दो मूल कारण हैं स्वार्थ और शक्ति के लिए उत्कट आकांक्षा । स्वार्थ की तो एक सीमा हो भी सकती है। परन्तु शक्ति की आकांक्षा की कोई सीमा नहीं होती ।मार्गेन्थाऊ मानता है कि शक्ति की यही कभी न समाप्त होने वाली आकांक्षा ही राजनीति को जन्म देती है। शक्ति ही राजनीति का मूल तत्व है, यह राजनीति चाहे राष्ट्रीय हो या अन्तर्राष्ट्रीय । मार्गेन्थाऊ के लिए शक्ति समस्त क्रिया कलापों का लक्ष्य ही नहीं है, यह अपने भी एक साध्य है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति साधन ही नहीं वरन साध्य भी है। यह राष्ट्रीय हित की प्राप्ति का एक साधन है। दूसरी ओर यह एक साध्य भी है। क्योंकि राष्ट्र के शक्तिशाली होने का अर्थ है उसके हितों के निरंतर रक्षा की गारंटी ।

3.5 शक्ति उपागम से जुड़े कुछ प्रमुख समकालीन विचारक

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के आदर्शवादी उपागम की प्रतिक्रिया स्वरूप शक्ति उपागम 1930 के बाद से ही अमरीका में जड़ पकड़ने लगा । इन विद्वानों की यह धारणा है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के विषय में कोई भी सामान्यीकरण इतिहास और मनोविज्ञान के ठोस तथ्यों पर आधारित होना चाहिए। इन विद्वानों की यह प्रस्तावना है कि चूँकि मनुष्य स्वार्थी और शक्ति का आकांक्षी है इस लिए शान्ति स्थापित करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून/संगठन के साथ ही शक्ति का अनुचित प्रबन्ध वांछनीय है।

हमने पूर्व के पृष्ठों में यह उल्लेख किया है कि शक्ति उपागम की ऐतिहासिक जड़ें बहुत पुरानी है। समकालीन विचारकों में पहला उल्लेखनीय नाम **रीनाल्ड निबुर** (1892-1971) का है। निबुर ने आदर्शवादियों को'प्रकाश की संतान' और यथार्थ वादियों को 'अंधकार की संतान' कहा है। उसका मानना है कि मनुष्य में जीवित रहने की नैसर्गिक इच्छा होती है और उसकी यही इच्छा उसमें शक्ति प्राप्ति की आकांक्षा को जन्म देती है। यही आकांक्षा एक छोटे से लेकर राष्ट्र तक में मुखरित होती है। शक्ति और सम्मान को बरकरार रखने के लिए यह निरंतर

आवश्यक है कि दूसरे की शक्ति और सम्मान का निरंतर कुछ अतिक्रमण करते रहा जाय।

जॉनस्पाइकमैन (1893-1943) ने यह प्रतिपादित किया कि सहयोग नहीं वरन् संघर्ष अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की मुख्य विशेषता है। अन्तर्राष्ट्रीय जगत में संतुलन की स्थिति निरंतर परिवर्तनशील है ।इस लिए एक राज्य को हमेशा अपनी शक्तिशाली स्थिति को बनाये रखने के लिए प्रयासरत रहना होगा । विपक्षी को कमजोर करना बुद्धिमता है परन्तु उसे पूर्णतया समाप्त कर देना मूर्खता है क्योंकि इससे व्यवस्था में असंतुलन की स्थिति पैदा हो सकती है । अमरीकी विदेश नीति के अपने अध्ययन के आधार पर स्पाइकमैन ने अमरीकी विदेश नीति निर्माताओं का यह परामर्श दिया कि वे जर्मनी और जापान को नष्ट न करें क्योंकि वे चीन और रूस की उभरती हुई शक्ति को रोकने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर सकते हैं ।

जार्ज एफ. केनन का यह मानना है कि मानव स्वभाव स्वार्थी और अतार्किक है। अतएव यह आवश्यक है कि कोई भी निर्णय लेने के पूर्व राजनीतिज्ञ को तथ्यों से भली भॉति अवगत होना चाहिए । सरकार राजनीतिक शक्ति के लिए कभी न खत्म होने वाली प्रतिद्वन्दिता का प्रकटीकरण है।

शक्ति उपागम से जुड़े एक और प्रमुख समकालीन विद्वान **एफ. एल. शुमैन** का मानना है कि अपनी स्वायत्तता को बरकरार रखने के लिए राष्ट्र को अन्य राष्ट्रों से निरन्तर प्रतिद्वन्दिता करनी चाहिए और अपने प्रतिद्वन्दी की तरफ से हो सकने वाले किसी भी खतरे का निराकरण करना चाहिए। इसका एक मात्र तरीका शक्ति का अधिकाधिक संचयन है। नैतिक सिद्धान्तों का मात्र प्रचारात्मक मूल्य है शक्ति के खेल में उनका कोई महत्व नहीं है ।

फ्रांसीसी समाजशास्त्री **रेमण्ड एरां** के विचारों में भी शक्ति उपागम की झलक देखी जा सकती है। ऐरां का विचार है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में हर कर्ता का पहला उद्देश्य अपने अस्तित्व को सुरक्षित करना होता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था शक्तियों के संतुलन का परिणाम हैं यदि निर्णय निर्माणकर्ता इस प्रकार की शक्तियों के यथोचित आकलन में असमर्थ रहता है तो वह राष्ट्र की सुरक्षा के प्रारम्भिक दायित्व में असफल सिद्ध हो सकता है।

अमरीका के पूर्व विदेशमंत्री **हेनरी किसिंजर** के उल्लेख के बिना यह चर्चा अधूरी रहेगी। किसिंजर ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के स्थिर और क्रान्तिकारी माडल का प्रतिपादन किया है। स्थिर व्यवस्था वह है जिसमें कोई भी बड़ी शक्ति यथास्थिति में बदलाव की इच्छुक नहीं होती है। जबकि क्रान्तिकारी व्यवस्था में बड़ी शक्ति असंतुष्ट होती है। और तदनुकूल व्यवस्था में परिवर्तन करना चाहती है। किसिंजर का मानना है कि कोई भी शक्ति चाहे वह बड़ी हो या छोटी कभी भी पूर्णतया संतुष्ट ाहीं होती । इसी असंतुष्टि से युद्ध की इच्छा का जन्म होता है। किसिंजर ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में विचारधारा की किसी भूमिका से असहमति व्यक्त की है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि शक्ति उपागम से जुड़े सभी प्रमुख विद्वानों ने शक्ति को महत्व दिया है और राष्ट्रीय हित की प्राप्ति को इस पर आधारित माना है।

3.6 शक्ति उपागम की समालोचना

यह सत्य है कि शक्ति उपागम वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सर्वाधिक तार्किक और संगत विश्लेषण उपागम है। इसके बावजूद कुछ आधारों पर इसकी आलोचना की गई है जिनकी चर्चा नीचे की जाती हैं -

1. यह उपागम अस्पष्ट है यह मुख्य रूप से 'शक्ति' की अवधारणा पर केन्द्रित है। परन्तु यह उपागम 'शक्ति' की कोई निश्चित परिभाषा नहीं दे पाता। उदाहरण के लिए मार्गेन्थाऊ शक्ति को राष्ट्रों के मध्य 'मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध' के रूप में व्याख्यायित करता है। पुनः लगभग 200 राष्ट्रों के मध्य मनोवैज्ञानिक सम्बन्धों का अध्ययन एक और जटिल समस्या है।

2. यह धारणा पूर्णतया सत्य नहीं कही जा सकती कि व्यक्ति और राष्ट्र हमेशा के संदर्भ में परिभाषित अपने हित की प्राप्ति के लिये प्रयासरत रहते है। संघर्ष राष्ट्रों के मध्य सम्बन्ध का एक प्रमुख अवयव है परन्तु राष्ट्रों में मध्य किसी न किसी रूप में और किसी न किसी मात्रा में सहयोग भी पाया जाता है।

   शक्ति उपागम मात्र एक ही कारक शक्ति को महत्व देता है। स्टेनली हाफ मैन ने 'शक्ति एकलवाद' (पावर मोनिज्म) की संज्ञा दी है। यह उपागम उन सभी कारकों की अवहेलना करता है जो 'शक्ति' में योगदान देते है। जैसे घरेलू वातावरण शासन का स्वरूप, शक्ति की संरचना, जनमानस के विश्वास एवं मूल्य, राजनीतिज्ञों के मनोभाव आदि ।

3. शक्ति उपागम राष्ट्रीय हित को शक्ति के संदर्भ में परिभाषित करता है। आलोचकों का मानना है कि राष्ट्रीय हित एक सापेक्ष धारणा है। यह उस व्यक्ति की सोच पर निर्भर करता है जो राष्ट्रीय हित का निर्धारण कर रहा है। इन विद्वानों का यह मानना है कि आज की अस्थिर अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में प्रत्येक राष्ट्र का अस्तित्व हर पल खतरे में है। शान्ति और मानव मात्र के अस्तित्व की रक्षा समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का एक प्रमुख घटक तत्व है। **जॉन बर्टन** ने लिखा है कि परमाणु युग में प्रत्येक राष्ट्र की यह बाध्यता है कि वह अपने राष्ट्रीय हितों को इस प्रकार से पूरा करे कि अन्तर्राष्ट्रीय हित बाधित न हो अन्यथा राष्ट्रीय हितों में संघर्ष होगा और राष्ट्रीय हित का सर्वनाश हो जायेगा ।

इन सब आलोचनाओं के बावजूद, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के शक्ति उपागम का अपना निश्चित महत्व है इसने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में वैज्ञानिक विधि के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इस रूप में शक्ति उपागम ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को आदर्शवादियों के कल्पनालोक से मुक्त करते यथार्थ की गहराइयों पर ला खड़ा किया । **डेविड सिंगर** ने शक्ति उपागम के समकालीन प्रवर्तक मार्गेन्थाऊ को 'सर्वाधिक प्रसिद्ध सिद्धान्तकार माना है जबकि **टॉम्सन** का यहाँ

तक मानना है कि हाल के वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध पर रचित अधिकांश साहित्य मार्गेन्थाऊ और उसके आलोचकों के मध्य वार्तालाप है।

3.7 सारांश

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन का शक्ति उपागम द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के उपागमों में सर्वाधिक चर्चित और प्रासंगिक उपागम रहा है।

शक्ति उपागम राष्ट्र की सुरक्षा के परिप्रेक्ष्य में राष्ट्र की क्षमता या शक्ति पर बल देता है। इसके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अंतिम उद्देश्य चाहे कुछ भी हो, इसका त्वरित उद्देश्य षक्ति होता है।

शक्ति उपागम यथार्थवादी उपागम का ही दूसरा नाम है। वैसे यह उपागम पूरी 18वीं और 19वीं शताब्दी में प्रचलित रहा परन्तु द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के समयकाल में यह अत्यधिक लोकप्रिय हुआ । शक्ति उपागम के आधुनिक स्वरूप का प्रवर्तक जान निबुर को माना जाता है। इस उपागम को सैद्धान्तिक आधार प्रदान करने का श्रेय हैन्स जे. मार्गेन्थाऊ को प्राप्त है।

शक्ति उपागम के मूल में इनकी मानव स्वभाव विषयक धारणा है जिसके अनुसार स्वभाव से स्वार्थी, धूर्त, संघर्षशील और प्रतिद्वन्दी है। यह संसार विरोधकारी हितों का समुच्चय है। संघर्ष इसका पर्यावरण है।

ऐतिहासिक धरातल पर आधुनिक युग में इस धारणा की प्रथम अभिव्यक्ति इटली के विचारक मैक्यावेली (1469-1527) के विचारों में मिलती है। ब्रिटिश दार्शनिक टामस हाब्स ने इसे सैद्धान्तिक आधार प्रदान किया ।

इस उपागम की कुछ मूल मान्यताएं हैं - (क) मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी प्राणी है। शक्ति की आकांक्षा सार्वभौमिक है (ख) प्रत्येक राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हितों की प्राप्ति के लिये सदैव प्रयासरत रहता है। इन राष्ट्रीय हितों को वह शक्ति के संदर्भ में परिभाषित करता है। (ग) आत्म-परिरक्षण वह स्थायी नियम है जिसे मद्देनजर रखते हुये अपनी भूमिका का निर्धारण करते हैं (घ) राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के माध्यम के रूप में राष्ट्र शक्ति प्राप्ति की आकांक्षा करते हैं इसका प्रदर्शन करते हैं और अन्ततः इसका प्रयोग करते हैं ।

शक्ति उपागम यह मानता है कि राष्ट्रों के मध्य किसी न किसी रूपमें प्रतिद्वन्दिता और संघर्ष का होना आकस्मिक नहीं वरन प्राकृतिक है ।

आधुनिक युग में हैन्स जे. मार्गेन्थाऊ ने इस उपागम की विधिवत व्याख्या की । मार्गेन्थाऊ के विचार उसके राजनीतिक यथार्थवाद के छः मूल सिद्धान्तों में निहित हैं । (1) राजनीति हमेशा निरपेक्ष नियमों से निर्धारित होती है। इन नियमों की जड़ें मानव स्वभाव में हैं (2) राष्ट्रीय हित राष्ट्र के लिये अति महत्वपूर्ण होता है। इसे शक्ति के संदर्भ में परिभाषित किया

जाना चाहिए। (3) राष्ट्रीय हित स्थिर नहीं होता यह परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होता रहता है (4) राज्य के कार्यों के संदर्भ में सार्वभौमिक नैतिक सिद्धान्तों को लागू नहीं किया जा सकता, (5) किसी राष्ट्र की नैतिक आकांक्षाओं और विश्व के सार्वभौमिक नैतिक नियमों के मध्य कोई समानता नहीं ढूंढी जानी चाहिए । तथा (6) राजनीति का क्षेत्र एक स्वायत्त क्षेत्र हैं ।

शक्ति उपागम से जुड़े कुछ प्रमुख विद्वान हैं : मैक्स वेबर, ई. एच. कार, फ्रेडरिक शुमैन, निकोलस स्पाइकमैन, रेनॉल्ड निबुर, आर्नाल्ड बुल्फर्स, केनिथ टाम्सन, जार्ज एफ. केनेन, हैन्स मार्गेन्थाऊ, हेनरी किसिंजर आदि ।

तमाम दृष्टि से महत्वपूर्ण और तर्कसंगत होने के बावजूद आलोचक्नों ने कई आधार पर शक्ति उपागम की आलोचना की है। (क) यह उपागम अस्पष्ट है क्योंकि यह 'शक्ति को स्पष्ट रूप से परिभाषित कर पाने में असमर्थ है (ख) राष्ट्रों के मध्य संघर्ष के समानांतर ही सहयोग भी पाया जाता है , (ग) राष्ट्रीय हित की धारणा एक निरपेक्ष नहीं वरन सापेक्ष धारणा है।

3.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

1.	Prakash Chandra	:	International Politics
2.	J.C. Jauhari	:	International Relations and Politic.
3.	Mahendra Kumar	:	Theoretical Aspects of International Relations. (हिन्दी संस्करण उपलब्ध)
4.	पुष्पेश पंत	:	अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति

3.9 सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. शक्ति उपागम से आप क्या समझते हैं ? इसकी किन आधारों पर आलोचना की जाती है।
2. शक्ति उपागम की मूल मान्यताओं का परीक्षण कीजिए।
3. शक्ति उपागम को मार्गेन्थाऊ के योगदान की समीक्षा कीजिए ।
4. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के शक्ति उपागम पर संक्षिप्त निबन्ध लिखिए ।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. शक्ति की परिभाषा दीजिये ।
2. शक्ति उपागम की आधारभूत मान्यता बताइये ।
3. मार्गेन्थाऊ के राजनीतिक यथार्थीवाद के छः सिद्धान्तों में से किन्हीं दो की चर्चा कीजिये।

4. शक्ति उपागम की किन्हीं दो आलोचनाओं का उल्लेख कीजिये ।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. शक्ति उपागम निम्नाकित में से किस अवधारणा पर केन्द्रित है।

   (क) शक्ति

   (ख) राष्ट्रीय हित

   (ग) शक्ति के संदर्भ में परिभाषित राष्ट्रीय हित

   (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं ।

2. 'पॉलिटिक्स अमंग नेशन्स' के लेखक हैं -

   (क) नेनिथ टाम्सन

   (ख) हैन्स मार्गेन्थाऊ

   (ग) रोजर रोजनबर्ग

   (घ) उपयुर्क्त में से कोई नहीं

3. शक्ति उपागम के अनुसार मानव स्वभाव

   (क) स्वार्थी है

   (ख) विवेकपूर्ण है

   (ग) आंशिक रूप से स्वार्थी और आंशिक रूप से विवेकपूर्ण है

   (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं ।

4. "यदि किसी कार्य का परिणाम गलत निकलता है तो इससे कोई अंतर नहीं पड़ता कि दस देवदूत यह कहें कि मैं सही था .... ।"

   उपर्युक्त कथन निम्नांकित में से किसका है ।

   (क) जान मिल्टन

   (ख) अब्राहम लिंकन

   (ग) एलेक्जेण्डर ग्रे

   (घ) जार्ज वाशिंगटन

3.10 प्रश्नोत्तर

1. ग

2. ख

3. क

4. ख

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

MAPS-109
राजनीति विज्ञान
अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति

खण्ड

02

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की मूल अवधारणाएँ

इकाई-4	5
राष्ट्रीय हित	
इकाई-5	15
राष्ट्रीय शक्ति	
इकाई-6	30
विदेश नीति	

परामर्श-समिति

प्रो0 केदार नाथ सिंह यादव	कुलपति
डॉ0 हरीशचन्द्र जायसवाल	कार्यक्रम संयोजक
डॉ0 इति तिवारी	सहसंयोजक
श्री एम. एल. कनौजिया	कुलसचिव

विशेषज्ञ समिति (परिमार्जक)

1- प्रो0 एस. के. झा	पूर्व विभागाध्यक्ष, राजनीतिशास्त्र विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय

सम्पादक

प्रो0 एस. एम. सईद	अवकाश प्राप्त प्रोफेसर, लखनऊ विश्वविद्यालय

लेखक मंडल

1- प्रो0 नन्द लाल	प्रोफेसर काशी विद्यापीठ, काशी	–	3 इकाई
2- डॉ0 मनूका खन्ना	रीडर, लखनऊ विश्वविद्यालय,	–	3 इकाई
3- डॉ0 शशि शुक्ला	रीडर, लखनऊ विश्वविद्यालय	–	3 इकाई
4- प्रो0 बी. के. तिवारी	प्रोफेसर, लखनऊ विश्वविद्यालय	–	4 इकाई
5- डॉ0 कमल कुमार	रीडर, लखनऊ विश्वविद्यालय	–	4 इकाई

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, **प्रयागराज**

खण्ड 2 का परिचय : अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की मूल अवधारणाएँ

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को कुछ आधारभूत सिद्धान्तों के आधार पर समझा जा सकता है राष्ट्रीय हित राष्ट्रीय शक्ति तथा विदेश नीति इन अवधारणाओं में प्रमुख हैं। इस खण्ड में इन तीनों का परिचय दिया जायेगा ।

कोई भी राष्ट्र अपने हित अथवा लाभ के विषय में सोचता है। उसका यह प्रयास होता है कि वह कम से कम प्रयत्न एवं समय में अधिक से अधिक लाभ प्राप्त कर ले। भूमण्डलीकरण तथा अन्तर्राष्ट्रीय निर्भरता होने के बावजूद एक राष्ट्र अपने हितों को वरीयता देता है। अपने हितों को प्राथमिकता देने के कारण अन्य देशों के हितों की उपेक्षा होती है। इस आधार पर आदर्शवादी इस अवधारणा को खतरनाक धारणा मानते हैं। उनके अनुसार इसके कारण विश्व शान्ति, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग आदि सम्प्रत्यय केवल कल्पना बनकर ही रह जायेंगे । इस विचार को यथार्थवादी अस्वीकृत करते हैं। वह मानते हैं कि राष्ट्रीय हित विदेश नीति का प्रमुख आधार है तथा सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का इसे आधार माना जा सकता है।

राष्ट्रीय हित विदेश नीति का आधार है क्योंकि यह राष्ट्रीय शक्ति की वृद्धि का भी आधार है। एक देश की शक्ति केवल उसकी सैनिक शक्ति नहीं होती है । जब एक राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र को अपने अनुरूप कार्य करा सकता है तो उसे शक्तिशाली माना जाता है। यदि एक राष्ट्र में यह क्षमता होती है कि वह दूसरे राष्ट्र या राष्ट्रों से वह नीतियाँ कायान्वित करा सके जो स्वयं उसके हित में हो तभी वह शक्तिशाली माना जाता है। इस ध्येय को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक नहीं होता कि वह देश सैनिक शक्ति का प्रयोग करे । मनोवैज्ञानिक, आर्थिक, कूटनीतिज्ञ इत्यादि किसी भी प्रभाव का प्रयोग करके अपने लक्ष्य को प्राप्त करना ही राष्ट्रीय शक्ति है। राष्ट्रीय शक्ति अनेक प्रकार की होती है तथा इसका निर्धारण करने वाले तत्व भी अनेक हैं । यह केवल उसके तत्व कहलाते हैं निर्धारकतत्व नहीं क्योंकि इनकी उपस्थिति शक्ति होने का संकेत नहीं देती । यह केवल शक्ति में वृद्धि की सम्भावना दर्शाते हैं । उनके उचित प्रयोग से शक्ति में वृद्धि हो सकती है। अथवा अनेक तत्वों के मिले जुले प्रभाव के कारण शक्ति में वृद्धि हो सकती है । इस खण्ड में राष्ट्रीय शक्ति का अर्थ तथा तत्वों की चर्चा की जायगी।

इन दो अवधारणाओं -राष्ट्रीय हित और राष्ट्रीय शक्ति - को समझने के बाद विदेश नीति को समझा जाएगा। किसी भी देश की विदेश नीति उसके हितों की पूर्ति तथा राष्ट्रीय शक्ति में वृद्धि के लिये ही बनाई जाती है। इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए एक देश शान्तिपूर्ण एवं अहिंसात्मक साधनों का प्रयोग करती हैं । दूर संचार तथा यातायात के साधनों में वृद्धि के परिणामस्वरूप राजनय तथा प्रचार का निरन्तर प्रयोग किया जाता है। आज का युग आर्थिक युग के नाम से जाना जाता है। प्रत्येक देश अपने आर्थिक हितों की रक्षा तथा विपक्षी देश को आर्थिक हानि पहुँचाने के लिये अनेक नीतियों का प्रयोग करता है । इन सभी साधनों के द्वारा यदि वह अपनी विदेश नीति के लक्ष्यों का प्राप्त करने में सफल नहीं होता है तो वह हिंसात्मक साधन अथवा युद्ध का प्रयोग करता है। संयुक्त राष्ट्र के चार्टर ने युद्ध का अधिकार समाप्त कर दिया है। किन्तु अपनी सुरक्षा के लिए आज भी इसको विदेश नीति के एक साधन के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। विदेश नीति के अर्थ निर्धारक तथ्वों तथा उसके साधनों का भी अध्ययन यहाँ किया जाऐगा ।

इकाई – 4 राष्ट्रीय हित

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 अवधारणा का विकास

4.3 राष्ट्रीय हित का अर्थ

4.4 राष्ट्रीय हित के प्रकार

4.5 राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि के साधन

4.6 राष्ट्रीय हित तथा विदेश नीति

4.7 सारांश

4.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

4.9 सम्बन्धित प्रश्न

4.10 प्रश्नोत्तर

4.0 उद्देश्य

इस इकाई के अर्न्तगत राष्ट्रीय हित का अर्थ, राष्ट्रीय हित के विभिन्न प्रकारों तथा उसकी अभिवृद्धि के साधनों आदि की विवेचना की जायेगी ।

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आपः

- राष्ट्रीय हित के अर्थ को समझ सकेंगे ।
- राष्ट्रीय हित के विभिन्न प्रकारों का विवेचन कर सकेंगे ।
- विदेश नीति और राष्ट्रीय हित के बीच के सम्बन्ध का विवरण कर सकेंगे ।
- राष्ट्रीय हित के विभिन्न साधनों की चर्चा कर सकेंगे ।

4.1 प्रस्तावना

राष्ट्रीय हित की अवधारणा राष्ट्रीय राज्यों के साथ प्रारम्भ हुई और समय के साथ इसके अनेक आयाम विकसित हुये । अलग अलग युगों में देशों ने अपने लाभ को ध्यान में रखते हुये नीतियाँ अपनाई थी। राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना के बाद राष्ट्रीय हित की अवधारणा को स्वीकार किया गया । प्रत्येक राष्ट्र अपनी परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं के अनुसार अपने राष्ट्रीय हितों की सूची तैयार करता है। हर देश अलग अलग मुद्दों के साथ अपने राष्ट्रीय हित को जोड़ता है । किन्तु अधिकांश राज्यों द्वारा तीन प्रमुख लक्ष्य स्वीकार किए जाते हैं । यह है - आत्मरक्षा, सुरक्षा तथा लोक कल्याण। राष्ट्रीय हित इनके अतिरिक्त अनेक प्रकार के होते हैं । आवश्यकता तथा भौगोलिक एवं ऐतिहासिक

परिस्थितियों के आधार पर राष्ट्रीय हितों का निर्धारण होता है। विभिन्न प्रभावों के आधार पर एक राष्ट्र के नीति निर्माता अपने हितों का निर्धारण करते हैं । अतः 'राष्ट्रीय हित' एक व्यापक एवं लचीला शब्द है। अवधारणा की अस्पष्टता के कारण इसकी परिभाषा करना कठिन कार्य है । इस खण्ड में विभिन्न विद्वानों के द्वारा दी गयी परिभाषाएं दी जायंगी ताकि इस अवधारणा का अर्थ स्पष्ट हो जाये । राष्ट्रीय हित के विभिन्न प्रकारों का भी परिचय दिया जाएगा।

हित निर्धारण के उपरान्त एक राष्ट्र उनको प्राप्त करने के लिए अलग अलग साधनों का प्रयोग करता है। अधिकतर प्रारम्भ में एक देश शान्तिपूर्ण तरीकों को अपनाता है। जैसे कूटनीति, प्रचार, वार्ताएं, आर्थिक साधन इत्यादि । यदि उसे अपने लक्ष्य में सफलता प्राप्त नहीं होती है तब वह युद्ध, साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद का सहारा लेता है। अनेक परिस्थितियों में एक देश दो या दो से अधिक साधनों का प्रयोग एक ही समय में करता है। इन साधनों का संक्षिप्त वर्णन इस खण्ड में इकाई एक में किया गया है । तथा विस्तृत रूप में इकाई तीन में भी किया गया है।

एक और विवादास्पद प्रश्न पर भी चर्चा की जाएगी कि राष्ट्रीय हित विदेश नीति का उद्देश्य है अथवा मूल्य है। जो विचारक राष्ट्रीय हित को 'उद्देश्य'मानते हैं उनके अनुसार यह स्थायी, अपरिवर्तित तथा शक्ति से जुड़ी हुई अवधारणा हैं । इसके विपरीत जो विचारक इसे मूल्यपरक अवधारणा मानते हैं उनके अनुसार यह शक्ति के अतिरिक्त मूल्यों से जुड़ी हुई अवधारणा हैं । यह समाज के मूलभूत मूल्यों से जुड़ी हुई है। यह मूल्य हैं - राष्ट का कल्याण, उसके राजनीतिक विश्वासों का संरक्षण, राष्ट्रीय जीवन पद्धति, क्षेत्रीय अखण्डता और सीमाओं की सुरक्षा। किन्तु अधिकतर यह स्वीकार किया जाता है कि राष्ट्रीय हित ही विदेश नीति का आधार है।

4.2 अवधारणा का विकास

राष्ट्रीय हित वह नीति और सिद्धान्त होते हैं जिनके आधार पर एक राज्य अपने कार्यों का संचालन करता है तथा उनकी सफलता में ही अपना लाभ मानता है। हर युग में राज्यों ने अपने लक्ष्यों को पहचान कर उनको पूरा करने के लिये उपयुक्त नीतियाँ बनाई हैं । प्राचीन काल में ''राजा की इच्छा''.और ''राज्यवंश का हित'' जैसी पदावलियों का चलन था। एक देश का राजा अथवा राज्यवंश ही समस्त लक्ष्यों तथा नीतियों के निर्धारण का आधार था। इसके पश्चात मध्य युग में धर्म के प्रभुत्व के कारण धर्म नीतियों का आधार बना। जब 'राष्ट्र' का उदय हुआ तंब 'राष्ट्रीय हित' को अपनाया गया। 'राष्ट्रीय हित' के सम्प्रत्यय का इतिहास उस समय से प्रारम्भ हुआ जब आधुनिक राष्ट्रीय प्रणाली का आर्विभाव हुआ। यह सम्प्रत्यय शासकों के संकीर्ण और सीमित हितों से अलग था। तथा इसमें समस्त लोगों के व्यापक, हित सम्मिलित हैं । अधिपतियों के व्यक्तिगत हितों के स्थान पर राज्यों के हित को महत्व दिया गया ।

राष्ट्रीय हित एक लचीला एवं व्यापक शब्द है। पिछले तीन सौ वर्षों में अनेक घटनाओं के कारण इस सम्प्रत्यय में अस्पष्टताओं ने जन्म लिया है । इस कारण, राष्ट्रीय हित, राजनीतिक कार्यवाही के साधन तथा विश्लेषण के साधन, के दोनों रूपों में अस्पष्ट रहा है। इस सम्प्रत्यय को अलग अलग प्रकार से परिभाषित किया गया है । यह परिभाषाएं अनुसन्धानकर्ता के द्वारा अपनाये गये किसी एक दृष्टिकोण का संकेत करती हैं । इस कारण अलग अलग परिभाषाओं के बीच सामन्जस्य स्थापित करना कठिन होता है। जोसफ फ्रेंकेल ने सुविधा के लिये इन परिभाषाओं को दो वर्गों में बाँटा है। अनुसन्धानकर्ता के दृष्टिकोण के आधार पर इसको 'वस्तुनिष्ठ' तथा 'व्यक्तिनिष्ठ' के दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। पहले भाग (वस्तुनिष्ठ) में वे दृष्टिकोण आते हैं जो राष्ट्रीय हित को ऐसा सम्प्रत्यय मानते हैं जिसकी कुछ निश्चित वस्तुनिष्ठ कसौटियों की मदद से परीक्षा या परिभाषा की जा सकती है। दूसरे भाग की परिभाषाएं वह हैं जो राष्ट्रीय हित को निरन्तर बदलते हुए बहुत्वसूचक समुच्चय के रूप में देखती है।

4.3 राष्ट्रीय हित का अर्थ

राष्ट्रीय हित के व्यापक अर्थ को स्पष्ट करना सरल कार्य नहीं है । इसकी परिभाषा देने में अनेक प्रकार की बाधाएँ आती हैं । एक देश की घरेलू तथा अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधियों के बीच स्पष्ट अन्तर बता पाना कठिन होता है। परिणाम स्वरूप राष्ट्रीय हित का स्पष्ट स्वरूप जानना कठिन होता है। साथ ही राष्ट्रीय हित का सम्प्रत्यय आज के भूमण्डलव्यापी आदर्शों से मेल नहीं खाता है। विश्व में प्रचलित अन्तर्राष्ट्रीय एकीकरण के आन्दोलन तथा राष्ट्रीय हित की विचारधारा में स्पष्ट विरोधाभास पाया जाता है। किन्तु व्यवहारिक राजनीति में अधिकतर देश राष्ट्रीय हित को ही अपनी विदेशनीति का आधार मानते हैं ।

एक प्रमुख पक्ष यह भी है कि राष्ट्रीय हित को कुछ लोग व्यापक रूप में देखते हैं तथा कुछ लोग उसे कई ठोस सकल हितों के रूप में देखते हैं । इस बुनियादी अन्तर के कारण सामान्यतया राष्ट्रीय हित का अर्थ मिले जुले रूप में किया जाता है यह अर्थ परस्पर विरोधी दृष्टियों के कई समुच्चयों पर निर्भर होता है। प्रथम तो, कार्य स्तर पर किये जाने वाले फैसले एक संकीर्ण सन्दर्भ में सोचे जाने लगते है। और इनमें कुछ आयामों पर विचार किया जाता है। दूसरे, कार्यस्तर पर तर्क की प्रक्रिया आगमनात्मक (इंडक्टिव) होने लगती है। जबकि अन्य स्तरों पर यह अधिक निगमनात्मक (डिडक्टिव) हो जाती है। तीसरे, सैद्धान्तिक दिलचस्पी वाले लोग कुल चीज में ज्यादा दिलचस्पी रखते हैं जबकि वैज्ञानिक रूझान वाले लोग इस सम्प्रत्यय के अकेले आयाम पर अधिक बल देते हैं ।

इन कठिनाइयों के कारण कुछ लोगों का मानना है कि 'राष्ट्रीय हित' का कोई सार्थक विश्लेषण सम्भव ही नहीं है। जैसे कि रेमों आरो का कहना है कि यह केवल एक सिद्धान्ताभास (स्यूडो थियरि) है, तथा इसके अर्थ को समझना सम्भव नहीं है। जेम्स रेजिनो भी आरों के इस संशयवाद को स्वीकार करते हैं ।

इन कठिनाइयों को नकारा नहीं जा सकता है, किन्तु इसके साथ ही राष्ट्रीय हित के सिद्धान्त को भी नाकारा नहीं जा सकता है। इसलिए यहाँ कुछ अलग अलग परिभाषाओं के आधार पर इसका अर्थ समझाने का प्रयास किया जाएगा।

चार्ल्स लर्च तथा अब्दुल सईद ने राष्ट्रीय हित को परिभाषित करते हुए कहा है:

''व्यापक, दीर्घकालीन और सतत उद्देश्य जिसकी सिद्धि के लिए राज्य, राष्ट्र और सरकार में सब अपने को प्रयत्न करता हुआ पाते हैं राष्ट्रीय हित है।''

अतः राष्ट्रीय हित कुछ ऐसे लक्ष्य, अभिलाषाएं तथा कार्य होते हैं जिनको एक राज्य पूरा करना चाहता है ताकि वह दूसरे राज्यों की तुलना में अधिक प्रभावी बन सके । यह लक्ष्य राज्य, समय तथा परिस्थिति के साथ बदलते रहते हैं ।

बॉन डिक ने राष्ट्रीय हित की परिभाषा ऐसी चीज के रूप में की है जिसकी रक्षा या उपलब्धि राज्य एक दूसरे के मुकाबले में करना चाहते हैं । अन्य राज्यों के मुकाबले में एक राज्य जो अभिलाषाएं रखता हैं वे मोटे तौर से विदेश नीति का ध्येय बनती है और इन ध्येयों को ही राष्ट्रीय हित के नाम से जाना जाता है। इन ध्येयों को दो वर्गों में बाटा जा सकता है। लक्ष्य (गोल्स) और उद्देश्य (औब्जेक्टिब्ज) विदेश नीति के लक्ष्य दीर्घकालीन हित है। जबकि उद्देश्य केवल तात्कालिक या अल्पकालीन होते हैं ।

इसी विचार के अनुरूप जोसेफ फ्रेंकेल ने अपनी पुस्तक 'नेशनल इन्टरेस्ट' में लिखा है कि राष्ट्रीय हित किसी राष्ट्र की आकांक्षाओं, विदेश नीति के क्रियात्मक व्याख्यात्मक तथा विवादों का निरूपण करने वाले तत्वों को कहा जाता है। राष्ट्र की जो इच्छाएं होती हैं वह उसकी नीति को प्रभावित करती हैं । यह इच्छाएं उस राज्य के लोगों के मूल भूत मूल्यों से प्रभावित होती हैं । इसी विचार को

प्रस्तुत करते हुए पेडलफोर्ड और लिंकन ने कहा है कि - ''राष्ट्रीय हित की अवधारणा समाज के मूल भूत मूल्यों से जुड़ी हुई है। ये मूल्य हैं - राष्ट्र का कल्याण, उसके राजनीतिक विश्वासों का संरक्षण, जीवन पद्धति, क्षेत्रीय अखण्डता तथा सीमाओं की सुरक्षा।'' उपयुक्त परिभाषाओं में जहाँ पैडलफोर्ड और लिंकन ने राष्ट्रीय हित को मूल्यों से जोड़ा है वहीं अन्य लेखकों जैसे - चार्ल्स लर्च, अब्दुल सइद ने उसे लक्ष्यों के रूप में देखा है । कुछ लोगों ने 'राष्ट्रीय हित' शब्द का प्रयोग लक्ष्यों के विश्लेषण के लिये भी किया है । इन भिन्नताओं के कारण इसके अर्थ में अस्पष्टता का बोध होता है। पाल सीबी ने इस अस्पष्टता को व्यक्त करते हुए बताया हैं कि 'राष्ट्रीय हित' शब्दावली का प्रयोग तीन अर्थों में होता है । प्रथम, राष्ट्रीय हित के विचार में भविष्य में प्राप्त होने वाले ऐसे आदर्श लक्ष्य सन्निहित हैं जिन्हें कोई राष्ट्र अपनी विदेश नीति के माध्यम से प्राप्त करना चाहता है । इसे राष्ट्रहित की आदर्शपरक नागरिक धारणा के नाम से पुकारा जाता है। द्वितीय, राष्ट्रहित का अन्य महत्वपूर्ण अर्थ वर्णनात्मक है । इस अर्थ में राष्ट्रीय हित कोई आध्यात्मिक वस्तु नहीं है परन्तु यथार्थपरक है। वह उन लक्ष्यों को बताती हैं जिन्हें कोई भी राष्ट्र निरन्तर अपने नेतृत्व के माध्यम से प्राप्त करने का प्रयास करता है। तृतीय, राष्ट्रीय हित वह लक्ष्य है जिन्हें किसी राष्ट्र के कर्णधार स्वीकार करते हैं ।

इन भिन्न अर्थों को राष्ट्रीय हित के साथ जोड़ते हुए राबर्ट ओस्गुड ने राष्ट्रीय हित को वह स्थिति बताया है जिसको कि राष्ट्र इस लिए महत्व देते हैं क्योंकि उसमें उनको लाभ होता है ।

अतः राष्ट्रीय हित सरल शब्दों में देश के कल्याण को कहा जाता है। किन्तु अनेक विचारकों ने इस 'हित' अथवा कल्याण को अलग अलग दृष्टिकोण से देखा है। इस कारण उसकी अलग अलग परिभाषाएं उसको एक अस्पष्ट सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत करती हैं। इस लचीलेपन तथा अस्पष्टता को दूर करने के लिए राष्ट्रीय हित के विभिन्न प्रकारों का अध्ययन किया जाएगा।

4.4 राष्ट्रीय हित के प्रकार

राष्ट्रीय हित के अर्थ को पूर्णतः समझने के लिए उसके विभिन्न प्रकारों को समझना आवश्यक होता है। थामस राबिन्सन ने राष्ट्रीय हित को छः वर्गों में बाँटा है। उनके अनुसार हित प्राथमिक, गौड़, स्थायी, परिवर्तनशील, सामान्य अथवा विशिष्ट हो सकते हैं ।

(क) प्राथमिक हित अथवा प्रथम कोटि के हित - वे होते हैं जो किसी राज्य के लिए सर्वाधिक महत्व रखते हैं और जिनकी रक्षा के लिए राज्य बड़ें से बड़ा बलिदान देने के लिये सदा तैयार रहते हैं । राष्ट्र की सुरक्षा तथा अखण्डता इस प्रकार का हित होती है।

(ख) गौण हित- वे हित होते हैं जो प्राथमिक हितों से कम महत्व रखते है, किन्तु फिर भी राज्य की सत्ता बनाए रखने के लिये आवश्यक होते हैं । इस वर्ग में जो हित आते हैं वह है- विदेशों में अपने देश के राजदूतों की राजनीतक उन्मुक्तियों की तथा नागरिकों की सुरक्षा करना।

(ग) स्थायी हित - वे हित होते हैं जो राज्य के हितों में सदैव बने रहते हैं तथा दीर्घकालीन लक्ष्य एवं प्रयोजन प्रस्तुत करते हैं। भारत का एक स्थायी हित इस प्रयोजन में हैं कि देश का शक्तिपूर्ण आर्थिक विकास हो सके । उसी प्रकार ग्रेट ब्रिटैन का एक स्थायी हित रहा है अपने उपनिवेशों तथा विदेशी व्यापार की रक्षा के लिए महा समुद्रों में नौचालन की स्वतंत्रता को बनाए रखना ।

(घ) परिवर्तनशील हित - वे ऐसे हित होते हैं जो कोई राष्ट्र किन्हीं विशेष परिस्थितियों में ही अपने राष्ट्रीय हित के लिए आवश्यक समझता है । यह हित लोकमत तथा विभिन्न विचारों से प्रभावित होते हैं तथा अल्प समय अथवा एक विशेष समय पर ही अपनाए जाते हैं। यह प्राथमिक एवं गौण हितों से भिन्न होते हैं ।

ङ) सामान्य हित- ये वह परिस्थितियाँ होती हैं जो उस देश को सामान्य रूप से अथवा आर्थिक, व्यापारिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में लाभ पहुँचाने वाली होती हैं जैसे भारत के लिये आतंकवाद पर

नियन्त्रण पाना अथवा ग्रेट ब्रिटेन के लिए यूरोप में शक्ति सन्तुलन बनाए रखना एक सामान्य हित हैं।

च) विशिष्ट हित - वे हित हैं जो सामान्य हितों से उत्पन्न होते हैं और उनके साथ सम्बन्धित होते हैं । उदाहरण के लिए, यूरोप में शक्ति सन्तुलन को बनाए रखना ब्रिटेन का सामान्य हित था, किन्तु इस हित को बनाए रखने के लिये यह भी आवश्यक था कि ब्रिटिश द्वीप समूह के सामने इंगलिश चैनल के उस पार बैल्जियम तथा हालैण्ड के प्रदेशों में यूरोप की किसी महाशक्ति का अधिकार न हो यदि नेपोलियन और हिटलर जैसा कोई सेनापति इस प्रदेश पर अधिकार कर ले तो वह वहाँ से इंग्लैण्ड पर हमला करने की और जीतने की योजना बना सकता था। अतः ब्रिटेन का विशिष्ट हित इस बात में रहा कि बैल्जियम सदैव तटस्थ बना रहे और इस पर यूरोप की किसी महाशक्ति का प्रभुत्व न हो।

जोसेफ फैन्किल ने 'नैशनल इनटरेस्ट' नाम की अपनी पुस्तक में तीन अन्य प्रकार के हितों की चर्चा की है : आस्पिरेशनल, ओपरेशनल, तथा एक्प्लेनेटरी और पालेमिकल । 'आस्पिरेशनल हित' में वह लक्ष्य सम्मिलित हैं जिनके द्वारा एक देश एक अच्छे जीवन के अपने दर्शन को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहता है, यदि वह समभव हो तो (The vision of good life, do some ideal set of goals which the state would like to realise if this were possible) आपरेशनल हित वह नीतियाँ एवं हित कार्यक्रम होते हैं जिनको एक देश वास्तविक रूप में अपने लाभ के लिए अपनाता है। (the sum total of its interests and policies actually pursued), तीसरे स्तर के हितों का प्रयोग विदेश नीति को समझाने, उसका मूल्यांकन करने, उसकी तार्ककिकता को समझने तथा उसकी आलोचना करने के लिये होता है। (to explain, evaluate, rationalise or criticize foreign policy)

राबिन्सन ने भी तीन प्रकार के अन्य अन्तर्राष्ट्रीय हितों का वर्णन किया है वे हैं - समान हित, पूरक हित तथा विरोधी हित।

(क) समान हित – वे हित होते हैं जो दो या दो से अधिक राज्यों के लिये तुल्य रूप से लाभदायक और उपयोगी होते हैं जैसे कि दूसरे विश्वयुद्ध के बाद अमरीका तथा ब्रिटेन दोनों का समान हित इसमें था कि यूरोप पर सोवियत संघ या अन्य किसी महाशक्ति का आधिपत्य्य न स्थापित हो।

(ख) पूरक हित – ये हित दो देशों के लिये समान नहीं होते हैं किन्तु ये दो देशों में कुछ विशेष प्रश्नों पर समझौतों का आधार बन सकते हैं जैसे ब्रिटेन और पुर्तगाल के हित। ब्रिटेन को पुर्तगाल के साथ मैत्री बनाए रखने में और उसे स्वतंत्र बनाए रखने में यह लाभ था कि इसके द्वारा वह स्पेन की शक्ति पर नियन्त्रण रख सकता था और अन्ध महासागर में अपनी शक्ति का पूरा विस्तार कर सकता था। इसी प्रकार पुर्तगाल को भी ब्रिटेन के साथ सम्बन्ध बनाए रखने और उसकी समुद्री प्रभुता को सुस्थिर बनाने में यह बड़ा लाभ था कि वह स्पेन के सम्भावित प्रभुत्व से सुरक्षा प्राप्त कर सकता था।

(ग) परस्पर विरोधी हित - वे हित होते हैं जो दो राष्ट्रों के बीच टकराव अथवा संघर्ष का कारण बनते हैं । उदाहरण के लिए भारव एवं पाकिस्तान दोनों ही कश्मीर को अपने राष्ट्र का भाग बनाना चाहते हैं । इस हित को प्राप्त करने के लिए दोनों के बीच तीन बार सैनिक संघर्ष हो चुका हैं। इस प्रकार के हितों में 'जीरो सम' की स्थिति होती है। एक देश का लाभ दूसरे देश को हानि पहुँचाता है।

किन्तु दो देशों के हित सर्वदा अभिन्न अथवा भिन्न नहीं बने रहते हैं । अगर एक समय दो राष्ट्रों के हित पूरक हैं तो आगे परस्पर विरोधी भी हो सकते हैं । स्थिति के परिवर्तन के साथ हित

भी बदलते रहते हैं ।

4.5 राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि के साधन

एक राष्ट्र निरन्तर प्रयास करता है कि वह अपने राष्ट्रीय हितों को पूरा कर सके । अधिकतर विभिन्न राष्ट्रों के हितों में विरोध और संघर्ष पाया जाता है। इसलिए देशों की विदेश नीति का उद्देश्य अपने विदेशी सम्बन्धों को इस प्रकार से संचालन करना है जिससे राष्ट्रीय हित की सिद्धि यथा सम्भव अधिक से अधिक अनुकूल रूप में होने की गारण्टी रहे।

राष्ट्रीय हितों की सिद्धि के लिए राज्य अनेक प्रकार के साधन अपनाते हैं पामर और पर्किन्स के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि के पाँच प्रमुख साधन हैं । ये साधन हैं -

(क) कूटनीतिक साधन

(ख) प्रचार और राजनीतिक युद्ध

(ग) आर्थिक साधन

(घ) साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद

(ङ) युद्ध

(क) कूटनीतिक साधन -

कूटनीतिक साधन अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के व्यवस्थित हल का साधन होने के साथ साथ उसकी शक्ति बढ़ाने का एक शस्त्र भी है । इस कारण वह राष्ट्रीय हित के एक प्रमुख साधन के रूप में स्वीकार किए जाते हैं । इसके अतिरिक्त अन्य राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करके भी एक राष्ट्र के हितों की रक्षा एवं अभिवृद्धि की जा सकती है। अतः कूटनीति राष्ट्रीय हितों को बढ़ाने में सहायक होती है। तथा वह राष्ट्रीय शक्ति के अन्य तत्वों को गतिशील एवं एकरूपता प्रदान करती है।

(ख) प्रचार और राजनीतिक युद्ध -

प्रचार के द्वारा एक राष्ट्र अपनी उच्च प्रतिष्ठा बना सकता है तथा अपनी नीतियों के प्रति दूसरे देशों की सक्रिय सदभावना प्राप्त कर सकता है। अतः प्रचार द्वारा राष्ट्रीय हित के अन्य साधनों का अधिक कुशलता से क्रियान्वयन होता है इसका प्रयोग राजनीतिक युद्ध के संचालन में भी होता है यदि प्रचार का उद्देश्य विरोधी राज्य को निर्बल बनाना, डराना या धमकाना अथवा अपनी नीति मनवाने के लिए विवश करना हो तो वह राजनीतिक युद्ध का एक अंग बन जाता है।

(ग) आर्थिक साधन -

एक राष्ट्र के द्वारा अपने विविध हितों की पूर्ति के लिए अनेक प्रकार के आर्थिक साधनों का प्रयोग किया जाता है । इसका विस्तृत वर्णन विदेश नीति के भाग में किया गया है।

(घ) साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद -

साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद को राष्ट्रीय हित की प्राप्ति के लिए साधन के रूप में अपनाया गया है। आर्थिक लाभ और राष्ट्रीय सम्मान के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए शक्तिशाली राष्ट्रों ने साम्राज्यवाद की नीति को अपनाया तथा उसे वाईट मैक्स बर्डन के आधार पर न्यायपूर्ण बतलाया । राष्ट्रीय सुरक्षा, अतिरिक्त जनसंख्या, वैचारिक उद्देश्य तथा धार्मिक उद्देश्यों की पूर्ति में भी यह सहायक रहे हैं।

(ङ) युद्ध - अन्तिम विकल्प के रूप में युद्ध का हिंसात्मक साधन प्रयुक्त किया जाता है (विदेश नीति का भाग देखें)

अतः राजनीति में सफलता प्राप्त करने के लिए एक एक राष्ट्र पहले शन्तिपूर्ण साधनों से जैसे कूटनीति अथवा प्रचार के द्वारा कार्य करेगा, फिर आर्थिक साधनों का प्रयोग करेगा तथा अन्त में सफलता प्राप्ति के लिये वह हिंसा का भी मार्ग अपना सकता है । इन साधनों का निरन्तर प्रयोग किया गया है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में प्राचीन समय में भी इन साधनों का उल्लेख किया था। उन्होंने लिखा था कि, 'दुर्बल राजाओं को समझा बुझाकर तथा यदि आवश्यकता हो तो कुछ देकर अपने अनुकूल बना लेना चाहिए किन्तु जो राजा सबल हो उसको भेद और दण्ड द्वारा वश में करना चाहिये।''

प्रत्येक राज्य अपने उद्देश्यों, परिस्थिति तथा सामर्थ के आधार पर इन साधनों का प्रयोग करते हैं । अधिकतर एक से अधिक साधन का प्रयोग साथ साथ किया जाता है।

4.6 राष्ट्रीय हित तथा विदेश नीति

राष्ट्रीय हित विदेश नीति का प्रमुख सिद्धान्त है। विदेश नीति का प्रारम्भ राष्ट्रीय हित से ही होता है। हेन्स मार्गेन्थाऊ का विचार है कि जब तक विश्व राजनीतिक रूप में राष्ट्रों में बँटा रहेगा, राष्ट्रीय हित विश्व की राजनीति का अन्तिम लक्ष्य रहेगा । एक देश का हित ही उसकी नीति का आधार होता है। क्योंकि एक देश लगातार किसी अन्य आधार पर काम नहीं करता है। लार्ड पार्मस्टन ने कहा था कि 'हमारे कोई स्थायी मित्र या विरोधी नहीं है। केवल हमारे हित ही स्थायी होते हैं तथा उनको पूरा करना ही हमारा कर्तव्य होता है।' किसी राष्ट्र के आदर्श चाहे कितने ऊँचे हो तथा उनको पूरा करने की इच्छा कितनी ही वास्तविक हो उसको अपनी विदेश नीति अपने हितों के आधार पर ही निधार्रित करनी होती है। मार्गेन्थाऊ एलफ्रिड वुलफर्स तथा अमरीकी राष्ट्रपति जार्ज वौशिंगटन ने राष्ट्रीय हित तथा विदेश नीति के सम्बन्ध को स्पष्ट किया है।

हालाँकि राज्य यह स्पष्ट रूप में स्वीकार नहीं करते हैं कि उनकी विदेश नीति राष्ट्रीय हित पर आधारित है। किन्तु कोई भी राष्ट्रीय नेता किसी दूसरे देश के हितों को ध्यान मे रखकर नीति नहीं बनाता है। दूसरें देशों के हित हमारे राष्ट्रीय हित के पूरक या अनुरूप हो सकते हैं यदि ऐसा नहीं है तो कोई देश अपने को हानि पहुँचाने वाली नीति नहीं अपनायेगा। अमरीका के सेकरेटरी आफ स्टेट, ध्यूम्स ने 1920 में कहा था ।

''विदेश नीतियां राष्ट्रीय हित के व्यवहारिक अवधारणाओं का परिणाम होती है''।

मार्गेन्थाऊ ने माना है कि विदेश नीति शान्तिपूर्ण साधनों के द्वारा राष्ट्रीय हितों को सुरक्षित रखने का प्रयास करती है। नीति को बनाने अपनाने तथा कार्यान्वित करते समय राष्ट्रीय नेताओं तथा उनके सहायकों के सम्मुख विरोधी दावे तथा सिद्धान्त प्रस्तुत होते हैं, किन्तु राष्ट्रीय हित के व्यवहारिक न कि आदर्श सिद्धान्तों के आधार पर नीति बनाई जाती है। साथ ही राष्ट्रीय लक्ष्यों तथा साधनों को अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के अनुरूप भी ढालना पड़ता है।

प्रोफेसर रेनोल्ड का यह विचार है कि विदेश नीति राष्ट्रीय हित पर केवल तब ही आधारित हो सकती जब कि विभिन्न राष्ट्रों के हित एक से हों यह भी पाया गया है कि कुछ नेता विदेश नीति को अपनी आन्तरिक स्थिति को सुदृढ़ करने के लिये प्रयुक्त करते हैं । उदाहरण के लिए, इन्डोनेशिया के सुकारनों ने अपनी जनता का ध्यान आर्थिक और सामाजिक समस्याओं से हटाने के लिए मलेशिया के प्रति टकराव की नीति अपनाई थी।

यह भी देखा जाता है कि राष्ट्रीय हित का अर्थ स्पष्ट न होने के कारण मौजूदा राजनीतिक संस्थाओं को स्थापित / कायम रखना ही हित माना जाता है यद्यपि वह आम जनता के हितों के विपरीत ही क्यों न हो । प्रोफेसर रेनोल्ड का मानना है कि राष्ट्रीय हित का वास्तविक अर्थ जानना कठिन है इसलिए यह सिद्धान्त पूर्णतः उपयोगी नहीं है। (the concept of national interest is, therefore, an unfortunate and on the whole unhelpful one.")

इन कठिनाइयों के होते हुए भी, विदेश नीति का संचालन राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से ही किया जाता है । राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हितों को प्राप्त करने के लिए सिद्धान्तों के आधार पर काम नहीं करता है। आन्तरिक विरोधाभासों के फलस्वरूप राजनीति में सिद्धान्तों का प्रभाव कम होता जा रहा है। यह पाया जाता है कि विभिन्न सत्ताधारी दलों और अपने अपने निजी अथवा सार्वजनिक दर्शनों के बावजूद ब्रिटिश, अमरीकन, फ्रेंच और रूसी विदेश नीति में अनेक ऐसी एकताएं विद्यमान हैं जो व्यक्तिगत विश्वासों अथवा सिद्धान्त का अतिक्रमण करती हैं ।

राष्ट्रीय हित के ऊपर आधारित होने के कारण राष्ट्र की विदेश नीति में लचीलापन होता है। जो उसे परिस्थिति के अनुरूप बदलने का अवसर देता है। उसमें सिद्धान्तों की दृढ़ता नहीं होती है विदेश नीति का निर्धारण करते समय उसके हित प्राथमिक होते हैं तथा उसके सामाजिक, धार्मिक दर्शन और सैद्धान्तिक विचार गौण होते हैं । समय और परिस्थिति के अनुसार राष्ट्रीय हित की जो माँग होती हैं उसी के अनुरूप विदेश नीति का संचालन किया जाता है। इसमें भी हितों का क्रम अथवा पदसोपान बैठाना पड़ता है यह विदेश नीति का कार्य होता है कि वह हितों के इस पदसोपान का उपयुक्त निर्धारण करे और दूसरे राष्ट्रों की विदेश नीति का मूल्यांकन करते हुये अपना मार्ग निश्चित करें । सैनिक विज्ञान और तकनीक में प्रगति, आर्थिक समृद्धि अथवा देश के विघटन आदि विभिन्न तत्वों के फलस्वरूप राष्ट्रीय हितों में सामायिक परिवर्तन आते रहते हैं और तदनुरूप नीति में बदलाव आता रहता है । अतः राष्ट्र अपने हितों को ध्यान में रखकर ही अपने लक्ष्यों को निर्धारित करता है, तथा विदेश नीति इन लक्ष्यों को प्राप्त करने का केवल साधन होती है। संक्षेप में, राष्ट्रीय हित अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की कुंजी है तथा विदेश नीति का आधार है।

राष्ट्रीय हित पर प्रतिबाध्यता -

किसी राज्य की विदेश नीति उसके हितों पर आधारित होती है। किन्तु वास्तविक रूप में लागू करते समय यह ध्यान रखना आवश्यक होता है कि वह राष्ट्र के आकार, संस्कृति तथा राजनीति के आधार पर कार्य करें। मार्गेन्थाऊ का मानना है कि एक देश की विदेश नीति को अन्य तत्वों को भी ध्यान में रखना होता है। जैसे 'सब-नेशलन' , 'अदर नेशनल' तथा 'सुपर-नेशलन' हितों को पूर्ण करना। सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय पर्यावरण का भी गहरा प्रभाव विदेश नीति के निर्माण पर पड़ता है । एक राष्ट्र को विभिन्न समझौते, सन्धियाँ तथा वादे पूरे करने पड़ते हैं ताकि अन्य देशों के हितों के अनुरूप वह अपनी नीति का निर्माण कर सके । अन्तर्राष्ट्रीय तत्वों के साथ साथ निर्णय निर्माताओं को आन्तरिक तत्वों जैसे भूगोल, प्राकृतिक संसाधन, औद्योगिक क्षमता इत्यादि को भी ध्यान में रखना पड़ता है। एक देश के पास सीमित साधन उपलब्ध होते हैं अतः उसे एक स्पष्ट नीति बनाकर उसके अनुरूप आन्तरिक एवं विदेश नीति दोनों को पूरा करने के लिए इन साधनों का तार्किक प्रयोग करना चाहिए।

4.7 सारांश

राष्ट्रीय हित अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक प्रमुख आधार है । यह हित अनेक प्रकार के होते हैं - प्राथमिक हित, गौण हित, सामान्य हित, विशिष्ट हित, पूरक हित इत्यादि। इन विभिन्न प्रकार के हितों को पूर्ण करने के लिए सभी राज्य निरन्तर प्रयास करते हैं । किसी भी देश की विदेश नीति

राष्ट्रीय हित पर ही आधारित होती है। हालांकि हर देश कुछ आदर्शों एवं सिद्धान्तों का समर्थन करता है किन्तु व्यवहारिक रूप में उसका राष्ट्रीय हित ही नीति निर्माण में प्रमुख भूमिका निभाता है। अतः राष्ट्रीय हित अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की एक प्रमुख अवधारणा है।

4.8 संदर्भ ग्रन्थ

1. प्रकाश चन्द्रा : इन्टरनेशनल पोलिटिक्स
2. पामर और पार्किन्स : अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध
3. महेन्द्र कुमार : अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक तत्व
4. जोसेफ फ्रान्केल : नेशनल इन्टरेस्ट
5. पैडेलफोर्ड और लिन्कन : इन्टरनेशनल पोलिटिक्स
6. प्रेम अरोरा :इन्टरनेशनल रिलेशन्स
7. पी.डी. शर्मा : अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध
8. शान्ति देव बाला : अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध
9. चार्ल्स श्लाइसर : इन्ट्रोडक्शन टू इन्टरनेशनल रिलेशन्स
10 क्विन्सी राईट : द स्टडी आफ इन्टरनेशनल रिलेशन्स

4.9 संबंधित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. राष्ट्रीय हित से आप क्या समझते हैं? इसके विभिन्न प्रकार कौन कौन से हैं ?
2. राष्ट्रीय हित की परिभाषा कीजिए तथा इसकी अभिवृद्धि के साधनों की चर्चा कीजिए।
3. 'राष्ट्रीय हित विदेश नीति का आधार है।' टिप्पणी कीजिए ।
4. एक देश के विदेश नीति राष्ट्रीय हित तथा राष्ट्रीय शक्ति के साथ किस प्रकार सम्बन्धित होती है?
5. राष्ट्रीय हित की अवधारणा पर एक निबन्ध लिखिए ।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. राष्ट्रीय हित का क्या अर्थ है?
2. राष्ट्रीय हित की अवधारणा कब प्रारम्भ हुई?
3. राबिन्सन ने राष्ट्रीय शक्ति के कौन कौन से प्रकार बताए हैं?
4. विदेश नीति का आधार क्या है?
5. राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि के साधन कौन से हैं?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. राष्ट्रीय हित अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का क्या कहा जाता है?

   क) साधन (ग) लक्ष्य

   ख) शक्ति घ) प्रकृति

2. राष्ट्रीय हित किस का आधार है ?

   क) व्यापार ग) शान्तिपर्ण सहअस्तित्व

3. राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि के साधनों में कौन सा शामिल नहीं है?

क)	युद्ध	ग)	शान्ति वार्ता
ख)	आर्थिक साधन	घ)	राजनय

4. किस प्रकार के हित को पूरा करने के लिऐ राष्ट्र बड़ा बलिदान करने को तैयार रहता है?

क)	प्राथमिक हित	ग)	विशिष्ट हित
ख)	गौण हित	घ)	परिवर्तनशील हित

4.10 प्रश्नोत्तर

1. (ग)
2. (ख)
3. (ग)
4. (क)

इकाई–5 राष्ट्रीय शक्ति

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य
5.1 प्रस्तावना
5.2 राष्ट्रीय शक्ति का अर्थ
5.3 राष्ट्रीय शक्ति के प्रकार
5.4 राष्ट्रीय शक्ति के तत्व
5.5 राष्ट्रीय शक्ति के प्राकृतिक तत्व
5.6 राष्ट्रीय शक्ति के सामाजिक तथा आर्थिक तत्व
5.7 शक्ति के प्रत्ययात्मक तत्व
5.8 राष्ट्रीय शक्ति का मूल्यांकन
5.9 सारांश
5.10 सन्दर्भ ग्रन्थ
5.11 संबंधित प्रश्न
5.12 प्रश्नोत्तर

5.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप -

- राष्ट्रीय शक्ति का अर्थ स्पष्ट कर सकेंगे ।
- राष्ट्रीय शक्ति के प्रकारों की विवेचना कर सकेंगे ।
- राष्ट्रीय शक्ति के अवयवों की चर्चा कर सकेंगे ।
- राष्ट्रीय शक्ति के मूल्यांकन में आने वाली त्रुटियों पर प्रकाश डाल सकेंगे ।
- अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति की भूमिका का विश्लेषण कर सकेंगे ।

5.1 प्रस्तावना

राष्ट्रीय शक्ति में वृद्धि के लिए संघर्ष घरेलू एवं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक अभिन्न अंग है। अपने अस्तित्व को बनाए रखने के प्रयास में राज्यों को निरन्तर इस संघर्ष में लगे रहना होता है। रीनहोल्ड नीबर ने स्पष्ट कहा है कि जीने की इच्छा तथा शक्ति की इच्छा के बीच अन्तर बता पाना सम्भव नहीं है। इस कारण, शक्ति के लिए लगातार संघर्ष चलता रहता है । राज्य यह तो स्वीकार करते हैं कि शक्ति का दुरूपयोग होता है परन्तु वह शक्ति की आवश्यकता से किसी भी स्थिति में इन्कार नहीं करते हें ।

राष्ट्रीय शक्ति की अवधारणा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का केन्द्र बिन्दु है इस इकाई में शक्ति की अवधारणा को समझने के लिए विभिन्न आयामों को ध्यान में रखा जाएगा । सबसे पहले अलग अलग विचारकों की परिभाषा के आधार पर इसका अर्थ स्पष्ट किया जायेगा। शक्ति के विभिन्न प्रकार क्या है। - इसकी भी चर्चा होगी । शक्ति के यह प्रकार उसको निर्धारित करने वाले तत्वों पर आधारित होते हैं । उसके साथ ही शक्ति किस आधार पर बढ़ सकती है। यह जानने के लिए शक्ति के तत्वों

का भी परिश्रण किया जाएगा । शक्ति के विभिन्न तत्व- प्राकृतिक सामाजिक एवं प्रत्ययात्मक इन तीन भागों में विभक्त करके समझे जाएंगे । यह सभी तत्व अपने अपने स्थान पर महत्वपूर्ण है किन्तु एक राष्ट्र किस प्रकार से इन तत्वों का प्रयोग करता है।, वह उसकी शक्ति को निर्धारित करता है। शक्ति का मूल्यांकन करना कठिन है किन्तु यह तत्व उसका संकेत देते हैं ।

5.2 राष्ट्रीय शक्ति का अर्थ

राष्ट्रीय शक्ति का अर्थ है - एक देश की ताकत । अधिकतर राष्ट्र अपनी सेनिक क्षमता के आधार पर ही कम शक्तिशाली या अधिक शक्तिशाली माने जातें हैं। सभी स्वतंत्र देशों का यह प्रयास होता है कि वह अपनी सैनिक क्षमता इतनी बढ़ाए कि उनकी संप्रभुता एवं अखण्डता पर कोई विपक्षी आघात न कर सके । इसी आधार पर शक्ति की परिभाषा करते हुए कुछ विद्वानों ने राष्ट्रीय शक्ति को सेना की क्षमता से जोड़ा है। हेरल्ड एवं मार्गरेट स्प्राउट ने शक्ति को केवल सैनिक शक्ति के रूप में देखा है । इनिस क्लाड ने भी शक्ति के सैनिक तत्व को केन्द्रीय माना है किन्तु अधिकतर यह माना जाता है कि राष्ट्रीय शक्ति का अर्थ केवल शारीरिक एवं सैनिक शक्ति तक ही सीमित नहीं होता है । इसको एक मनोवैज्ञानिक अवधारणा के रूप में अपनाया जाता है हैन्स जे. मारगेन्थाऊ ने शक्ति को राजनीतिक शक्ति के शब्दों में समझा है राष्ट्रीय शक्ति एक तुलनात्मक परिवर्तन शील सिद्धान्त है इस कारण इसको स्पष्ट रूप में समझने के लिए अलग अलग पक्षों को समझा जाएगा। कुछ प्रमुख परिभाषाओं के आधार पर इसका अर्थ स्पष्ट किया जाएगा ।

मार्गेन्थाऊ ने अपनी पुस्तक 'पालटिक्स अमंग नेशन्स' में राष्ट्रीय शक्ति को राष्ट्र की वह शक्ति बताया है जिसके आधार पर कोई एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों के कार्यों, व्यवहारों तथा नीतियों पर प्रभाव एवं नियंत्रण रखने की चेष्टा करता है। यह राष्ट्र की वह क्षमता है जिसके बल पर वह दूसरे राष्ट्रों से अपनी इच्छा के अनुरूप कोई कार्य करा लेता है । इस परिभाषा के अनुसार मारगेन्थाऊ राष्ट्रीय शक्ति को एक मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध के रूप में समझते हैं जिसमें उसका प्रयोग करने वाला राष्ट्र दूसरे के मस्तिष्क पर प्रभाव डालकर उसकी गतिविधियों पर नियन्त्रण करता है। इसके अनुसार 'प्रभाव' पर बल दिया गया है।

आर्गेनस्की ने भी इसी प्रकार से शक्ति को वह साधना माना है जिसके द्वारा एक राष्ट्र अपने हितों की प्राप्ति के लिए प्रभाव डाले । उनके अनुसार -

''अपने हितों के अनुकूल दूसरे राष्ट्रों के व्यवहार को प्रभावित करने की योग्यता का नाम शक्ति है।''

राबर्ट ढाल का मानना है कि एक राष्ट्र तभी शक्तिशाली माना जाएगा जब वह दूसरे राष्ट्रों के साथ अपने सम्बन्धों में अपने हितों को पूरा कराने में सफल हो । उसकी सफलता इस बात में होगी कि वह दूसरे राष्ट्रों से वह कार्य करवा ले जो वह चाहता है तथा उस देश की नीतियों को अपने राष्ट्रीय हितों के अनुरूप परिवर्तित कर सके । अपनी इच्छा के आधार पर यदि वह दूसरे राष्ट्र को कार्य करवाता है तो वह शक्तिशाली माना जाएगा ।

कुछ विचारकों ने प्रभाव पर बल दिया हे तथा उनका मानना है कि शक्ति एक ऐसी क्षमता है जिसके द्वारा दूसरे राष्ट्रों को एक देश अपनी सम्पन्नता एवं भौगोलिक क्षेत्रफल के आधार पर प्रभावित कर सकता है । शक्ति अपने हितों की पूर्ति एवं दूसरे देशों से सम्मान तथा आज्ञापालन दिलवाती है।

जहाँ कुछ लोग प्रभाव को महत्व देते हैं उधर दूसरी ओर जार्ज श्वार्जनवर्ज़र का मानना है कि शक्ति का सम्बन्ध बल प्रयोग से है न कि अनुनय से उन्होने -

शक्ति को अपनी इच्छा का दूसरों पर आरोपीकरण तथा अपालन की स्थिति में प्रभावकारी अनुशासनात्मक कार्यवाही करने की क्षमता कहा है।

इस परिभाषा में शक्ति को उन्होंने 'प्रभाव' तथा 'बल' दोनों से पृथक रखा है। बल प्रयोग में वह चेतावनी सम्मिलित होती है जो कि प्रभाव में नहीं होती है किन्तु वह बल के प्रयोंग की हद तक नहीं जाता है । साथ ही आज के विश्व की बढ़ती हुई आत्मनिर्भरता को ध्यान में रखते हुये अनुशासनात्मक कार्यवाही का शक्ति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

हॉस ने अपनी परिभाषा में 'बल' शक्ति के तुल्य माना है । उनके शब्दों में -

'शक्ति वह बल है जो राष्ट्र अपने हित की पूर्ति के लिए दूसरे राष्ट्र पर डालता है।''

चार्ल्स पी. श्लाइश्वर ने शक्ति की परिभाषा देते समय सकारात्मक तथा नाकारात्मक तरीकों को जोड़ा है उनके अनुसार शक्ति वह क्षमता है जिसके द्वारा एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों से वह करवाता है जो कि वह स्वयं अथवा अपने आप नही करते । इसके लिये वह था तो उन्होंने पुरस्कार देता है अथवा पुरस्कृत करने का वादा करता है अथवा वह उन्हें किसी मूल्यवान वस्तु की हानि पहुँचाता है या फिर हानि पहुँचाने की धमकी देता है। इस परिवर्तन को लाने के लिये राज्य चारों में से किसी भी एक या एक से अधिक तरीकों का प्रयोग कर सकता है। इसी आधार पर पामर एवं परकिन्स ने कहा है कि शक्ति में प्रभाव बल तथा क्षमता तीनों सम्मिलित होते हैं ।

कार्ल ड्यूट्स ने शक्ति को परिभाषित करते समय एक नए आयाम को प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार वह राष्ट्र शक्तिशाली माना जायेगा जो किसी संघर्ष में विजयी हो तथा समस्त बाधाओं का सामना कर सके । शक्ति को एक विस्तृत रूप में देखते हुए वह राष्ट्रों के बीच के समस्त सम्बन्धों में शक्ति की भागीदारी मानता है। इस कारण, किसी भी संघर्ष एवं परिस्थिति में विजयी होना ही शक्ति का सार माना गया है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है। कि जो राष्ट्र अपने अनुसार कार्यवाही करने की क्षमता रखता है। वही अपने राष्ट्रीय हितों तथा लक्ष्यों को प्राप्त कर पाता है।

हैरल्ड डी. लासवेल तथा अब्राहम कैप्लन ने भिन्न प्रकार की परिभाषा दी है। महत्वपूर्ण निर्णयों में भागीदारी को उन्होंने शक्ति माना है। इस परिभाषा को अधिकतर स्वीकार नहीं किया जाता है। क्योंकि यह शक्ति के समस्त आयामों को सम्मिलित नहीं करती है । दूसरी ओर, शक्ति को दूसरों के व्यवहार को प्रभावित या नियत्रित करने की योग्यता माना जाय तो इस परिभाषा में निर्णयों में हिस्सा लेने की ही बात नहीं, बल्कि निर्णयों पर एकाधिकार करने की बात भी आ जाती है।

इन परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय शक्ति वह क्षमता है जिसके बल पर वह दूसरे राष्ट्रों से अपनी इच्छा के अनुसार कोई कार्य करा लेता है । यह क्षमता सैनिक ताकत के आधार पर हो सकती है। किन्तु इसके अन्य आधार भी होते हैं। विभिन्न प्रकार की शक्ति इन अलग अलग आधारों पर निर्मित होती है।

5.3 राष्ट्रीय शक्ति के प्रकार

राजनीतिक शक्ति तीन रूपों में प्रमुखता अभिव्यक्त होती है - शारीरिक शक्ति, मनोवैज्ञानिक शक्ति तथा आर्थिक शक्ति । शारीरिक शक्ति एक देश की सबसे महत्वपूर्ण शक्ति होती है। राजनीतिक सत्ता के आधीन सेना कार्य करती है तथा सरकार की राजनीतिक शक्ति को यथोचित कर पाती है।

जब सेना की इस अधीनस्थ स्थिति का अन्त होता है तब राजनीतिक शक्ति सैनिक नेतृत्व के हाथों में चली जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय जगत में जब सैनिक क्रान्ति होती है तो राजनीतिक शक्ति का राजनीतिक नेतृत्व के हाथों से सैनिक नेतृत्व के हाथों में हस्तान्तरण होता है । हस्तान्तरण अधिकतर ऐसे देशों में होता है जहाँ लोकतांत्रिक परम्परा का अभाव पाया जाता है । सैनिक शक्ति देश को सुरक्षा प्रदान करती है। तथा सैनिक के तुल्य उसकी शक्ति में वृद्धि करती है। युद्ध के उपखण्ड में इस पर विस्तार से चर्चा होगी ।

मनोवैज्ञानिक शक्ति ऐसे प्रतीकात्मक सूचकों से मिलकर बनती है जो व्यक्तियों के मस्तिष्कों और भावनाओं को प्रभावित करते हैं । यह राज्य प्रचार के माध्यमों द्वारा दूसरे देशों तथा लोगों के विचारों तथा कार्यों को नियन्त्रित करने का प्रयास करते हैं सैनिक ताकत का प्रयोग किए बिना जब कोई देश कूटनीति प्रचार आदि के द्वारा दूसरे को अपने अनुसार काम करने के लिए विवश कर दे तब इस प्रकार की शक्ति का प्रयोग होता है (आगे सजनय तथा प्रचार के साधनों को विस्तार से समझाया जाएगा) ।

आर्थिक शक्ति तीसरी प्रकार की शक्ति होती है। व्यवहार में राजनीतिक शक्ति का प्रयोग करने के लिए आर्थिक साधनों का प्रयोग होता है। कोई भी देश दूसरे देशों के साथ जब आर्थिक सम्बन्ध स्थापित करता है अथवा व्यापार करता है, तब उसका ध्येय केवल विदेशी मुद्रा कमाना और वस्तुओं का विक्रय करना नहीं होता। वह आर्थिक सम्बन्धों के द्वारा अपने राजनैतिक प्रभाव या शक्ति को बढ़ाने का प्रयास करता है। (आर्थिक शक्ति तथा आर्थिक साधन जो विदेश नीति को लागू करने में सहायक होते हैं उसके बारे में तीसरे खण्ड में विस्तार से चर्चा की जाएगी ।

इन तीन प्रमुख प्रकार की शक्तियों के अतिरिक्त - भौगोलिक शक्ति विचारधारा की शक्ति, तकनीकी शक्ति वैज्ञानिक शक्ति, औद्योगिक शक्ति इत्यादि अन्य प्रकार की शक्तियाँ भी होती हैं।

5.4 राष्ट्रीय शक्ति के तत्व

राष्ट्रीय शक्ति की रचना में अनेक तत्व कार्य करते हैं जो कि एक राष्ट्र की शक्ति को प्रभावित करते हैं। इन तत्वों के शक्ति के निर्धारक तत्व नहीं कहा जाता है। क्योंकि इन तत्वों की उपस्थिति किसी देश को शक्तिशाली होने को प्रमाणित नहीं करती है । इन तत्वों के कारण एक देश को शक्ति प्राप्त करने में सहायता मिलती है। कोई भी देश आदि अपने इन तत्वों का उचित उपयोग करता है तब उसकी शक्ति में वृद्धि होने की सम्भावना होती है। बर्टन का मानना है कि एक देश की शक्ति का निर्धारण इन तत्वों के उचित और कौशलपूर्ण प्रयोग से होता है न कि उनकी उपस्थिति के द्वारा"। यह अवयव केवल यह संकेत करते है। कि इनकी उपस्थिति के कारण शक्ति ि वृद्धि में मदद मिलती है। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान रखना चाहिए कि किसी एक अवयव के आधार पर निष्कर्ष निकालना सम्भव नहीं होता है अधिकतर बड़ी संख्या में तत्वों की उपस्थिति और उचित प्रयोग एक देश की शक्ति को बढ़ाते हैं । किन्तु बहुदा एक या दो तत्व भी शक्ति में वृद्धि कर सकते हैं जैसे कि पश्चिमी एशिया के देशों की शक्ति का कारण केवल वहाँ पाये जाने वाला तेल है।

राष्ट्रीय शक्ति के तत्वों को अलग अलग प्रकार से वर्गीकरण किया गया है। मारगेन्थाऊ ने दो प्रकार के तत्वों का उल्लेख किया है - वे तत्व जो सापेक्ष दृष्टि से स्थायी हैं तथा वो जो निरन्तर परिवर्तन से प्रभावित रहते हैं । इन दोनों वर्गों में नौ तत्व समाविष्ट है - भूगोल, प्राकृति साधन, औद्योगिक क्षमता, सैनिक तैयारियाँ, जनसंख्या, राष्ट्रीय चरित्र, राष्ट्रीय मनोबल कूटनीति का गुण तथा सरकार का गुण ।

स्टीफेन बी जोन्स ने इन तत्वों को चार वर्गों में विभाजित किया है।

1) भौगोलिक संसाधन : आकार जलवायु स्थल रूपरेखा आदि ।

2) प्राकृतिक संसाधन : खनिज पदार्थ, कच्चा माल, उपज आदि ।

3) मानवीय संसाधन : जनसंख्या, राष्ट्रीय जाति विन्यास आदि ।

4) सामग्री संसाधन : खाद्य भण्डार, शस्त्र सामग्री, पूंजी, राष्ट्रीय आय आदि ।

विलियम राबिन्सटीन के अनुसार एक राष्ट्र की शक्ति केवल मात्रात्मक न होकर गुणात्मक होती है जो कि मित्र राष्ट्रों की संख्या, नागरिकों की देशभक्ति उनके मनोबल संस्थाओं के लचीलेपन तकनीकी ज्ञान, रहस्यों को गुप्त रखने तथा कष्ट सहने की क्षमता जैसे अमूर्त गुणों का परिणाम होती हैं ।

पामर तथा पर्किन्सन में राष्ट्रीय शक्ति के तत्वों को गैर मानवीय तथा मानवीय वर्गों में विभाजित किया है गैर मानवीय तत्वों में भूगोल तथा प्राकृतिक साधन आते हैं तथा मानवीय तत्वों में जनसंख्या तकनीकी ज्ञान, विचारधाराएं, मनोबल और नेतृत्व को रखा गया है।

विभिन्न तत्वों की विवेचना के लिए उनको तीन वर्गों में बाटा जा सकता है। प्राकृतिक, सामाजिक तथा प्रत्ययात्मक ।

(1) प्राकृतिक : भौगोलिक विशेषताएं , प्राकृतिक साधन, जनसंख्या

(2) सामाजिक : आर्थिक विकास, राजीनतिक ढांचा राष्ट्रीय चरित्र और मनोबल

(3) प्रत्यात्मकः नेतृत्व वर्ग के आदर्श बुद्धि और दूरदर्शिता , विचारधारा, कूटनीति का गुण।

5.5 राष्ट्रीय शक्ति के प्राकृतिक तत्व

राष्ट्रीय शक्ति को प्रभावित करने वाले विभिन्न प्राकृतिक तत्वों का अब विवेचन किया जाएगा। इस भाग में भौगोलिक विशेषताओं, प्राकृतिक संसाधनों तथा कच्चे माल और जनसंख्या अथवा आबादी के द्वारा किस प्रकार से राष्ट्रीय शक्ति प्रभावित होती है। इसका उल्लेख किया जायगा।

(क) भौगोलिक विशेषताएं

भूगोल को शक्ति के अवयव के रूप में प्राचीनकाल से स्वीकार किया गया है। भूगोलमूलक राजनीति के विद्वानों का मानना है किसी राष्ट्र की शक्ति की जड़ उस राष्ट्र के भूगोल में होती है। मैकिण्डर ने 'हार्टलाण्ड' तथा स्पाइकमैन ने 'रिमलैण्ड' के अपने सिद्धान्त द्वारा भौगोलिक तत्व को महत्व दिया था। भूगोल के महत्व को समझने के लिए इसके चार घटकों - क्षेत्रफल, जलवायु, स्थलाकृति तथा अवस्थिति - का विवेचन किया जाएगा ।

(1) क्षेत्रफल- क्षेत्र विस्तृत होने से शक्ति की वृद्धि की सम्भावना रहती है । चार्ल्स पी. श्लाइश्चर का मानना है कि अन्य तत्वों के समान होने पर, एक देश जितना बड़ा होगा, उसकी सुरक्षा शक्ति उतनी ही अधिक होगी । बड़ा क्षेत्र अनेक प्रकार से लाभदायक होता है पहले तो एक बड़ा देश अधिक आबादी संभाल सकता है तथा उसके पास प्राकृतिक सम्पदा भी अधिक और विविध प्रकार की होगी । तीसरे एक बड़े क्षेत्र में अनेक प्रकार की सैनिक सुविधाएं प्राप्त हो सकती है। जो कि शक्ति की वृद्धि में सहायक होती है। यदि एक देश का क्षेत्र बड़ा है तो उद्योग के महत्वपूर्ण केन्द्रों को राष्ट्र के सीमान्तों से दूर रखा जा सकता है और प्रतिरोध के समय उन्हें सुरक्षित रखना आसान होता है। साथ ही, युद्ध के समय, बिना समर्पण किए, राष्ट्र आवश्यकता अनुसार पीछे हट सकता

है तथा अनेक प्रकार की सामरिक चालें भी चल सकता है। रूस के बड़े क्षेत्र के कारण ही वहाँ नेपोलियन तथा हिटलर की सेनाओं की हार हुई थी । इसी कारण से लक्जमबर्ग, लूथेनिया जैसे छोटे आकार के देश महाशक्ति बनने की सम्भावना नहीं रखते हैं ।

किन्तु, केवल क्षेत्र अधिक होने से यह आवश्यक नहीं कि एक राष्ट्र शक्तिशाली होगा। शक्ति में वृद्धि तब होती है। जब एक राष्ट्र का क्षेत्र बड़ा हो और उपयोगी भी। यदि देश का एक बड़ा भाग बर्फ से ढका हो जैसे कनाडा या जगलों से (जैसे ब्राजील) अथवा रेगिस्तान की अधिकता हो, जैसे आस्ट्रेलिया तब यह विस्तृत क्षेत्र शक्ति में वृद्धि नहीं करेगा । उसी प्रकार सूडान तथा जाइरे बडे.देश है किन्तु उनका आकार शक्ति की वृद्धि में सहायक नहीं है बड़ा क्षेत्र तब शक्ति की वृद्धि करता है। जब कृषि योग्य भूमि अधिक हो, अथवा कच्चे माल की अधिकता एवं विविधता है और एक बड़ी आबादी को पालने की क्षमता हो। रेगिस्तानों को एक समय उपयोगी नहीं माना जाता था। किन्तु आज वह शक्ति की दृष्टि से महत्वपूर्ण माने जाते हैं क्योंकि उनमें यूरेनियम युक्त खनिज मिलते हैं जो कि यूरेनियम परमाणु अस्त्र बनाने के लिये आवश्यक वस्तु है।

(2) जलवायु : किसी क्षेत्र की जलवायु यह निर्धारित करती है कि वहाँ के लोगों का जीवन किस प्रकार का होगा तथा वह कितनी उपलब्धी कर सकेंगे । अधिकतर समशीतोष्ण जलवायु वाले देश शक्तिशाली बनने की सम्भावना रखते हैं 68 डिग्री से 70 डिग्री एफ. तक का तापमान मनुष्य की स्फूर्ति तथा स्वास्थ्य को बनाए रखता है इस लिए यदि जलवायु अनुकूल हो तो एक राष्ट्र की उपलब्धी में तथा शक्ति में वृद्धि होती है। इसके विपरीत अति कठोर जलवायु होने पर घनी आबादी का जीवन निर्वाह नहीं हो सकता है तथा आधुनिक औद्योगिक समाज के विकसित होने की सम्भावना नहीं होती । उदाहरण के लिए दक्षिण ध्रुव तथा सहारा के रेगिस्तान शक्तिशाली बनने की क्षमता नहीं रखते हैं ।

जलवायु का प्रभाव एक देश में कितनी और किस प्रकार की उपज होगी इस पर भी पड़ता है तापमान तथा वर्षा के अनुसार हर देश में फसल तैयार होती है। सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा चरित्र पर भी जलवायु का व्यापक प्रभाव पड़ता है ऐसा माना जाता है कि प्रायः ठण्डे जलवायु वाले देशों के लोग गर्म जलवायु वाले देशों के निवासियों की अपेक्षा अधिक कर्मठ और परिश्रमी होते हैं ।

परन्तु जलवायु के प्रभाव को सीमित रूप में ही स्वीकार करना चाहिए । जलवायु एक सापेक्ष तत्व है। भले ही आधुनिक युग के यूरोपीय देश शीतोष्ण जलवायु के कारण शक्तिशाली बनें हों पर इतिहास बताता है कि प्राचीन काल की सबसे बड़ी सभ्यताएं भारत, मिश्र अथवा चीन भिन्न जलवायु में विकसित हुई । वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप आज जलवायु को बदला जा सकता है। द निक गर्मी और सर्दी की उग्रमा को कम कर सकते हैं तथा कृत्रिम वर्षा की व्यवस्था कर सकते हैं ।

(3) स्थलाकृति : किसी राष्ट्र की स्थलाकृति उसकी जलवायु को निर्धारित करती है इसलिए भू-आकृति जलवायु से अधिक प्रभावी तत्व हैं साथ ही स्थलाकृति के लक्षणों के द्वारा राष्ट्रों के बीच की प्राकृतिक सीमाओं का निर्धारण होता है जब कोई प्राकृतिक रूकावटें किसी देश की सीमान्तों पर होती है तब वह सैनिक शक्ति बढ़ाने में मदद करती है। इंग्लिश चैनल द्वारा इंग्लैण्ड की, तथा प्रशान्त महासागरों द्वारा अमरीका की तथा पिरीनीज पर्वतमाला द्वारा स्पेन की सुरक्षा होती है। भारत को हिमालय पर्वतमाला से चीन के विरूद्ध सुरक्षा प्राप्त हुई किन्तु आज के युग में युद्ध के अनेक नवीन प्रकार तथा नए नए हथियारों का चलन है। सेनाएं अधिकतर भूमि मार्ग का प्रयोग नहीं करती हैं । 1962 के भारत - चीन युद्ध ने स्थलाकृति के इस महत्व पर प्रश्न चिन्ह लगा दिया । इस युद्ध के बाद यह स्पष्ट हुआ कि स्थाकृति का महत्व आधुनिक तकनीकों के आगे अपना महत्व खोता जा रहा है।

(4) अवस्थिति : एक देश की अवस्थिति एक प्रमुख भौगोलिक घटक है जिसके द्वारा उसकी आक्रमण वश्यता की मात्रा का पता चलता है चारों ओर से जल से घिरे हुए देश जैसे अमरीका, इंगलैण्ड, जापान, आदि समुद्री कार्य में अधिक सफलता प्राप्त करते हैं । साथ ही, वह दूसरे देशों के आन्तरिक झगड़ों से पृथक रहते हुए, अपनी नौसैनिक शक्ति, व्यापार और साम्राज्य का निर्वाध विकास करता है।

अवस्थिति का एक और महत्व है यह एक देश की नीति तथा राष्ट्रीय हित का स्वरूप निर्धारित करती है। दोनों के बीच के इस बुनियादी सम्बन्ध के कारण भूगोलमूलक राजनीति प्रचलित हुई है। भूगोलमूलक राजनीति का यह मानना है कि आस्ट्रेलिया ने अपनी अवस्थिति के कारण ही अलगाव की नीति अपनाई तथा नार्वे फिनलैण्ड और डेनमार्क उसके कारण द्वितीय विश्व युद्ध का केन्द्र बन गये थे, तथा स्विटजरलैण्ड ने तटस्थता को स्वीकारा ।

अनुकूल प्रभाव के साथ सभा, कभी कभी राष्ट्र के ऊपर अवस्थिति का प्रतिकूल प्रभाव भी पड़ता है । बेल्जियम तथा पोलैण्ड का यह दुर्भाग्य है कि वे शक्तिशाली पड़ोसी देशों के बीच में सामरिक महत्व के ऐसे स्थानों पर स्थित है कि उन्हें बार बार आक्रमणों का शिकार होना पड़ता है किन्तु आज के आधुनिक युग में इसका महत्व कम हो गया है। विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में विकास के कारण आज भूगोल का प्रभाव सीमित हो गया है।

(ख) प्राकृतिक संसाधन तथा कच्चा माल

प्राकृतिक संसाधन प्रकृति में उपलब्ध उपयोगी सामग्री और पद्धति को कहते है। इसमें मुख्यतः खनिज, ईधन, भूमि तथा भूमि से प्राप्त अथवा निकलने वाले पदार्थ, जैसे कोयला, तेल वनस्पति आते है। कच्चा माल अर्थ शास्त्र का विशिष्ट शब्द है इन संसाधनों का प्रयोग औद्योगिक विकास के लिए होता है प्राकृतिक संसाधन तथा कच्चा माल दोनों शक्ति के प्रमुख तत्व हैं। यदि किसी देश के पास अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त संसाधन होते हैं तो उसे दूसरे देश पर निर्भर नहीं रहना पड़ता है । आत्म सम्पन्नता देश की शक्ति में वृद्धि करती है।जो देश विशेष तौर पर खाद्य सामग्री के विषय में स्वावलम्बी नहीं होते उन्हें अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आयात पर निर्भर रहना पड़ता है जैसे कि अमरीका को अपनी नीतियों के प्राथमिक लक्ष्यों से हटना नहीं पड़ता है क्योंकि वह अन्न के मामले में आत्मनिर्भर है, जबकि ब्रिटेन और जर्मनी दोनों की कमजोरी का कारण है कि उनके देश में उपजाए अन्न की कमी है।

साथ ही प्राकृतिक सम्पदा सुलभ होने से आक्रमक तथा प्रतिरक्षा युद्ध जीतने का सामर्थ्य बढ़ जाता है। आधुनिक सेना के लिए शस्त्रों की आवश्यकता होती है, जिनके उत्पादन के लिए कच्चे माल का उपयोग तथा आधुनिक आर्थिक व्यवस्था की जरूरत होती है । युद्ध के अतिरिक्त, प्राकृतिक सम्पदा का उपयोग दूसरे देशों को पुरस्कृत करने के लिए भी किया जा सकता है। अन्य देशों को पुरस्कृत करने के लिए कृषि उत्पादन खनिज सम्पदा या निर्मित वस्तुएं दी जा सकती हैं यह तभी सम्भव है जब किसी देश के पास प्राकृतिक सम्पदा की प्रचुरता हो। अरब देशों का महत्व आज अपने तेल के भण्डार के कारण है। श्री लंका का रबड़ तथा अर्जेण्टीना का गोमांश उनके महत्व को बढ़ाता है।

आज के युग में युद्ध संचालन के बढ़ते हुए यन्त्रीकरण के कारण राष्ट्रीय शक्ति युद्ध तथा शान्ति के समय में कच्चे माल के नियन्त्रण पर अधिक से अधिक अवलम्बित होती चली गई है। अमरीका जैसे शक्तिशाली राष्ट्र औद्योगिक उत्पादन के लिए आवश्यक कच्चे माल के स्वामित्व में प्रायः आत्म निर्भर है अथवा उनके स्त्रोतों की पहुँच पर उनका नियन्त्रण है।

इस तत्व का प्रभाव राष्ट्रीय शक्ति पर पड़ता है किन्तु केवल इनकी उपस्थिति ही शक्ति में वृद्धि को निश्चित नहीं करती है। प्राकृतिक सम्पदा का विकास तथा उचित प्रयोग भी आवश्यक होता

है यदि एक देश अपने प्राकृतिक संसाधनों का प्रयोग करने की क्षमता नहीं रखता है। तो उसे अन्य देशों पर निर्भर रहना पड़ेगा । इस अवस्था में उसे आर्थिक हानि होगी क्योंकि कच्चे माल की कीमत तथा महत्व तैयार सामान से कहीं कम होती है।

(ग) जनसंख्या

शक्ति का एक प्रमुख अवयव आबादी है एक बड़ी जनसंख्या आर्थिक उत्पादन तथा सैनिक कार्यवाही मे सहयोगी होती है। मुसोलिनी ने बड़ी आबादी का समर्थन करते हुए कहा था - नौ करोड़ जर्मनों और बीस करोड़ स्लाबों के सामने चार करोड़ इटांलियनों की क्या हस्ती है?" किन्तु केवल एक बड़ी आबादी का होना ही एक देश की शक्ति को प्रमाणित नहीं करता है। एक बड़ी आबादी का पोषण करने के लिए पर्याप्त साधनों की उपस्थिति भी आवश्यक होती है। साथ ही एक देश का सैनिक तन्त्र कितना शक्तिशाली होगा या उसकी उत्पादक शक्ति कितनी होगी । यह केवल आबादी पर ही निर्भर नहीं करता है उस देश की ताकत इस बात पर निर्भर करेगी कि उसका उद्योग विस्तार कितना हुआ है और उसके सैनिक बल तथा उत्पादकतन्त्र को कहाँ तक आधुनिक रूप दिया गया है।

एक बड़ी जनसंख्या युद्ध के समय निष्क्रिय प्रतिरोध प्रस्तुत करती है तथा राष्ट्र के सदस्यों का मनोबल बढ़ाती है किन्तु जनसंख्या की प्रवृत्ति उसके चरित्र और गुणों पर भी शक्ति निर्भर करती है। यह देखना महत्वपूर्ण होता है कि राज्य की जनसंख्या में वृद्धों की संख्या अधिक है अथवा युवकों की, पुरूषों की अधिकता है अथवा महिलाओं की वहाँ के लोगों का स्वास्थ्य किस प्रकार का है।, शिक्षित है या निरक्षर, निर्धन है अथवा सम्पन्न आबादी में अल्पसंख्यकों की संख्या कितनी है। जनता के चरित्र का प्रभाव भी दिखाई देता है (इस को आगे विस्तार से समझाया जाएगा) ।

यह भी देखना महत्वपूर्ण होता है कि एक राष्ट्र की आबादी किस दिशा में और कितनी गति बढ़ रही है। अर्थात क्या उसमें पाँच दस वर्षो के बाद वृद्धों की संख्या कम और युवकों की अधिक होगा? यदि वहाँ बच्चों की संख्या कम है तो आने वाले समय में युवकों की संख्या कम होगी। इस प्रकार के राष्ट्र की शक्ति में वृद्धि होने की सम्भावना कम हो जाती है। (हार्टमान का विचार) ।

उस देश की शक्ति अधिक होने की सम्भावना होती है जहाँ आबादी औद्योगिक कार्यों से जुड़ी हुई होती है। एक कृषि प्रधान देश की आबादी प्रकृति पर निर्भर होने के कारण शक्ति में अधिक वृद्धि नहीं कर सकती है। किन्तु यदि उसके पास तकनीकी क्षमता है तब वह प्रकृति को कुछ हद तक नियन्त्रित कर सकती है और शक्ति की वृद्धि में सहयोग प्रदान कर सकती है। अतः आबादी की संख्या एवं गुण शक्ति के प्रमुख तत्व हैं ।

(घ) तकनीकी

तकनीकी अथवा प्रौद्योगिकी विज्ञान के व्यवहारिक ज्ञान को कहते है। इसके अन्तर्गत आविष्कार तथा वे सभी साधन आते हैं जिनसे राष्ट्र की भौतिक समृद्धि में सहायता मिलती है। वर्तमान समय में तकनीकी राष्ट्र की शक्ति का एक प्रमुख तत्व बन गई है। तकनीकी ने तीन प्रमुख क्षेत्रों में जैसे उद्योग संचार एवं सैन्य बल में विशेषतः शक्ति को प्रभावित किया है।

औद्योगिक तकनीकी एक देश के उत्पादन में वृद्धि कर के उसके आर्थिक साधनों को बढ़ाती है आर्थिक समृद्धि के कारण एक देश की शक्ति में वृद्धि होती है या लोगों का जीवन स्तर भी ऊँचा होता है। अब जापान अपने औद्योगिक विकास तथा तकनीकी के कारण ताकतवर है। संचार तकनीकी ने यातायात तथा संचार के आधुनिक साधनों को उपलब्ध कराया है इसके परिणामस्वरूप विचारों, व्यक्तियों तथा सामान का एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना आसान हो गया है। इसके कारण राजनय

के स्वरूप में भी प्रभावी परिवर्तन आया है जिससे कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का भी स्वरूप बदल गया है। आज के युग में संचार तकनीकी के विकास के कारण कूटनीतिज्ञों को समस्त सूचनाएं तथा निर्देश बहुत कम समय में दिये जा सकते हैं । इन दोनों से अधिक प्रभाव सैनिक तकनीकी के द्वारा डाला गया है ब्रिटैन ने विश्व पर शासन अपनी सैनिक तकनीकी के कारण ही किया था। उसी प्रकार से अमरीका तथा सोवियत संघ ने अपनी सैनिक तथा संचार तकनीकी के कारण दूसरे विश्व युद्ध के उपरान्त महाशक्ति का स्थान प्राप्त किया था ।

अतः तकनीकी विकास से राष्ट्रीय शक्ति अनेक रूपों में प्रभावित होती है। उसके द्वारा राष्ट्र के परम्परावादी स्वरूप स्थान पर एक आधुनिक एंव प्रगतिशील स्वरूप आ जाता है, सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति में परिवर्तन आता है तथा उसकी आक्रमणकारी शक्ति भी घट जाती है।

5.6 राष्ट्रीय शक्ति के सामाजिक तथा आर्थिक तत्व

राष्ट्रीय शक्ति सामाजिक अवयवों द्वारा भी प्रभावित होती है इसमें जो तत्व शामिल है वह हैः राष्ट्रीय चरित्र तथा मनोबल आर्थिक विकास तथा राजनीतिक ढांचा।

(क) राष्ट्रीय चरित्र तथा मनोबल

राष्ट्रीय चरित्र शक्ति का अमूर्त सूक्ष्म एवं मानवीय तत्व है। कोलरेज के अनुसार हर देश के नागरिकों के कुछ सामान्य गुण तथा अवगुण होते है। जो कि सामूहिक रूप से राष्ट्रीय चरित्त्र कहलाते हैं । राष्ट्रीय चरित्र के कारण जर्मनी तथा रूस ने सैन्यीकरण पर आधारित विदेश नीतियाँ अपनायी तथा हिटलर और स्टालिन की सरकारों को स्वीकार किया । उसके विपरीत, अमरीका तथा ब्रिटेन में जनता सैनकीकरण को नहीं स्वीकार करती है अमरीका के लोग अपनी व्यक्तिगत प्रेरणा तथा आविष्कार की क्षमता और ब्रिटेन की जनता अपनी कट्टरहीनता एवं साधारण सूझबूझ के लिए जानी जाती है। भारतीयों में विषम परिस्थितियों से जूझने की अपूर्व क्षमता के लिए जाना जाता है। राष्ट्रीय चरित्र के आधार पर एक देश की अनुपातिक शक्ति का मूल्यांकन करा जा सकता है।

राष्ट्रीय चरित्र के साथ ही राष्ट्रीय मनोबल भी जुड़ा होता है। इसका अर्थ है किसी देश की जनता किस सीमा तक अपने व्यक्तिगत हितों को देश के हितों के लिए बलिदान करने की तत्परता रखती है यदि सरकार के प्रति जनता की निष्ठा होती है। तथा वह अपने और सरकार के बीच अभिन्नता मानती है तब राष्ट्रीय मनोबल ऊँचा होता है । देश के सैनिकों के अतिरिक्त जनता में भी यह मनोबल होना लाभकर है। शान्तिकाल में भी राष्ट्रीय शक्ति के निर्माण में यह सहायक होता है। यदि जनता सरकार को समर्थन देती है। तो सरकार राष्ट्रीय हित की योजनाओ का कार्यान्वित करने के लिए जनता से सहयोग प्राप्त कर सकती है। जैसे गरीब देशों में सैनिक कार्यों के लिए या उद्योग विस्तार में पूँजी लगाने के लिए उपभोग की मात्रा में कमी करने की विशेष रूप से जरूरत पड़ सकती है। व्यापारियों से अपील की जा सकती है कि वह केवल मुनाफे की न सोचें तथा संकट के समय लोगों से अधिक कर देने का भी आग्रह किया जा सकता है।

किन्तु राष्ट्रीय चरित्र एवं मनोबल अस्पष्ट तथा अस्थायी तत्व हैं इनके आधार पर ठोस निष्कर्ष निकालना कठिन होता है । समय के साथ राष्ट्रीय चरित्र में परिवर्तन आ सकता है युद्ध के समय जनता जिस हद तक त्याग करने के लिए तत्पर होती है वह शान्ति के समय शायद न हो। उसी प्रकार जब देश की जनता ईर्ष्यादि या आन्तरिक विभाजनों के कारण असन्तुष्ट होती है तब उसका मनोबल ऊँचा नहीं रह पाता है।

(ख) आर्थिक विकास

एक राष्ट्र की शक्ति उसके आर्थिक संगठन अर्थात उसके उद्योग - विस्तार की यात्रा पर निर्भर करती है। यह पहले भी बताया जा चुका है। कि यदि एक राष्ट्र अपनी प्राकृतिक सम्पदा का उचित प्रयोग और विकास करता है तो उसकी शक्ति में वृद्धि होती है। यह प्रयोग और विस्तार किसी देश की प्रौद्योगिकी तथा आर्थिक संगठन से सम्बन्धित होता है। वह राष्ट्र शक्तिशाली होने की सम्भावना रखता है जो कि अपने उपभोग की आवश्यकता से बहुत अधिक उत्पादन करने की क्षमता रखता है इस अतिरिक्त उत्पादन के द्वारा जनता के निर्वाह के स्तर को सुधारा जा सकता है जिससे अन्ततः जनता में देशनिष्ठा और सन्तुष्टि आती है । एक सन्तुष्ट जनता शक्ति का महत्वपूर्ण स्त्रोत होती है।

इसके अतिरिक्त एक सम्पन्न राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों को अनेक प्रकार की आर्थिक सहायता प्रदान करके उसके व्यवहार को प्रभावित कर सकता है। अनुदान या ऋण लेकर वह दूसरे राष्ट्रों को अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के लिए प्रयुक्त कर सकता है साथ ही, कोई भी औद्योगिक राष्ट्र अपने ऊँचे जीवन स्तर के द्वारा दूसरे पर अनुनय द्वारा प्रभाव डाल सकता है वह दूसरों के अनुनय का प्रतिरोध भी कर सकता है ये दोनों ही कार्य शक्ति के प्रयोग की महत्वपूर्ण विधियाँ हैं ।

एक आर्थिक रूप से सम्पन्न देश पुरस्कार की विधि का भी प्रयोग कर सकता है पुरस्कार देने का एक तरीका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार है। आधुनिक रूप से सम्पन्न तथा औद्योगिक रूप से विकसित देश अपने खरीदने तथा बेचने दोनों की क्षमता का उपयोग राष्ट्रीय शक्ति में वृद्धि के लिए करता है। पुरस्कार पूँजी के रूप में भी हो सकता है। जिस देश का आर्थिक संगठन सन्तोषजनक हो वह दूसरे राष्ट्रों को पूंजी देकर उनकी विदेशनीतियों को प्रभावित करने में सक्षम होता है तकनीकी सहायता भी पूंजी के साथ प्रभाव बढ़ाने के लिए प्रयुक्त की जा सकती है।

इसके विपरीत दण्ड देना या आर्थिक पुरस्कार रोक लेना भी एक देश की शक्ति का प्रदर्शन करता है अन्त में यदि एक राष्ट्र बल का प्रयोग करना चाहता है अन्त में यदि एक राष्ट्र बल का प्रयोग करना चाहता है तब भी उसे सुदृढ़ आर्थिक व्यवस्था की आवश्यकता होगी । अतः आर्थिक सम्पन्नता तथा औद्योगिक विकास राष्ट्रीय शक्ति के प्रमुख अवयव है। किन्तु केवल यह अपने आप में शक्ति का संकेत नहीं है। उद्योंग विस्तार की दिशा में बढ़ने वाले राष्ट्र को कई प्रकार के अन्य परिवर्तन भी करने पड़ते हैं पूर्ण सफलता के लिए उसे नगरों का विकास विस्तृत नियमित शिक्षा, भौगोलिक और सामाजिक गतिशीलता नयी बातों को अपनाना और ऐहित विचारों की अभिवृद्धि भी करनी पड़ेगी।

(ग) राजनीतिक ढाँचा

राष्ट्रीय शक्ति के निर्माण में शासनतन्त्र का स्वरूप भी एक महत्वपूर्ण तत्व है। किसी एक प्रकार की शासन प्रणाली का निश्चित सम्बन्ध राष्ट्र की शक्ति के साथ नहीं जोड़ा जा सकता है। शासन का स्वरूप चाहें लोकतान्त्रिक हो अथवा एकाधिकारवादी, शक्ति इस बात पर निर्भर करती है। कि शासन किस प्रकार से संचालित है । एक देश का राजनीतिक ढाँचा उसकी विदेश नीति का संकेत देता है। एक सुनिश्चित सुसम्बद्ध और तर्क संगत विदेशनीति द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को संचालित किया जाता है तो राष्ट्रीय शक्ति में वृद्धि होती है। विदेश नीति को अपनाते समय यह सुनिश्चित करना चाहिये कि वह जनता की प्रतिनिधि होनी चाहिए। इसे इस प्रकार से अपनाना चाहिए कि वह उन परिस्थितियों में भी उपयुक्त सिद्ध हो जिसमें वास्तव में चुनाव का प्रश्न पैदा हो सकता है। विदेश नीति में स्थायित्व की भी आवश्यकता होती है ताकि वह स्वराष्ट्र नीति के प्रत्येक परिवर्तन के साथ बदलनी न पड़े। साथ ही उसमें लचीलेपन की भी आवश्यकता होती है। ताकि अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के

परिवर्तनों के अनुसार अपने को ढाल सकें । यह कहा जा सकता है कि राजनीतिक व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जो कि विदेश नीति के गठन तथा कार्यवाहन में सहायक हो। उसके प्रभावी कार्यवाहक के लिए सरकार को प्रचार राजनीतिक दलों तथा प्रशासन के द्वारा जनता का सहयोग प्राप्त करना चाहिए। तथा राजनायकों के द्वारा उसका शान्तिपूर्ण तरीके से कार्यवाहन कराना चाहिये।

राजनीतिक कौशल की भी आवश्यकता होती है ताकि राष्ट्रीय शक्ति देने वाले भौतिक तथा मानवीय तत्वों का सन्तुलन बनाया जा सके । उसमें सेना की मात्रा तथा स्वरूप का निर्णय करने की क्षमता होनी चाहिए। साथ ही नई परिस्थितियों चुनौतियों तथा लक्ष्यों के अनुरूप अपनी नीतियों को ढालने की क्षमता होनी आवश्यक है।

5.7 शक्ति प्रत्ययात्मक तत्व

विचारधारा तथा उससे सम्बन्धित तत्वों को शक्ति के प्रत्ययात्मक तत्व के नाम से जाना जाता है। इसमें विचारधारा, नेतृत्व कूटनीति, आसूचना और सैनिक तत्व सम्मिलित हैं । अन्य भौतिक तत्वों के विपरीत यह तत्व मानवीय हैं तथा इनके अस्तित्व को केवल महसूस किया जा सकता है।

(क) विचारधारा

हर राजनीतिक व्यवस्था की कोई न कोई विचारधारा या सिद्धान्तवाद होता है जो सरकार को अपने नागरिकों का समर्थन प्राप्त करने में सहायता प्रदान करता है। विचारधारा शब्द दो भिन्न अर्थों में साथ जोड़ा जाता है। पहले अर्थ में यह विचारों और विश्वासों का ऐसा समुच्चय है जो सुनिश्चित विश्व दृष्टि पर आधारित होता है तथा विश्व की वास्तविकता की व्याख्या करने का आधार प्रदान करता है। यह मनुष्य की प्रकृति के बारे में कुछ अभिग्रहण लेकर चलती है और उनके आधार पर मनुष्य के इतिहास का एक सिद्धान्त आचरण की एक नैतिक नियमावली, त्यागमय कर्तव्य भावना और कर्म का एक कार्यक्रम पेश करती है। दूसरे अर्थ में विचारधारा को विदेश नीति के वास्तविक उद्देश्य छिपाने का आवरण कहा जाता है इस अर्थ में प्रयोग करने पर विचारधारा विदेश नीति के तात्कालिक लक्ष्य के रूप में शक्ति प्राप्ति के बारे में तत्पर होती है। इस अर्थ में विचारधारा को यथार्थवादी तत्व माना गया है क्योंकि वह राष्ट्रीय शक्ति का प्रेरक तत्व है। कार्ल मौनहीम ने विचारधारा के इस अर्थ को स्वीकार किया है।

एक राष्ट्र को विचारधारा वह अपनानी चाहिए जिसको स्थानीय परिस्थितियों में स्वीकृति प्राप्त हो। इसके द्वारा जनता के विचारों को नियन्त्रित किया जाता है ताकि वह सरकार को उसकी हर नीति के लिए पूर्ण सहयोग प्रदान करें । हालांकि सर्वाधिकारवादी सरकारों में इसका अधिक प्रयोग होता है किन्तु लोकतान्त्रिक सरकारें भी 'थौट कन्ट्रोल' का प्रयास करती है। इसके द्वारा जनता का सहयोग प्राप्त करके सरकारें अपनी शक्ति में वृद्धि करती हैं । विचारधारा राष्ट्र के लोगों को जोड़ने का काम तथा उनमें समर्पण की भावना भी उत्पन्न करती है। अतः राष्ट्रीय शक्ति के तत्व के रूप में विचारधारा राष्ट्र के सदस्यों के मनोबल को निर्मित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती हैं इसके माध्यम से लोगों में राष्ट्रीय लक्ष्यों के औचित्य में आस्था उत्पन्न होती है हिटलर में विचारधारा के आधार पर ही पंचमार्गियों को संगठित किया था।

(ख) नेतृत्व

राजनीतिक एवं सैनिक नेतृत्व की श्रेष्ठता एवं समझदारी देश की शक्ति में वृद्धि कराती है। राजनीतिक नेताओं द्वारा प्रमुख नीतियों का निर्माण होता है, जिसमें सैनिक योजनाएं भी सम्मिलित होती हैं साथ ही, यह नेता साधनों के व्यय का भी निर्णय करते हैं तथा युद्ध और शान्ति की घोषणा करते

है। राजनीतिक नेताओं के इन निर्णयों का प्रभाव देश की शक्ति पर पड़ता है । अतः उसकी समझदारी तथा सूझ बूझ पर राष्ट्रीय शक्ति निर्भर करती हैं इसके अतिरिक्त उनके स्वभाव तथा प्रभाव के ऊपर जनता का समर्थन निर्भर करता है। एक देश के नेता ही यह निर्णय लेते हैं कि सैनिक व्यय कितना होगा दूसरे राज्यों के साथ सम्बन्ध किस प्रकार के होंगे, युद्ध तथा शान्ति की घोषणा कब की जाएगी, इत्यादि । विभिन्न क्षेत्रों में सही निर्णय उपयुक्त समय पर लेने की क्षमता ही एक अच्छे नेता में पाई जाती हैं । एक प्रकार से कह सकते हैं कि एक अच्छे नेता में कूटनीति, सैन्य शक्ति तथा आर्थिक विषयों से सम्बन्धित ज्ञान और निर्णय लेने की क्षमता होनी चाहिए। नेतृत्व ही वह तत्व है जिसके आधार पर यह निर्धारित होगा कि अन्य तत्वों का प्रयोग किस सीमा तक हो पाएगा । विश्व इतिहास को प्रमुख नेताओं जैसे नेपोलियन, चर्चहिल, हिटलर, रूजवेल्ट, माओ, केनेडी, डी गॉल, इत्यादि ने अत्यधिक प्रभावित किया है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपने राष्ट्र की शक्ति का चातुर्यपूर्ण ढंग से प्रदर्शन केवल नेतृत्व के द्वारा ही किया जा सकता है।

(ग) कूटनीति

मारगेन्थाऊ के अनुसार एक देश की कूटनीति का स्वरूप राष्ट्रीय शक्ति के विभिन्न तत्वों को दिशा और महत्व प्रदान करता है एक प्रभावी कूटनीतिज्ञ व्यवस्था राष्ट्रीय हितों की प्राप्ति में सहायक विभिन्न तत्वों को अधिक प्रभावी बना सकती है। कूटनीति राष्ट्रीय शक्ति के मस्तिष्क के रूप में है, जबकि राष्ट्रीय मनोबल उसकी आत्मा होती है। यदि एक देश की कूटनीति का निर्णय गलत हो, उसकी नीतियों में दूरदर्शिता की कमी हो अथवा उसकी निष्ठा में कमी हो तब अन्य तत्वों की उपस्थिति के बावजूद एक राष्ट्र कभी प्रगति नहीं कर सकता । हालाँकि कूटनीति में अस्थिरता का तत्व होता है किन्तु यह एक राष्ट्र की शक्ति का महत्वपूर्ण तत्व है। सम्राट हेनरी अष्टम के समय से प्रथम विश्व युद्ध तक ब्रिटेन की शक्ति का आधार उसकी कूटनीति थी। अमरीका राजनीतिक दृष्टि से ताकतवर था किन्तु दोनों विश्व युद्धों के अन्तराल में उसने विश्व की राजनीति में प्रमुख भूमिका नहीं निभाई क्योंकि कूटनीति प्रबल नहीं थी ।

(घ) आसूचना

आसूचना अथवा सूचना संग्रह उस कार्य को कहते हैं जिसका उद्देश्य ऐसा ज्ञान प्राप्त करना है जिससे विदेशी मामलों के बारे में सरकारी निर्णय अधिक समझदारी तथा दूरदर्शिता से लिए जा सकें। इस ज्ञान की उपयोगिता युद्ध के समय अधिक होती है। जब विरोधी सेना से सम्बन्धित जानकारी प्राप्त होती है शान्तिकाल में भी जानकारी की उपयोगिता होती है। यदि किसी राज्य को अन्य राज्यों की मजबूती और कमजोरियों का ज्ञान हो तो समझौते की वार्ताओं में बड़ा लाभ हो सकता है। वार्ता के दौरान उस देश के प्रतिनिधि को अधिक सफलता प्राप्त हो पाती है जो कि पहले से ही दूसरी ओर बैठे प्रतिद्वन्दी के विषय में जानकार हो। यदि प्रतिद्वन्दी के विषय में सही जानकारी न हो तब देश को खतरे का सामना करना पड़ता है जिस प्रकार से 1961 में 'वे आफ पिग्स' का कारण यह था कि फिडेल कास्ट्रो की ताकत का तथा क्यूबा में उनके विरूद्ध तत्वों का सही अनुमान नहीं लगाया गया था।

(ङ) सैनिक तत्व

सैनिक तैयारी पर एक राष्ट्र की शक्ति निर्भर करती है। क्योंकि यह तत्व एक देश को अपनी विदेश नीति लागू करने में सहायता प्रदान करता है तथा राष्ट्रीय हितों को पूरा करता है। इसमें सैनिकों तथा शस्त्रों की संख्या उसका सैनिक संगठन के विभिन्न अंगों में वितरण कुशल नेतृत्व, तकनीकी

विकास तथा नए अविष्कारों की समझ का महत्वपूर्ण योगदान रहता है राष्ट्रीय शक्ति प्राप्त करने के लिए केवल एक पर्याप्त सेना का उपस्थित होना ही काफी नहीं है। बल्कि उसको प्रशिक्षित तथा एक दम तैयार भी होना चाहिए। इसके साथ ही एक अच्छे सैनिक संगठन की भी आवश्यकता होती है जो कि अपने सम्पूर्ण रूप में तथा विभिन्न अंगों की शक्ति की दृष्टि से आवश्यकता के अनुकूल है। एक देश में कितने नागरिकों को सक्रिय भूमिका निभाने के लिए रखा जाएगा यह उसकी औद्योगिक क्षमता पर निर्भर करता है एक देश की औद्योगिक क्षमता उसकी सैनिक शक्ति का भी मापदण्ड होती है। यदि एक देश को लम्बे युद्ध में सफलता पानी है तो उसे औद्योगिक क्षमता की आवश्यकता होती है युद्ध सामग्री तभी उपस्थित होगी जब एक देश औद्योगिक रूप से सफल है। अमरीका तथा सोवियत रूस औद्योगिक ताकत के आधार पर महाशक्ति बने ।

5.8 राष्ट्रीय शक्ति का मूल्यांकन

राष्ट्रीय शक्ति के अनेक अवयवों की उपस्थिति के कारण यह करना सम्भव नहीं होता है कि इन में से किस अवयव का अधिक महत्व है। साथ ही, राष्ट्रीय शक्ति को निश्चित मापों के आधार पर मापना भी सम्भव नहीं है। मार्गेन्थाऊ ने शक्ति के मूल्यांकन में तीन प्रमुख त्रुटियों को सुझाया है। उनके अनुसार शक्ति के मूल्यांकन में गलती इसलिए होती है। कि एक देश की शक्ति को दूसरे एक समय की शक्ति को भविष्य से नहीं जोड़ा जाता तथा एक शक्ति के तत्व को दूसरे तत्व से नहीं जोड़ा जाता है।

पहली त्रुटि का कारण है कि राष्ट्रीय शक्ति एक निरपेक्ष तत्व नहीं है। इसका एक तुलनात्मक स्वरूप होता है। तथा यह परिस्थितियों पर निर्भर करती है। यह आवश्यक नहीं है कि जो राष्ट्र इस समय सबसे अधिक शक्तिशाली है,वह भूतकाल में भी ऐसा ही था या भविष्य में भी ऐसा बना रहेगा। जब हम किसी देश को शक्तिशाली कहते हैं तो उसका वास्तविक अर्थ होता है कि वह अन्य देशों की तुलना में सबसे अधिक शक्ति रखता है। यह आवश्यक नहीं कि यह स्थिति सदैव ऐसी बनी रहेगी किन्तु कई बार हम ऐसा मानने की भ्रांति कर बैठते है। एक देश की स्थिति में कोई परिवर्तन न होते हुए भी उसकी शक्ति कम हो सकती है। यदि उससे अधिक ताकतवर राष्ट्र उभर कर सामने आ जाए। उदाहरण के लिए संयुक्त राष्ट्र अमरीका दूसरे विश्व युद्ध के बाद शक्तिशाली माना गया जबकि ग्रेट ब्रिटेन युद्ध तक शक्तिशाली बना रहा ।

द्वितीय त्रुटि इसलिए उत्पन्न होती है कि राष्ट्रीय शक्ति कभी भी स्थायी एवं परिवर्तनशील नहीं होती । उदाहरण के लिए, भूराजनीतिज्ञों ने भूगोल को सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना । इस आधार पर उनके द्वारा दी गयी हार्ट लाड तथा रिमलाड के सिद्धान्त ने कुछ को स्थायी रूप से शक्तिशाली माना किन्तु आज के समय में यह मिथ्या साबित हो गया है। उसी प्रकार से 1940-41 में यूरोप पर जर्मनी का प्रभुत्व था किन्तु दो वर्षों में ही यह मान्यता भ्रान्तिपूर्ण हो गई जबकि रूसियों ने स्तालिनग्राद में जमकर जर्मन सेनाओं से लोहा लिया और उन्हें हराकर पीछे धकेलना शुरूकिया। इससे यह स्पष्ट होता है कि शक्ति में निरन्तर परिवर्तन होते हैं किन्तु भ्रान्तिवश उसकी वर्तमान शक्ति को स्थायी समझा जाता है।

कभी कभी राष्ट्रीय शक्ति के प्रमुख तत्वों में से किसी एक तत्व को असाधारण महत्व दिया जाता है यह तीसरी त्रुटि का कारण होता है क्योंकि कोई अकेला कारक शक्ति का निर्णायक नहीं हो सकता । शक्ति के विभिन्न अवयव एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं तथा उनकी आपस में निर्भरता भी होती है इसलिए किसी विशेष परिस्थिति में विभिन्न अवयवों में सामान्जस्य आवश्यक होता है इस

सम्बन्ध तथा अन्तरनिर्भरता के कारण उनमें से प्रत्येक का महत्व दूसरों के उपस्थिति होने पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिए, प्राकृतिक सम्पदा शक्ति में वृद्धि तब ही कर पाएगा जब उनका उपयोग करने में समर्थ आर्थिक संगठन भी उस राष्ट्र में हो । अतः एक कारक नियतत्ववाद (वन फैक्टर डिटर्मिनिज्म) शक्ति के मूल्यांकन में त्रुटि का कारण बनता है।

उपयुक्त कठिनाइयों के कारण शक्ति का वैज्ञानिक मूल्यांकन कर पाना सम्भव नहीं हैं किन्तु शक्ति के विभिन्न अवयवों के आपेक्षित महत्व के विषय में कुछ मोटे नियम प्रस्तुत किये गये हैं । यह माना जाता है कि चार करोड़ से कम आबादी वाले देश प्रमुख शक्ति नहीं बन सकते हैं । इसी प्रकार की मान्यताओं के आधार पर शक्ति के कुछ अवयवों को अधिक महत्व दिया जाता है, जैसे आबादी, विस्तृत क्षेत्र, राजनीतिक ढाँचा, आर्थिक विकास और राष्ट्रीय मनोबल । महेन्द्र कुमार का मानना है कि राष्ट्रीय शक्ति का एक सरल सूचक राष्ट्रीय आय है जो आबादी विस्तृत क्षेत्र और आर्थिक उत्पादकता के योगदान के साथ साथ अन्य कारकों के योगदान की भी द्योतक होती है।

5.9 सारांश

राष्ट्रीय शक्ति अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का केन्द्र भूत आधार है । शक्ति के प्राप्त करने अथवा बनाए रखने के लिऐ प्रत्येक देश प्रयत्नरत रहता है। यही 'शक्ति के लिए संघर्ष' ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति है। शक्ति के विभिन्न घटक तत्व होते हैं जो उसकी वृद्धि में सहायक होते है। किन्तु यह तत्व अपने आप में शक्ति के सूचक नहीं होते हैं। इनका प्रयोग किस प्रकार से एक देश के द्वारा किया जाता है निर्धारित करता है कि उनके कारण देश की शक्ति में वृद्धि होगी अथवा नहीं । साथ ही यह भी याद रखना पड़ता है कि शक्ति तुलनात्मक होती है तथा उसका बढ़ना या घटना इस बात पर निर्भर करता है कि दूसरे देशों की शक्ति में क्या परिवर्तन हुआ है । इसके अतिरिक्त शक्ति को किसी यन्त्र से मापा नहीं जा सकता है। इस कारण, शक्ति के विभिन्न तत्व केवल शक्ति में वृद्धि की सम्भावना व्यक्त करते हैं ।

5.10 संदर्भ ग्रन्थ

1. पामर और पर्किन्स : अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध
2. हेन्स मार्गेन्थाऊ : पोलिटिक्स अमन्ग नेशन्स
3. क्विन्सी राईट : अ स्टडी आफ इन्टरनेशनल रिलेशन्स
4. चार्लस पी. शलाइशर : इन्टरनेशनल रिलेशन्स
5. हैरल्ड और मार्गरेट स्प्राउट : अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के मूल तत्व
6. एच. जे. मैकाइण्डर : डेमोक्रेटिक आइडियल्स एण्ड रियलिटी
7. महेन्द्र कुमार : अन्तर्राष्ट्रय राजनीति के सैद्धान्तिक तत्व
8. प्रकाश चन्द्र : इन्टरनेशनल पोलिटिक्स
9. प्रेम अरोरा : इन्टरनेशनल रिलेशन्स
10. इनिस क्लाड : पावर एण्ड इन्टरनेशनल रिलेशन्स

5.11 संबन्धित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. राष्ट्रीय शक्ति की परिभाषा कीजिए तथा इसके महत्व को स्पष्ट कीजिए।

2. राष्ट्रीय शक्ति का क्या अर्थ है? उसके विभिन्न तत्वों के सापेक्षिक महत्व की विवेचना कीजिए।
3. राष्ट्रीय शक्ति के तत्वों का विवेचन कीजिए ।
4. राष्ट्रीय शक्ति का अर्थ स्पष्ट कीजिए । उसके प्राकृतिक तत्वों के प्रभाव को समझाइे ।
5. राष्ट्रीय शक्ति के प्रत्ययात्मक तत्वों का विवेचन कीजिए ।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. जनसंख्या का एक देश की शक्ति पर किस प्रकार प्रभाव पड़ता है?
2. राष्ट्रीय शक्ति का क्या अर्थ है?
3. राष्ट्रीय मनोबल राष्ट्रीय शक्ति का तत्व किस प्रकार है?
4. राष्ट्रीय शक्ति के वैचारिक तत्व का विवेचन कीजिए ।
5. भू-राजनीति के महत्व को स्पष्ट कीजिए ।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. राष्ट्र शक्ति के भौगोलिक तत्वों में कौन सा तत्व सम्मिलित नहीं होता ।

   (क) जलवायु (ग) क्षेत्रफल

   (ख) जनसंख्या (घ) अवस्थिति

2. शक्ति के तत्वों को मानवीय तथा गैर मानवीय वर्गों में किसने विभाजित किया है?

   (क) मार्गेन्थाऊ (ग) मैकाइण्डर

   (ख) राईट (घ) पामर तथा पार्किन्स

3. आज के युग में किस तत्व का महत्व घटा है?

   (क) तकनीकी (ग) जनसंख्या

   (ख) भूगोल (घ) राजनय

4. किस भूगोलशास्त्री ने केन्द्रीय भूमि (हार्टलैण्ड) का सिद्धान्त दिया था?

   (क) मैकाइण्डर (ग) निकल्सन

   (ख) मारगेन्थाऊ (घ) राईट

5.12 प्रश्नोत्तर

1. (ख)
2. (घ)
3. (ख)
4. (क)

इकाई - 6 विदेश नीति

इकाई की रूप रेखा

6.0 उद्देश्य
6.1 प्रस्तावना
6.2 विदेश नीति का अर्थ
6.3 विदेश नीति के लक्ष्य
6.4 विदेश नीति के निर्धारक तत्व - आन्तरिक तत्व
6.5 विदेश नीति के निर्धारक तत्व - बाहरी तत्व
6.6 विदेश नीति के साधन
6.7 प्रचार का साधन
6.8 विदेश नीति के आर्थिक साधन
6.9 कूटनीति : विदेश नीति के साधन के रूप में
6.10 युद्ध : विदेश नीति के साधन के रूप में
6.11 सारांश
6.12 सदर्भ ग्रन्थ
6.13 संबंधित प्रश्न
6.14 प्रश्नोत्तर

6.0 उद्देश्य

इस इकाई के अन्तर्गत विदेश नीति का अर्थ, उसके लक्ष्य, विदेश नीति के निर्धारक तत्व, विदेश नीति के साधन आदि का उल्लेख किया जाएगा । इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप -

- विदेश नीति के अर्थ तथा लक्ष्यों को स्पष्ट कर सकेंगें ।
- विदेश नीति के निर्धारक तत्वों का विवेचन कर सकेंगे ।
- विदेश नीति के साधनों का विश्लेषण कर सकेंगे ।

6.1 प्रस्तावना

प्रत्येक देश के अन्य देशों के साथ किसी न किसी प्रकार के सम्बन्ध होते हैं । आज के युग में यह सम्पूर्ण विश्व एक हो गया है। प्रत्येक राज्य का प्रभाव अन्य राज्यों पर पड़ता है। चाहे वह अनुकूल हो अथवा प्रतिकूल । सभी राज्य यह प्रयास करते हैं कि वह अपनी विदेश नीति को इस प्रकार बनाए कि दूसरे देशों की नीतियाँ उनके अनुकूल रहें तथा समस्त प्रतिकूल प्रभावों को वह सीमित कर दें । अतः यह कहा जा सकता है कि अन्य देशों को ध्यान में रखते हुए अपनी विदेश नीति का निर्माण करना आधुनिक राज्यों की एक अनिवार्य गतिविधि है।

एक निश्चित समय पर राज्य की विदेश नीति को अनेक आन्तरिक एवं वाह्य तत्व प्रभावित

करते हैं । नीति निर्माता को इन सभी प्रभावों को ध्यान में रखते हुए अपने देश के लिए एक उपयोगी विदेश नीति का निर्माण करना होता है। यह आन्तरिक एवं बाह्य तत्व शक्ति के तत्वों के समतुल्य होते हैं । अधिकतर जो तत्व शक्ति में वृद्धि करने की संभावना रखते है, वही विदेश नीति का भी निर्धारण करते हैं क्योंकि एक देश की विदेश नीति का लक्ष्य शक्ति प्राप्त करना अथवा उसमें वृद्धि करना ही होता है।

इन तत्वों की जानकारी होने पर एक देश चार प्रमुख साधनों का प्रयोग करता है। राजनय इसका एक सस्ता, शान्तिपूर्ण साधन है जिसका लगातार प्रयोग किया जाता है। प्रचार का प्रयोग भी दीर्घकालीन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए किया जाता है तथा आधुनिक युग में संचार क्रान्ति ने इस साधन को बहुत महत्वपूर्ण बना दिया है। विदेश नीति के आर्थिक साधन भी आज के युग में बहुदा प्रयुक्त होते है क्योंकि आज आर्थिक आत्मनिर्भरता का युग है। इन सभी साधनों के प्रयोग के बाद यदि परिणाम प्राप्त नहीं होता है तब युद्ध एक आखरी विकल्प के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। यद्यपि युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक वैद्य साधन नहीं है किन्तु इसका लगातार प्रयोग होता रहा है तथा आज भी होता है। अपनी सुरक्षा तथा क्षेत्रीय सहयोग के आधार पर इस साधन का प्रयोग होता है।

6.2 विदेश नीति का अर्थ

विदेश नीति को सरल शब्दों में राष्ट्र की वह नीति कहा जा सकता है जो विदेश से सम्बन्धित हो अथवा जो एक देश की सीमा के बाहर के मामलों से सम्बन्धित हो। अनेक विद्वानों ने विदेश नीति को अलग अलग प्रकार से परिभाषित किया है। प्रो. हिल के अनुसार,

"विदेश नीति अन्य देशों के साथ अपने हितों को बढ़ाने के लिए किये जाने वाले किसी राष्ट्र के प्रयासों का समुच्चय है।"

उनके अनुसार एक राष्ट्र अपने हितों को पूरा करने के लिए जो कदम उठाता है वह उसकी विदेश नीति होते है। अर्थात जो कदम एक राष्ट्र दूसरे राज्यों का व्यवहार प्रभावित करने के लिए उठाता है, चाहे वह अनुकूल प्रभाव हो या प्रतिकूल - उसे विदेश नीति का भाग माना जाता है। इसी आधार पर जार्ज मौडेल्स्की ने कहा है कि , "विदेश नीति उन क्रियाकलापों का समुच्चय है जो किसी समुदाय ने अन्य राज्यों का व्यवहार बदलने के लिए और अपने क्रियाकलापों को अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति के साथ समायोजित करने के लिए विकसित किया था।" दूसरे देशों के कामों को अपने अनुकूल बनाना तथा उनके प्रतिकूल प्रभाव को न्यूनतम करना ही विदेश नीति का प्रयोजन या काम है। इस आधार पर विदेश नीति यह प्रयास करती है कि वह अन्य राज्यों के व्यवहार को परिवर्तित करके ऐसी अवस्था लाए जिसमें अन्य राज्य उसके अनुकूल कार्य करें । किन्तु इस परिभाषा में गौडेल्स्की ने दूसरे देशों को विनियमित करना विदेश नीति का लक्ष्य नहीं माना है। इसके विपरीत फेलिक्स ग्रास ने विदेश नीति की विस्तृत परिभाषा दी है। वह कहते है कि "अपने क्रियात्मक रूप में विदेश नीति एक सरकार की दूसरी सरकार के प्रति, एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य के प्रति अथवा एक सरकार द्वारा एक अन्तर्राष्ट्रीय संघ के प्रति अपनायी गई विशिष्ट क्रिया पद्धति है।" उनका यह भी मानना है कि किसी राज्य के साथ कोई भी सम्बन्ध न रखने का निर्णय भी एक प्रकार की विदेश नीति है। इसी प्रकार के व्यापक रूप में श्लाइचर भी विदेश नीति को परिभाषित करते हैं । उनके अनुसार अपने व्यापक अर्थ में विदेश नीति उन उद्देश्यों, योजनाओं तथा क्रियाओं का सामूहिक रूप है जो एक राज्य अपने बाह्य सम्बन्धों को संचालित करने के लिए करता है। इसके अनुसार एक देश के अपनी सीमा के बाहर से जो भी सम्बन्ध होते हैं, वह विदेश नीति के द्वारा संचालित होते है।

विदेश नीति केवल कुछ लिखित दस्तावेज और महत्वपूर्ण भाषणों का ही संग्रह नहीं है। वह

समस्त सम्बन्धों का आधार रूप है। जे. आर. चाइल्ड्स ने इसे "वैदेशिक सम्बन्धों का सारभूत तत्व माना है" जिसको कि क्रियान्वित करने की प्रक्रिया राजनय है। इस विचार को अपनाते हुए रोडी तथा क्रिस्टल ने कहा है कि :

"विदेश नीति के अन्तर्गत ऐसे सामान्य सिद्धान्तों का निर्धारण और कार्यान्वयन सम्मिलित हैं जो किसी राज्य के व्यवहार को उस समय प्रभावित करते है। जब वह अपने महत्वपूर्ण हितों की रक्षा अथवा संवर्द्धन के लिए दूसरे राज्यों से बातचीत चलाता है।"

क्रिस्टन ने विदेश नीति में समस्त सिद्धान्तों तथा क्रियाओं का रखा है जो कि एक राष्ट्र अपने हितों की प्राप्ति के लिए प्रयुक्त करता है। विदेश नीति वह संश्लिस्ट एवं गतिशील राजनीति विद्या है जो कि एक देश दूसरे राज्यों के साथ अपने सम्बन्धों के पाल में प्रयुक्त करता है।

ब्रुकिंग शोध संस्थान का मत है कि -

"राष्ट्र की विदेश नीति उसकी विदेश नीतियों के समस्त योग से अधिक होती है। क्योंकि विदेश नीति में उस राष्ट्र की वचनबद्धता, हितों और लक्ष्यों का वर्तमान स्वरूप तथा उसके द्वारा घोषित उचित आचरण के (आदर्श) सिद्धान्त भी निहित होते हैं । "

यह सिद्धान्त वचनबद्धता तथा उचित आचरण देश की नीति को अन्य देशों की नीतियों से अलग प्रदर्शित करती है इस सब का आधार उस देश की परम्पराएं होती है। जो उसके मूल्यों तथा सांस्कृतिक परिवेश को निर्धारित करती है। इसी आधार पर हैण्डरसन ने माना है कि

"विदेश नीति राष्ट्रीय परम्पराओं से संचालित होती है।" इसके विपरीत विदेश नीति को जानकारी व अनुभव पर आधारित एक सर्वतोमुखी व्यापक योजना के रूप में भी देखा गया है। अमरीकी राजदूत हजगिब्सन ने विदेश नीति को एक नियोजन माना है जिसके अनुसार एक देश विश्व के अन्य देशों के साथ अपने सम्बन्धों का संचालन करता है तथा इसका उद्देश्य राष्ट्रीय हितों का विकास और संरक्षण करना होता है।

इन भिन्न परिभाषाओं के आधार पर यह माना जा सकता है कि एक देश की विदेश नीति उसके उद्देश्यों की पूर्ति के लिए दूसरे देशों के साथ उसके सम्बन्धों को संचालित करती है। राष्ट्रीय शक्ति तथा हित इसका मुख्य आधार होते है।

6.3 विदेश नीति के लक्ष्य

प्रत्येक राज्य अपने राष्ट्रीय हित स्वयं निर्धारित करता है तथा इनके अनुरूप अपनी विदेश नीति का निर्माण करता है । पहली इकाई में विदेश नीति तथा राष्ट्रीय हित के इस सम्बन्ध के बारे में विस्तृत चर्चा की गई है। उस सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय हित विदेश नीति का प्रमुख आधार होता है। राष्ट्रीय हित विदेश नीति निर्माण का प्रारम्भ बिन्दु है। राष्ट्रीय हित के आधार पर विदेश नीति के तीन प्रकार के हित है। प्राथमिक हित, मध्यवर्ती हित तथा दीर्घकालीन हित।

(विस्तृत चर्चा के लिए इकाई एक देखें)

विदेश नीति के कुछ प्रमुख लक्ष्य राज्य के द्वारा निर्धारित किये जाते है। यह स्पष्ट करना उचित होगा कि यह लक्ष्य सदैव एक से बने नहीं रहते । आवश्यकता एवं परिस्थिति के अनुरूप इनमें बदलाव आता रहता है। विदेश नीति गतिशील होती है तथा इसके लक्ष्य भी। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के बदलते परिप्रेक्ष्य में विदेश नीति के लक्ष्य भी उस मौजूदा वातावरण में अपने को ढालने का प्रयास करते हैं।

इसके अतिरिक्त राज्य वरीयता के आधार पर अपने लक्ष्यों को दी गयी प्राथमिकता में भी

परिवर्तन करता है। परिस्थिति के अनुरूप किसी लक्ष्य को एक समय पर वरीयता दी जाती है जो कि समय और परिस्थिति के साथ बदल भी सकती है।

इस सन्दर्भ में विदेश नीति के लक्ष्यों का अग्रांकित बिन्दुओं के अन्तर्गत अध्ययन किया जा सकता है।

(क) राष्ट्रीय सीमाओं की सुरक्षा

(ख) विश्वशान्ति और सुरक्षा की स्थापना

(ग) बहुमुखी आन्तरिक विकास

(घ) आर्थिक उद्देश्य

(ङ) वैचारिक उद्देश्य

(च) सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली बनना

(छ) राष्ट्रीय स्वाधीनता की रक्षा करना

(ज) धार्मिक उद्देश्य

(झ) सांस्कृतिक उद्देश्य

अधिकतर राज्य इस क्रम में ही अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयास करते है। किन्तु स्थितिनुसार इस क्रम को बदला भी जाता है। वरीयता का निर्धारण करना आवश्यक होता है। ताकि अधिक महत्व रखने वाले लक्ष्यों को पहले पूर्ण करने का प्रयास किया जा सके । नॉथऐज ने कहा है कि एक नीति निर्माता का प्रमुख कार्य होता है। राष्ट्र के हितों को स्पष्ट करना तथा उनकी वरीयता के आधार पर सूची तैयार करना । अधिकतर राष्ट्रों के लिए अपने अस्तित्व को बनाए रखना, स्वतंत्रता तथा अखण्डता का सुरक्षित रखना ही पहला लक्ष्य होता है। नीति निर्माता पहली कुछ आवश्यकताओं को अपने देश की स्थितियों के आधार पर पूरा करने का प्रयास करते है।

6.4 विदेश नीति के निर्धारक तत्त्व - आन्तरिक तत्त्व

एक देश की विदेशनीति अनेक तत्वों के आधार पर निर्मित होती है । इन तत्वों के विदेश नीति का निर्धारक तत्व कहा जाता है क्योंकि इन तत्वों को वस्तुनिष्ठ तरीके से मूल्यांकित करके एक यथार्थवादी (प्रेग्मैटिक) विदेश नीति का निर्माण किया जा सकता है। समस्त तत्त्वों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है - वस्तुनिष्ठ और मूलनिष्ठ विदेश नीति के वस्तुनिष्ठ तत्व वे परिस्थितियाँ हैं जिनमें एक देश को काम करना होता है तथा सब्जेक्टिव तत्व वे तत्व या विशेष परिस्थितियाँ हैं जिनके द्वारा एक देश प्रभावित होता है।

विदेश नीति राष्ट्रीय हितों को पूरा करने के लक्ष्य से बनाई जाती है। राष्ट्रीय हित शक्ति के ऊपर निर्भर करता है। अतः विदेश नीति के निर्धारक तत्व राष्ट्रीय शक्ति के तत्वों से समानता रखते है।इन तत्वों को स्पष्ट करने के लिए उन्हें आन्तरिक तथा बाह्य तत्वों में विभाजित किया गया है । इन तत्वों को समझते समय यह ध्यान रखना जरूरी है कि समय, काल और परिस्थितियों के बदलते परिप्रेक्ष्य में इन तत्वों में एक दूसरे की महत्ता घटती बढ़ती रहती है। साथ ही इनमें से कोई तत्व स्वतंत्र रूप से कार्य नहीं करता है समस्त तत्व एक दूसरे से जुड़े हैं, इसलिए विदेश नीति निर्माता इनके सम्मिलित प्रभाव को ध्यान में रखकर विदेश नीति निर्धारण करते है। विदेश नीति के निर्धारक तत्व निम्नलिखित हैं -

आन्तरिक तत्व

(क) जनसंख्या

जनसंख्या शक्ति को प्रभावित करती है। तथा विदेश नीति के क्षेत्र में एक प्रमुख तत्व है। जनसंख्या के संख्यात्मक एवं गुणात्मक पहलू दोनों ही महत्वपूर्ण होते है। जनसंख्या की संख्यात्मक दृष्टि से अमरीका और जापान हालांकि चीन और भारत से छोटे हैं किन्तु जनसंख्या की गुणात्मक दृष्टि से काफी बड़े हैं । इसी कारण विश्व में गुणात्मक दृष्टि से सम्पन्न देश जैसे जापान, अमरीका, जर्मनी और ब्रिटेन, एक महत्वपूर्ण स्थिति बनाये हुए हैं । क्षेत्र तथा जनसंख्या की दृष्टि से छोटे देश अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कम महत्व रखते हैं जबकि एक बड़े देश के नेता तथा लोग भारी जिम्मेदारी उठाने को तत्पर रहते हैं। जनसंख्या किस प्रकार से एक देश की शक्ति को प्रभावित करती है इसकी चर्चा दूसरी इकाई में भी की गई है।

(ख) भौगोलिक स्थिति

भौगोलिक स्थिति वह स्थाई तत्व है जिसमें अधिकांशतया परिवर्तन नहीं होता । एक देश का मौसम, अवस्थिति, दूसरे देशों से दूरी, उर्वरता, जल का भण्डार इत्यादि तत्व उस देश की विदेश नीति को स्थायी रूप से प्रभावित करते हैं । डा. ईअर्स का कहना है कि समझौते तोड़े जा सकते है।, सन्धियाँ एक देश के द्वारा त्यागी जा सकती है। किन्तु भूगोल अपने शिकार को जोर से पकड़ता हैं । वह एक ऐसा तत्व है जिसकी उपेक्षा करना सम्भव नहीं है । अमरीका अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण ही अलगाववादी नीति अपना पाया था। भारत को अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण स्थल सेना, नौ सेना तथा वायु सेना तीनों का अपार व्यय सहना पड़ता है। इसके विपरीत नेपाल को नौ सेना की आवश्यकता ही नहीं है क्योंकि उसकी कोई भी सीमा समुद्र से लगी हुई नहीं है। यह तत्व महत्वपूर्ण है किन्तु आज के वैज्ञानिक युग में दूर संचार तथा यातायात के साधनों के विकास के कारण इसका महत्व कुछ कम हो गया है। पहले की भाँति ऊंची पहाड़ियां तथा समुद्र सैनिक आक्रमणों के मार्ग में प्राकृतिक बाधा नहीं रह गये हैं ।

(ग) प्राकृतिक सम्पदा

यह तत्व भी एक स्थायी और निश्चित तत्व है, किन्तु इसमें परिवर्तन लाना सम्भव है। प्राकृतिक सम्पदा दोहन के बाद समाप्त हो सकती है। दूसरे विश्व युद्ध के उपरान्त खाड़ी के देशों का महत्व तेल के भण्डार के कारण बढ़ा है तथा अमरीका ने इस क्षेत्र के देशों के प्रति अपनी नीति इसी कारण परिवर्तित की है। किन्तु पानी, तेल जैसी बहुमूल्य वस्तुओं के लगातार प्रयोग से उनका भण्डार समाप्त भी हो सकता है। अमरीका अपनी प्राकृतिक बहुलता के कारण अत्यधिक समृद्ध राज्य है तथा इसी आधार पर छोटे देशों की विदेश नीतियों को अपने पक्ष में प्रभावित करता है।

(घ) संस्कृति और इतिहास

ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक परम्पराओं में समानता लोगों को एक दूसरे से बाँधती हैं एक देश जिसकी जनता इन भाषा, धर्म, संस्कृति, इतिहास, नस्ल के आधारों पर बंधी हुई है वह एक प्रभावी नीति अपना सकता है । प्रो. रोजेनाऊ का मानना है कि सांस्कृतिक तत्व न केवल सामाजिक एकता उत्पन्न करते है। अपितु एक देश की योजनाओं तथा नीतियों को भी प्रभावित करते हैं । उदाहरण के लिए भाषा और नस्ल के कारण ही सीमान्त प्रदेश के पठानों के मसले को लेकर अफगानिस्तान और पाकिस्तान के सम्बन्ध खराब रहे है। अरब इजराइल युद्ध के पीछे धर्म का प्रमुख कारण था। रंगभेद की नीति के कारण दक्षिण अफ्रीका की गोरी सरकार को विश्व के राष्ट्रों से अलग

(ङ) आर्थिक विकास और औद्योगिक क्षमता

एक राज्य का आर्थिक विकास उसकी विदेश नीति का एक प्रमुख तत्व है। विज्ञान और तकनीकी के इस युग में औद्योगिकीकरण में लगातार वृद्धि हो रही है। किसी भी देश की औद्योगिक प्रगति उसके अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को प्रभावित करती है। तकनीकी विकास का प्रभाव एक देश की सैनिक तथा आर्थिक क्षमताओं को भी प्रभावित करता है। अतः उसकी विदेश नीति का एक प्रमुख निर्धारक तत्व होता है।

(च) सैनिक शक्ति

एक राज्य की सैनिक शक्ति उसकी विदेश नीति को प्रभावित करती है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सभी देश अपनी सुरक्षा तथा शक्ति के संघर्ष में सफलता प्राप्त करने में प्रयत्नरत रहते है। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए एक राज्य की विदेश नीति को उसके अनुरूप बनाना होता है तथा एक प्रभावी नीति इस लक्ष्य को हासिल करा सकती है। जिस देश के पास अधिक शक्ति होती है उसे दूसरे देशों को प्रभावित करना आसान होता है। दूसरे विश्व युद्ध के बाद अमरीका तथा सोवियत संघ अपनी सैनिक शक्ति के कारण महान शक्तियों के रूप में स्वीकार किये गये । इसी कारण आइनिस क्लॉड ने शक्ति के विश्लेषण का मुख्य विषय सैनिक पहलू को ही माना है।

(छ) नेतृत्व

नेतृत्व अथवा नीति निर्माता विदेश नीति का प्रमुख मानवीय निर्धारण तत्व है। जो राजनेता विदेश मंत्रालय के अधिकारी, कूटनीतिज्ञ, इत्यादि देश की विदेश नीति के निर्माण में सक्रिय भूमिका निभाते हैं उनकी सोच का प्रभाव विदेश नीति पर पड़ता है । रोजेनाऊ ने कहा है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र के विषय में जो विचार एक नेता के होते हैं, जो उसके द्वारा निर्धारित लक्ष्य होते है, उसकी निर्णय निर्माण की क्षमता होती है तथा चरित्र के गुण होते है उनका प्रभाव विदेश नीति के निर्माण पर पड़ता है । किन्तु नेतृत्व के प्रभाव को सरकारी ढांचे तथा सामाजिक व्यवस्था द्वारा कुछ हद तक सीमित किया जाता है। विकासशील देशों में यह पाया जाता है कि नेतृत्व की भूमिका औद्योगिक रूप से विकसित समाजों की तुलना में अधिक है।

(ज) सामाजिक व्यवस्था

एक समाज भी विदेश नीति को प्रभावित करता है । धर्म, जाति, क्षेत्र साधन इत्यादि के आचार पर बँटा हुआ एक समाज एक प्रभावी विदेश नीति नहीं अपना पाता है क्योंकि उस नीति को सभी वर्गों का सहयोग प्राप्त नहीं होता है। जिस समाज के लोग एकता के धागे से बंधे होते हैं उसमें विदेश नीति भी प्रभावी होती है। उदाहरण के लिए चर्चहिल के कार्यकाल में विश्वयुद्ध के समय ब्रिटेन की जनता ने एकजुट होकर सभी कठिनाइयों का सामना किया था।

(झ) राजनैतिक व्यवस्था

एक राज्य की राजनैतिक व्यवस्था भी उसकी विदेश नीति को प्रभावित करती है। अधिकतर निर्णय निर्माण की प्रक्रिया एक निरंकुशवादी व्यवस्था में कम समय लेती हैं क्योंकि निर्णय एक व्यक्ति पर निर्भर करता है। किन्तु ऐसे देशों में सिद्धान्त तथा व्यवहारिक पक्ष में अन्तर हो सकता है क्योंकि यह एक व्यक्ति दूसरों (अपने अधीन काम करने वालों) द्वारा दी गई जानकारी के आधार पर निर्णय निर्माण करता है। इसके विपरीत एक लोकतांत्रिक व्यवस्था में जनता घरेलू तथा विदेश नीति के सम्बन्ध में अपने विचार स्वतंत्रता से व्यक्त करती है। अतः वास्तविक स्थिति तथा सरकारी विचारों

में बहुत अन्तर नहीं होता है। किन्तु सभी लोकतांत्रिक व्यवस्थाएं एक समान नहीं होती । संसदात्मक तथा अध्यक्षात्मक सरकारों में भेद पाया जाता है। उसी प्रकार जहाँ बहुदलीय व्यवस्था है वहाँ द्विदलीय व्यवस्था से अधिक समय निर्णय लेने में लगता है । स्पष्ट निर्णय लिए ही नहीं जाते है।

राजनैतिक उत्तरदायित्व भी विदेश नीति को प्रभावित करता है। जिन व्यवस्थाओं में सरकार जनता के प्रति उत्तरदायी होती है वहाँ जनता की मांगें नीति निर्माण पर प्रभाव डालती है। किन्तु जहाँ सरकार जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं है वहाँ न तो जनमत प्राप्त किया जाता है और न ही उसका कोई महत्व होता है।

जनता की बदलती हुई भावनाओं तथा माँगों का प्रभाव लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में देखने को मिलता है । एक निरंकुशवादी सरकार पर उसका कोई प्रभाव नहीं होता है।

(ञ) प्रेस की भूमिका

प्रेस विदेश नीति को प्रभावित करती है। क्योंकि उसके द्वारा जनता तक पहुँचाई हुई जानकारी के आधार पर जनता निर्णय लेती है। प्रेस के द्वारा अगर किसी अन्तर्राष्ट्रीय मसले पर लेख लिखे जाते हैं, चर्चा की जाती है तब वह विषय जनता का ध्यान आकर्षित करता है तथा उनका मत तैयार करने में सहायक होता है । साथ ही, सरकार की विदेश नीति का प्रचार करने में भी प्रेस एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। किन्तु एक देश में प्रेस किस सीमा तक प्रभावी होगी यह वहाँ पर अपनाई गई राजनैतिक व्यवस्था, सरकार के नजरिए तथा साक्षरता दर पर निर्भर करता है।

(ट) राजनय या कूटनीति

एक देश में कूटनीति की प्राथमिकता भी उसकी विदेशनीति को प्रभावित करती है। यदि एक देश के पास शक्ति के अन्य तत्व उपस्थित नहीं होते है, तो वह अपनी कूटनीति का कुशल प्रयोग कर के भी सफलता प्राप्त कर सकती है। एक कुशल राजनयक को अपने लक्ष्य स्पष्ट होने चाहिए तथा उसमें इन लक्ष्यों को प्राप्त करने की क्षमता भी होनी चाहिए।

(ठ) विचारधारा

विदेश नीति पर विचार धारा का भी प्रभाव पड़ता है किन्तु आज इसकी भूमिका भी क्षीण हो गयी है।

6.5 विदेश नीति के निर्धारक तत्व - बाहरी तत्व

आज के युग में समस्त देश एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। इस कारण एक देश में होने वाली घटनाओं का प्रभाव दूसरे देशों पर भी पड़ता है । इस कारण किसी पड़ोसी देश में तख्ता पलटना, खाड़ी की तेल कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण या शस्त्र नियंत्रण के समझौतों का प्रभाव अन्य देशों के नेताओं पर भी देखा जा सकता है। इसके कारण विदेश नीति के कुछ निर्धारण तत्व हैं जिनको बाह्य तत्व कहा जाता है। इनमें प्रमुख तत्व निम्नलिखित हैं -

(क) शक्ति व्यवस्था

रोजेनाऊ का मानना है कि एक देश की विदेश नीति इस बात पर निर्भर करती है। कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर शक्ति के आधार पर बनी सोपानीय व्यवस्था में उसका स्थान कहाँ पर है। साथ ही एक निश्चित समय पर विश्व में किन नियमों के आधार पर सम्बन्धों का संचालन हो रहा है। केवल अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ही नहीं, क्षेत्रीय तथा निचले स्तर पर भी शक्ति की व्यवस्था को समझकर ही विदेश नीति बनाई जा सकती है।

(ख) सन्धियाँ और समझौते

एक देश के द्वारा किए गये समझौते भी उसकी विदेश नीति का निर्धारण करते है। सन्धि पर हस्ताक्षर करने के बाद एक देश को कोई भी निर्णय लेने के पहले अपने अन्य सहयोगियों की आवश्यकताओं के विषय में सोचना पड़ता है। हालाँकि सन्धियाँ नीति बनाने में कुछ स्वतंत्रता प्रदान करती है। किन्तु अपने सहयोगी देशों के अनुरूप नीति बनाने के लिए अधिकतर देश कार्य करते है।

(ग) विश्व संगठन

किसी भी विश्व संगठन का सदस्य बनने के बाद एक देश उसके उद्देश्यों तथा सिद्धान्तों और निर्णयों से बंध जाता है। उदाहरण के तौर पर 1945 में स्थापित संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता स्वीकार करने के बाद समक्ष सदस्य देशों की विदेश नीति मर्यादित हो गई है। अतः विश्व संगठन को भी एक निर्धारक तत्व माना गया है।

(घ) विश्व जनमत

विदेश नीति के क्षेत्र में विश्व जनमत की प्रभावशाली भूमिका होती है । अन्तर्निभरता के कारण किसी भी देश की विदेश नीति अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के साथ अन्तरक्रिया करती है। नीति के निर्माण के समय राज्य विश्व जनमत के अनुकूल या प्रतिकूल होने की सम्भावना पर विचार करता है। साथ ही, आज हर राज्य विश्व जनमत को अपने पक्ष में करने के लिए अनेक प्रकार के प्रचारात्मक कार्य करता है। ताकि उसके मित्र राज्यों की संख्या में वृद्धि हो तथा वह अपना विकास करने में सफल रहे। अतः विदेश नीति पर विश्व जनमत का गहरा प्रभाव पड़ता है।

इस प्रकार यह आन्तरिक एवं बाह्य तत्व विदेश नीति के निर्माण में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं । इन तत्वों के आधार पर नीति निर्माता एक सफल विदेश नीति की रचना कर सकते है। यदि वह अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों को आँक कर सही निर्णय ले सकें तथा उन्हें अपनी जनता का पूर्ण सहयोग प्राप्त हो। नाथऐज ने कहा है कि एक विदेश नीति अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने में तब सफल होती है जब वह तथ्यों पर आधारित हो, उसको पूरा करने के लिए पर्याप्त साधन हों तथा भाग्य साथ दे रहा हो । यदि विदेश नीति समयानुकूल होती है तब उसके सफल होने की सम्भावना सबसे अधिक होती है। यदि वह दूसरे देशों के साथ संघर्ष अथवा टकराव कर के अपने लक्ष्य प्राप्त करना चाहें तो सफलता कठिन होती है।

6.6 विदेश नीति के साधन

अपनी विदेश नीति के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए देश अलग अलग प्रकार के साधनों का प्रयोग करते है। भिन्न भिन्न परिस्थितियों में अलग अलग साधनों का प्रयोग किया जाता है। एक साथ कई साधनों का भी प्रयोग किया जा सकता है। वर्तमान युग में प्रयुक्त किए जाने वाले कुछ साधन निम्नलिखित हैं ।

(1) सन्धि वार्ता तथा सन्धि

(2) आर्थिक सहयोग संगठनों की स्थापना तथा आर्थिक सम्बन्ध विकसित करना

(3) दैव्य कूटनीतिक सम्बन्धों की स्थापना तथा सांस्कृतिक, वैज्ञानिक, शैक्षणिक सम्बन्ध बनाना

(4) नये राज्यों को मान्यता देना

(5) कूटनीतिक सम्बन्धों को भंग करना अथवा चेतावनी देना

(6) गुप्तचर विभाग का प्रयोग करना

(7) विश्व संगठन की सहायता प्राप्त करना

इन अलग अलग साधनों को स्पष्टता के लिए चार प्रमुख साधनों के रूप में समझाया जाएगा।

(क) प्रचार

(ख) कूटनीति

(ग) आर्थिक साधन

(घ) युद्ध

6.7 प्रचार का साधन

(क) प्रचार का अर्थ -

संचार साधनों के विभिन्न विज्ञान और प्रौद्योगिकी में हुई बहुत भारी प्रगति के कारण प्रचार आज विदेश नीति का प्रमुख साधन है आधुनिक लोकतांत्रिक युग में प्रचार का विशिष्ट महत्व है। यह राजनय, साम्राज्यवाद आदि के अन्य साधनों का अधिक कुशलता से क्रियान्वयन करने में सहायक होता हैं । इस साधन का प्रयोग इतिहास के हर युग में हुआ है किन्तु पिछले कुछ दशकों में इस साधन का महत्व अधिक हो गया है । संचार के इस युग में इस साधन का अधिक प्रयोग किया जाता है। प्रचार का अर्थ सामान्यतः उन कार्यों से लिया जाता है जो दूसरे व्यक्ति को अपना पक्ष समझाने तथा तदनुकूल आचरण कराने के लिए किए जाते हैं । इसको अनेक प्रकार से परिभाषित किया गया है। हाल्सटी के अनुसार,

''प्रचार जान बूझकर किया गया प्रयास है, जिसे कुछ व्यक्ति अथवा समुदाय संचार के साधनों को प्रयोग में लाकर इसे समुदायों के दृष्टिकोणों को इसलिए निर्मित क्रियान्वित अथवा परिवर्तित करते है। ताकि किसी निश्चित परिस्थितियों में इस प्रकार प्रभावित होने वालों की प्रतिक्रिया प्रचार करने वालों के पक्ष में हों ''।

इसके माध्यम से एक राज्य अपने राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि के लिए जनमत के मस्तिष्क को प्रभावित करता है। यदि यह प्रयास व्यवस्थित है तो उसे प्रचार कहते है। इस विचार को जोसेफ फ्रेंकेल ने इस प्रकार व्यक्त किया है -

''प्रचार से हमारा अर्थ सामान्यतः किसी भी ऐसे व्यवस्थित प्रयास से होता है जो किसी विशेष उद्देश्य के लिए प्रदत्त समूह के मस्तिष्कों को, भावनाओं को तथा क्रियाओं को प्रभावित करने के लिए किया जाता है ।'' इसी प्रकार से पामर एवं पर्किन्स ने भी प्रचार को सरकारों या सरकारों के सदस्यों द्वारा व्यवस्थित प्रयास के रूप में परिभाषित किया है ''जिसके द्वारा राज्य के अन्दर समुदायों या विदेशी राज्यों को अपने समर्थन में नीतियों को ग्रहण करना या कम से कम अपने विरोध पूर्ण नीतियों का ग्रहण न करना, आदि के लिए प्रभावित करना है।''

हेरल्ड लासवेल ने प्रचार को अलग रूप से परिभाषित करते हुये कहा है कि -

''प्रचार विवादास्पद दृष्टिकोणों को नियन्त्रित करने के लिए प्रतीकों का विस्तार है।''

आज के लोकतांत्रिक युग में जनमत की भूमिका को ध्यान में रखते हुये मॉल लिम्बारगर के

अनुसार ,

''प्रचार सार्वजनिक अथवा जनता द्वारा निर्मित संचार साधनों के किसी भी स्वरूप का वह नियोजित प्रयोग है जिसका उद्देश्य किसी निश्चित समुदाय के लोगों के किसी निश्चित सार्वजनिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मस्तिष्कों , भावनाओं तथा क्रियाओं पर प्रभाव डालना हो ।''

इन सभी परिभाषाओं के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रचार एक सुनियोजित प्रयास है तथा इसका लक्ष्य प्रभावित करने का अथवा दूसरे के विचारों को परिवर्तित करने का होता है। इस कारण प्रचार का प्रयोग देश के अन्दर एक सुगठित विचार बनाने का तथा विदेश में अपनी राष्ट्रीय नीतियों का प्रसार करने के लिए किया जाता है।

(ख) प्रचार की विधि

प्रचार के लिए कई साधनों, प्रतीकों इत्यादि का प्रयोग किया जाता है। किस परिस्थिति में किस साधन या प्रतीक का प्रयोग किया जाना है यह प्रचार की रणनीति बनाने वाले पर निर्भर करता है । पामर और पर्किन्स ने इसकी एक विशेषता यह भी बताई है कि प्रचार वह सरकारी नीति है जो नैतिक या अनैतिक नहीं होती । अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जब एक सरकार अपनी जनता अथवा दूसरे देशों को ऐसी नीतियाँ अपनाने के लिए प्रेरित करते हैं जो उनके अनुकूल हो अथवा उनके प्रतिकूल न हों, तब उसे प्रचार कहा जाता है। प्रचार कभी सही या गलत नहीं होता। वह केवल देश के राष्ट्रीय हित से सम्बन्धित होता है।

प्रचार में सफलता प्राप्त करने के लिए एक गुट के विचार, उसकी आशंकाओं , लक्ष्यों कमजोरियों तथा क्षमताओं का सही आंकलन आवश्यक होता है। हार्टर और गुलीवान ने हालांकि प्रचार की ''तकनीकों का उल्लेख किया है किन्तु पामर और पर्किन्स ने उन्हें चार गुटों में विभाजित कर रखा है।

(1) प्रस्तुत करने की विधि

(2) ध्यान आकर्षित करने की विधि

(3) प्रत्युत्तर प्राप्त करने की विधि

(4) स्वीकृति प्राप्त करने की विधि

(1) प्रस्तुत करने की विधि -

एक प्रचारक की प्रस्तुत करने की विधि एक वकील के समान होती है। वह अपनी बात को कहते समय यह ध्यान रंखता है कि वह केवल अपने पक्ष की बात बताए। वह बड़ी सावधानी से अपने तर्कों को संगठित करता है जिससे केवल एक पक्ष सिद्ध हो तथा दूसरा व्यक्त न हो। जिन तथ्यों से उसके पक्ष को नुकसान पहुँचता है वह उसे व्यक्त नहीं करता है। एक प्रचारक सत्य का प्रयोग कर सकता है, किन्तु यह आवश्यक नहीं कि वह पूर्ण सत्य का प्रयोग न करें । अधिकतर वह सच्चाई को छुपाता था या फिर असत्य और धोके का सहारा भी ले सकता है। कभी कभी जाली दस्तावेज भी तैयार किए जाते है। उदाहरण के लिए, जब हिटलर ने चेकोस्लोवाकिया पर कब्जा करने की सोची तो उसने अपना उद्देश्य यह बताया कि वह उसके केवल उन्हीं प्रदेशों को प्राप्त करना चाहता है जिनमें जर्मन भाषा भाषी स्यूडेटन लोग बसे हुए हैं । उसने यह बात नहीं बताई कि स्यूडेटन क्षेत्र में प्रमुख उद्योग और पहाड़ी सुरक्षा के केन्द्र थे तथा हिटलर केवल वही क्षेत्र नहीं अपितु पूरा चेकोस्लोवाकिया चाहता था । उसी प्रकार, कश्मीर को लेकर पाकिस्तान अपने तर्क तोड़ मरोड़ कर प्रस्तुत करता रहा है ताकि कशमीर उसको प्राप्त हो सके ।

(2) ध्यान आकर्षित करने की विधि -

एक बार प्रचारक ने अपना लक्ष्य साध्य कर नीति बना ली है। तब वह चाहता हैं कि उसके उद्देश्य को सभी जाने । सम्बद्ध देशों का ध्यान आकर्षित करने के लिए वह अनेक साधन अपनाता है। दूसरे देश की सरकार के लिए समय-समय पर नोटस, पत्र, विरोध पत्र आदि भेजे जाते हैं। कभी-कभी राष्ट्र अपनी शक्ति का प्रदर्शन भी करता है। जैसे सेनाओं की परेड, एयर शो इत्यादि। हर देश के दूतावास में कुछ कर्मचारियों को 'सांस्कृतिक अधिकारी' का दर्जा दिया जाता है । इनका काम होता है वार्ताए, भाषण, पोस्टर, गाइड, फिल्म इत्यादि के द्वारा अपने देश की संस्कृति, साहित्य, कला, रीति रिवाज से विदेशियों को परिचित कराना । आजकल शासनाध्यक्ष सेनाओं, अन्य नेताओं की यात्राओं का भी इस कार्य के लिए प्रयोग किया जाता है इन सदभावना यात्राओं के द्वारा राष्ट्रों को दूसरे देशों में अपनी नीति के प्रचार के लिए अच्छा अवसर प्राप्त होता है। कुछ विशेष कार्यक्रम आयोजित कर के भी ध्यान आकर्षित किया जा सकता है। जैसे भारत ने फ्रांस तथा अमरीका और मेलबोर्न में भारत पर्व और इण्डिया नाइट आयोजित की थी ।

(3) प्रत्युत्तर प्राप्त करने की विधि -

अपने पक्ष में प्रत्युत्तर प्राप्त करने के लिए प्रचारक को कुछ भावनाओं पर निर्भर करना होता है। विज्ञापन अधिकतर सामाजिक स्वीकृति,सम्मान प्राप्त करने की इच्छा,गर्व की भावना जैसी भावनाओं के आधार पर अपने सामान को बेचने का प्रयास करते है। उसी प्रकार अपने राष्ट के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए राष्ट्र भक्ति, न्यायप्रियता, आत्म रक्षा, आत्म सम्मान की भावनाओं को प्रेषित करने के आधार पर एक राज्य काम करता है। प्रत्युत्तर प्राप्त करने के लिए कुछ नारों का प्रयोग किया जाता है 'स्वतंत्रता समानता और भ्रातृत्व', राष्ट्रीय आत्म निर्णय का अधिकार, 'दुनिया के मजदूरों एक हो', 'जनतन्त्र' खतरे में है।

नारों के साथ साथ कुछ चिन्हों प्रतीकों जैसे राष्ट्रीय ध्वज, राष्ट्रीय गीत आदि का भी प्रयोग किया जाता है। राष्ट्रों के प्रतीकों का काम कभी कभी राष्ट्रीय नेताओं और सामाजिक चिन्ह से भी किया जाता है। जैसे नाजी जर्मनी में 'स्वास्तिक' हिटलर के उद्देश्यों, आकांक्षाओं और अभिलाषाओं का द्योतक था तथा वहाँ के लोग उसे श्रद्धा से देखते थे । अमरीका की चील, ब्रिटेन का शेर तथा रूस का भालू भी राष्ट्रीय प्रतीक है।

(4) स्वीकृति प्राप्त करने की विधि -

प्रचारक इस प्रकार के प्रयास करता है जिससे दूसरे देश उसकी नीतियों को स्वीकृति प्रदान कर दें। प्रचारक तथा प्रचारित में पूर्ण तादात्म्य स्थापित होना चाहिए । स्वीकृति प्राप्त करने के लिए प्रचारक उस समुदाय के साथ अपनी समानता जताता है जिससे वह स्वीकृति चाहता है। भारत की स्वीकृति प्राप्त करने के लिए अमरीका अपने साम्राज्यवादी इतिहास तथा लोकतन्त्र का हवाला देता है। कभी कभी लोक धर्म, जाति, विचारधारा का सहारा लेकर भी स्वीकृति प्राप्त की जाती है।जापान ने पश्चिमी देशों के विरूद्ध ऐशिया के लोगों का समर्थन प्राप्त करने के लिए 'एशिया एशियावासियों के लिए' का नारा लगाया था। हिटलर ने पश्चिमी देशों के जर्मन विरोध को कुण्ठित करने के लिए साम्यवादी खतरे का नारा बुलन्द किया था।

स्वीकृति प्राप्त करने का एक प्रमुख तरीका ईश्वर की इच्छा अथवा वरदान का हवाला देना होता है। पोप अर्बन II ने क्रूसेड आरम्भ करते नारा दिया था, 'Deus vult' - god will it.

(ग) प्रभावी प्रचार की आवश्यकताएं

अपने प्रचार को प्रभावशाली बनाने के लिए निम्नलिखित विशेषताओं को ध्यान में रखना आवश्यक है।

(1) प्रचार में सादगी होनी चाहिए । प्रचार में ऐसे सरल, सुगम और बोधगम्य नारे होने चाहिए जो औसत आदमी को समझ मे आ सके ।

(2) वह सुरूचिपूर्ण हो और सुनने में आकर्षक हो ।

(3) उसका विश्वसनीय होना आवश्यक है यदि झूठ का सहारा लिया गया हो तो वह इतनी बार दोहराया जाय कि उस पर विश्वास हो सके।

(4) उसमें निरन्तरता होनी चाहिए क्योंकि जिस देश की नीति का आधार बदलता रहता है उसे गम्भीरता से नहीं लिया जाता है।

(5) प्रचार दीर्घकालीन नीति के साथ संयुक्त होने चाहिए तथा उसके अनुसार कार्य भी किया जाना चाहिए।

(6) प्रचार में ऐसी भाषा, समस्याओं तथा नारों का प्रयोग होना चाहिए जो कि आम आदमी से जुड़े हुए हों तथा उसको आसानी से प्रभावि कर सकें।

(घ) प्रचार की सीमाएं और सफलताएं -

सभी प्रचारक अपने प्रयासों में अधिक से अधिक सफलता प्राप्त करने का प्रयास करते हं। किन्तु प्रचार को अधिकतर प्रति प्रचार का सामना करना पड़ता है। प्रचारक को इसके कारण दूसरों के साथ ध्यान आकृष्ट करने की प्रतिस्पर्धा करनी पड़ती हैं । आज के युग में संचार के नवीनतम साधन उपलब्ध है किन्तु हर देश अपनी जनता को अलग अलग हद तक विश्व के अन्य भागों से अलग करने का प्रयास करता है। सेन्सर की व्यवस्था अधिनायकतन्त्र में लोकतंन्त्र से अधिक पाई जाती है। अतः एक प्रचारक को सरकार के नियन्त्रणों तथा दूसरों के प्रचार के द्वारा सीमित किया जाता है।

इन परिस्थितियों में प्रचारक अधिकतर अपने विपक्षी को गलत / सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। वह अपने विपक्षी को किसी नाकारात्मक विचारधारा अथवा कार्य के साथ जोड़कर विश्व के सामने नीचा दिखाने का प्रयास करता हैं। उदाहरण के लिए, अमरीका हमेशा रूस को 'लोकतन्त्र का विरोधी' बताता था जबकि रूस अमरीका को 'पूंजीवादी, साम्राज्यवादी युद्ध को बढ़ावा देने वाले के रूप में देखता था ।

इन सीमाओं के रहते भी प्रचार आज अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति के प्रयोग का एक महत्वपूर्ण पहलू है । वर्तमान युग में प्रचार की अवहेलना कोई भी देश नहीं कर सकता है। इस जटिल और व्यापक राजनीति में राष्ट्रीय हितों में अभिवृद्धि प्रचार के बिना असम्भव है। इसका प्रयोग कूटनीति, राजनीतिक युद्ध अन्य सैनिक कार्यवाहियों में निरन्तर होता है तथा समय के साथ इसमें नए नए आयाम जुड़ते जा रहे है।

6.8 विदेश नीति के आर्थिक साधन

(क) आर्थिक साधन का अर्थ -

प्रत्येक राज्य अपने राष्ट्रीय हित में अभिवृद्धि के लिए अलग अलग आर्थिक नीतियों का प्रयोग करता है। सर्वाधिकारवादी तथा लोकतांत्रिक राज्यों में आर्थिक गतिविधियों पर भिन्न भिन्न प्रकार के

नियन्त्रण पाये जाते है। जब भी कोई राज्य अपनी राष्ट्रीय नीति के हित संवर्द्धन के लिए विशिष्ट आर्थिक नीतियां अपनाते है इन्हें 'राष्ट्रीय नीति के हित संवर्द्धन के आर्थिक उपकरण' कहा जाता है। पामर और पर्किन्स के अनुसार ,

"राष्ट्रीय उद्देश्यों की अभिवृद्धि के लिए जब आर्थिक नीतियों का निर्माण किया जाता है- वे दूसरे राज्यों को हानि पहुँचाने के लिए हों या नहीं, वे राष्ट्रीय नीति के आर्थिक साधन हैं।"

पेडलफोर्ड और लिंकन ने आर्थिक साधनों को इस प्रकार समझाते हुए कहा है कि,

"विदेश नीति के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रत्यक्ष या सम्बन्धित रूप से कोई भी आर्थिक क्षमता, संस्था अथवा तकनीकी को आर्थिक साधन कहते हैं"

इनके द्वारा प्राप्त किए जाने वाले लक्ष्य आर्थिक (जैसे आवश्यक कच्चे माल की प्राप्ति या निर्यात व्यापार में वृद्धि) राजनीतिक (कम विकसित राज्य में विकास या व्यवस्थित परिवर्तन), सैनिक (अड्डों की प्राप्ति) अथवा मनोवैज्ञानिक (दूसरे राष्ट्र की नीति के प्रति सद्भावना या सहायता) हो सकते है।

एक देश कुछ ऐसी आर्थिक नीतियां अपनाता है जो कि उसका कल्याण करने के लिए हों किन्तु किसी अन्य देश को हानि पहुँचाने का प्रयास न करें, जैसे कि संरक्षण शुल्क लगाकर प्रदूषित वस्तुओं को देश से बाहर रखकर स्वास्थ्य को बढ़ावा देना या गृह उद्योगों को प्रोत्साहित करना । इसके विपरीत एक देश कुछ ऐसी नीतियाँ भी अपना सकता है जिनका उद्देश्य दूसरे देश को हानि पहुँचाना हो। इसके अतिरिक्त अपनी आवश्यकताओं तथा साधनों को ध्यान में रखते हुए सभी देशों को समान का आयात और निर्यात करना होता है। अतः वह सभी आर्थिक नीतियाँ जिनका प्रयोग कर के एक देश अपने राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि करने के प्रयास करता है चाहे वह दूसरे देश को हानि पहुँचाने का प्रयत्न करें अथवा न करें । विदेश नीति के आर्थिक साधन में सम्मिलित होती है।

राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के लिए आर्थिक साधनों का निरन्तर प्रयोग होता है। शान्तिकाल में सभी देशों के कुछ लक्ष्य होते हैं जैसे अपने देश के लोगों का जीवन स्तर ऊँचा करना, निर्यात में वृद्धि करना, कच्चे माल की प्राप्ति करना, नये बाजार की प्राप्ति करना, देश के अन्दर आर्थिक साधनों एवं स्त्रोतो को सुरक्षित रखना, रोजगार के अवसरों में वृद्धि करना, तकनीकी विकास करना तथा स्वास्थ्य सेवाएं सुधारना । कुछ देश अपनी आर्थिक योजनाओं का प्रयोग युद्ध की तैयारी करने के लिए भी करते हैं । किन्तु आर्थिक साधनों एवं आर्थिक युद्ध में अन्तर पाया जाता हैं। आर्थिक युद्ध से अभिप्राय उन आर्थिक नीतियों से है। जिनका अनुगमन युद्धकाल में सैनिक कार्यवाहियों के सहायक के रूप में किया जाता है।

(ख) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रयुक्त आर्थिक साधन -

अपने राष्ट्रीय हितों को प्राप्त करने के लिए विभिन्न प्रकार के आर्थिक साधन अपनाए जाते है।किस साधन का प्रयोग कब और किस प्रकार किया जाए, यह राज्य के आर्थिक लक्ष्यों व राजनीतिक उद्देश्यों पर निर्भर करता है। साधारणतः निम्नलिखित आर्थिक साधनों का प्रयोग किया जाता है।

(1) चुंगी शुल्क

चुंगी शुल्क आयात या निर्यात किए जाने वाले सामान पर लगाया जाता है । प्राचीन काल में इस शुल्क को राजस्व एकत्रित करने के लिए लगाया जाता था। इस प्रकार के शुल्क को राजस्व शुल्क का नाम दिया जाता हैं । जिस शुल्क या लक्ष्य आन्तरिक उद्योगों को विदेशी उद्योगों की प्रतिस्पर्द्धा से परंक्षण देना होता है। उसे संरक्षण शुल्क कहा जाता है। संरक्षण चुंगी शुल्क की नीतियां

सोलहवीं और सतरहवीं शताब्दी में प्रथम बार अपनायी गयी थी जब आर्थिक राष्ट्रवाद का उदय हुआ था कुछ ऐसे कर भी लगाये जाते हैं जो राजस्व तथा संरक्षण दोनों प्रदान करें।

चुंगी शुल्क राष्ट्रीय हित की पूर्ति में कई प्रकार से सहायक होते है। आर्थिक आय बढ़ाने के लिए विदेशी आयात को रोककर विदेशी विनिमय मुद्रा में बचत की जा सकती है। संरक्षण शुल्क का प्रयोग करके अनावश्यक वस्तुओं का आयात रोककर आवश्यक वस्तुओं का आयात बढ़ाया जा सकता है। या फिर युद्ध और सामरिक शक्ति विकसित करने वाले पण्य पदार्थों के आयात में विशेष छूट देकर सामरिक शक्ति विकसित की जा सकती है । उच्च चुंगी दरें नियत करके राज्य इस स्थिति में होते है। कि अन्य राज्यों से सौदेबाजी कर सकें। एक राज्य की ऊंची दरों के प्रतिकार स्वरूप अन्य राज्य भी चुंगीकर बढ़ा देते हैं और इससे आर्थिक विरोध का वातावरण पनपने लगता है अतः इस साधन का प्रयोग अन्य राज्यों को प्रलोभन देने अथवा उन्हें दण्डित करने के लिए किया जा सकता है।

(2) अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल्स

कार्टेल्स शब्द 'कार्टा' से निकला है जिसका अर्थ समझौता या अनुबन्ध होता है। यह समान व्यापार से सम्बन्धित स्वतंत्र उद्यमों का संगठन है, जो आपसी प्रतियोगिता पर कुछ नियंत्रण लगाएं जाने के लिए निर्मित होते हैं । जब इनके सदस्य विभिन्न देशों के हों या विदेशों में व्यापार करें तो इन्हें अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल्स का नाम दिया जाता है। यह संगठन इस प्रकार के समझौते करते हैं जिसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय बाजार को इसके सदस्यों के पक्ष में प्रभावित किया जा सके। यह समझौता लचीला एवं अनौपचारिक भी हो सकता है । या फिर दृढ़ नियमों से बाध्य भी । कभी कभी सरकारें भी इसमें भाग ले सकती हैं किन्तु अधिकतर ऐसा नहीं किया जाता है। लक्ष्यों के आधार पर कार्टेल्स को बाँटा जा सकता है। (क) मूल्य निर्धारित करने वाले (ख) उत्पादन को सीमित करने वाले , तथा (ग) विक्रय के प्रदेश को विभाजित करने वाले ।

(3) अन्तः सरकारी वस्तु समझौता

जब वस्तुओं का मूल्य विश्व बाजार में स्थिर करने और उत्पादक राज्यों के बीच प्रतिस्पर्धा का निराकरण करने के उद्देश्य से उत्पादक राज्यों के बीच समझौता होता है तो उसे अन्तः सरकारी वस्तु समझौता कहते है। । इस समझौते के द्वारा जो उद्देश्य पूरे किए जाते है वह है। - (क) विभिन्न राज्यों गें वस्तु विशेष के उत्पादन को व्यवस्थित करना, (ख) उत्पादक राज्यों के हितों की रक्षा करना, (ग) उत्पादक राज्यों के मध्य स्पर्धा समाप्त करना (घ) वस्तु विशेष से लाभ प्राप्ति के मूल्य निर्धारण करना । यह समझौते कृषि और खनिज उत्पादन पर ही होते है। औद्योगिक उत्पादन पर नहीं । इनको कार्टेल्स की तुलना कम आलोचना का सामना करना पड़ता है। किन्तु इस बात का ध्यान लगातार रखना पड़ता है कि इनका सही निरीक्षण होता रहे क्योंकि यदि यह ईमानदारी से अपना कार्य नहीं करते हैं तो यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बाधा भी बन सकते हैं ।

(4) कम मूल्य पर निर्यात करना (डम्पिंग)

डम्पिंग का अर्थ होता है कि किसी वस्तु का निर्यात घरेलू बाजार की दरों से कम दर लगा कर किया जाए। इसका प्रयोग तब किया जाता है जब किसी वस्तु का आवश्यकता से अधिक उत्पादन हो गया हो तथा दूसरे देशों में उसकी मांग कम हो । समृद्ध देश इसका प्रयोग करते हुए गरीब देशों तथा मंद बाजारों में अपनी उदारता सिद्ध करते हैं ताकि वह इन देशों पर अपना प्रभाव स्थापित कर लें । किसी नए उत्पादन को प्रचलित करने के लिए या अविकसित राज्यों द्वारा विदेशी मुद्रा अर्जित करने के लिए भी इस नीति को अपनाया जाता है। जब कोई देश प्रतियोगी हो जाता है तब यह प्रयत्न

किया जाता है कि प्रतियोगी देश के मूल्य से कम मूल्य में वस्तु का विक्रय किया जाय। दीर्घकालीन डम्पिंग के कारण उत्पादक देश के उद्योगों का विकास होता है तथा उत्पादन क्षमता भी बढ़ जाती है। बेकारी दूर होती है तथा आन्तरिक क्षेत्र में मूल्य स्थिर रहते है। इसके विपरीत जिन देशों को यह निर्यात किया जाता है उसके आर्थिक विकास की गति धीमी पड़ जाती है। उत्पादन स्तर गिर जाता है, तकनीकी विकास अवरूद्ध हो जाता है तथा राष्ट्रीय औद्योगिक शक्ति दुर्बल होने लगती हैं ।

(5) माल खरीदने में पहल करना (प्रीऐम्टिव बाईंग)

इस नीति के अनुसार किसी निष्पक्ष देश में सामान खरीद लिया जाता है ताकि शत्रु उसे प्राप्त न कर सके। इसका उद्देश्य होता है कि शत्रु राज्य को सामरिक महत्व के सामान से वंचित करना । इसको करते समय आर्थिक लाभ या नुकसान की ओर ध्यान नहीं दिया जाता है । राष्ट्रीय हित को प्राप्त करने के लिए इसका प्रयोग युद्ध काल में अथवा उस शान्तिकाल में किया जाता हैं जब संघर्ष का खतरा हो। किन्तु इस नीति को अपनाने के समय यह ध्यान में रखना पड़ता है मूल्यों पर क्या प्रभाव पड़ेगा तथा घरेलू बाजार इस खरीद में बाधक बन सकता हैं । साथ ही, किस मुद्रा में कीमत देनी हैं तथा सामान लाने के लिए यातायात की व्यवस्था किस प्रकार होगी इसका भी ध्यान रखना पड़ता है। इन समस्याओं के होते हुए भी यह आर्थिक युद्ध का एक प्रमुख साधन माना जाता हैं ।

(6) कर्ज और अनुदान

एक देश द्वारा दूसरे देश को दिए गये अनुदान एवं उपहार अनेक अलग अलग नामों से जाने जाते रहे हैं । इनका प्रयोग करते समय देने वाले देश का उद्देश्य सामान्य भी हो सकता है अथवा विशिष्ट । द्वितीय महायुद्ध के बाद ऋण तथा अनुदान विदेश नीति के प्रभावी अस्त्रों के रूप में प्रयोग किये जा रहे हैं । अमरीका द्वारा चलाये गये यूरोपियन पुनर्निमाण कार्यक्रम तथा पारस्परिक सुरक्षा कार्यक्रम को अनुदान के द्वारा ही संचालित किया जाता था। सार्वजनिक कानून 480 (पी एल 480) के अन्तर्गत अमरीका ने अपने राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि के लिए दीर्घकालीन ऋण दिये । इनके द्वारा एक देश अपने घरेलू उद्योगों को बढ़ावा देता है। सहयोगी देशों को सहायता देकर उनकी शक्ति में वृद्धि करता है, अथवा नए मित्र राज्य बनाता है।

(7) विमिमय नियन्त्रण

इस साधन का प्रयोग तब किया जाता है जब किसी देश की विनिमय की मांग पूर्ति से अधिक हो । विनिमय नियन्त्रण द्वारा सरकार अपने देश की पूँजी को देश से बाहर जाने से रोक सकती है तथा आयात और निर्यात के बीच सन्तुलन स्थापित करने का प्रयास करती है। इस पद्धति के द्वारा सरकार राज्य के विदेश व्यापार को अपने नियन्त्रण में रखती है नियोजित अर्थव्यवस्था वाले देशों में इस का प्रयोग अधिक होता है। 1931 में इसका सर्वप्रथम प्रयोग अर्जेण्टीना में हुआ था। आज इसका प्रयोग उन सभी देशों में होता है जो स्टर्लिंग क्षेत्र से सम्बन्ध रखते हैं ।

(8) बार्टा समझौते

राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के कारण देश बार्टा समझौते करते है। इनके द्वारा देश यह निर्णय करते हैं कि वह कौन सा सामान अथवा किस मूल्य का सामान एक देश को देकर कितना और कौन सा सामान प्राप्त करेंगे । इन समझौतों के द्वारा राज्य 'हार्ड करेन्सी' की बचत कर सकते हैं तथा अपने देश में निर्मित सामान के बदले दूसरे सामान प्राप्त कर सकते है। विकासशील देश अधिकतर ऐसे समझौतों का स्वागत करते है। ताकि वह अपने आर्थिक विकास के लिए सामान प्राप्त कर सकें और अतिरिक्त कच्चा माल देश से बाहर भेज सकें ।

(9) यथांश और लाइसेन्स

जब एक देश आयात पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण लगाना चाहता है तो वह यथांश की व्यवस्था लागू करता है। वह किसी अन्य देश के लिए यथांश निर्धारित कर सकता है अथवा विश्व स्तर पर भी इसकी व्यवस्था कर सकता है। इस यथांश का उद्देश्य होता है घरेलू उत्पादन को सुरक्षित करना या फिर यह निश्चित करना कि आयात निर्यात से अधिक न हो । पिछले तीस वर्षों में इस नीति का प्रयोग आयात को निर्धारित सीमा के अन्दर रखने के लिए किया गया है। निर्यात पर नियन्त्रण केवल युद्ध काल में किया जाता है ताकि शत्रु राज्य किसी निष्पक्ष राज्य के माध्यम से उसका सामान प्राप्त करने में सफल न हो सके । उदाहरण के लिए 1960 से पहले अमरीका ने क्यूबा और डोमिनिकन गणराज्य से आयात की जाने वाली चीनी का यथांश निश्चित कर रखा था। चूँकि ये दोनों चीनी के बडे.उत्पादक हैं और इनकी समूची अर्थव्यवस्था चीनी के निर्यात के साथ अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है। इसलिए यथांश में थोड़ा सा भी परिवर्तन इन देशों की अर्थव्यवस्था के ऊपर प्रतिकूल अथवा अनुकूल प्रभाव डाल सकता है।

यथांश पद्धति के क्रियान्वयन के लिए सामान्यतः लाइसेन्सिंग के तरीके को काम में लाया जाता है इसके अन्तर्रगत प्रत्येक नए आयात के लिए सरकार की पूर्व स्वीकृति लेनी पड़ती है। अतः यथांश और लाइसेन्स के द्वारा एक देश आयात पर लगातार नियन्त्रण कर सकता है।

(10) बहिष्कार

बहिष्कार का प्रयोग किसी वस्तु का आयात रोकने के लिए किया जाता है अथवा किसी देश से निर्यात व्यापार समाप्त करने के लिए । वे राज्य जहाँ राजकीय व्यापार नहीं होता, सामान्यतः बहिष्कार को कार्यान्वित करने के लिए आयात करने वाले व्यापारियों पर यह प्रतिबन्ध लगा देते हैं कि बहिष्कृत राज्य से वस्तुओं को आयात करने के पूर्व उन्हें सरकार से लाइसेन्स लेना पड़ेगा।

(11) घाटबन्दी या एमबार्गो

घाटबन्दी का प्रयोग तब किया जाता है जब एक देश किसी अन्य देश को कुछ चीजों या समस्त व्यापार से वंचित रखना चाहता है। इसके लिए वह अपने यहाँ के व्यापारियों तथा व्यापारिक संस्थाओं पर दूसरे राज्य से लेन देन या व्यापार पर प्रतिबन्ध लगा देता है बहिष्कार में आयात पर नियन्त्रण लगाया जाता है इसके विपरीत, घाटबन्दी निर्यात नियन्त्रित करती है। यह दोनों ही सरकार, व्यापारियों के संगठन अथवा जनमत किसी के द्वारा किये जा सकते हैं सामान्यतः घाटबन्दी का प्रयोग किसी राज्य को दण्डित करने के लिए या अपनी अप्रसन्नता व्यक्त करने के लिए किया जाता है। 1979 में रूस ने जब अफगानिस्तान में प्रवेश किया तब राष्ट्रपति कार्टर ने रूस पर घाटबन्दी लागू करके अपनी अप्रसन्नता प्रदर्शित की थी ।

(12) राज्य व्यापार

यह नियन्त्रण की एक पद्धति है जो सर्वाधिकारवादी राज्यों द्वारा अपनाई जाती है। जिसमें सरकार स्वयं व्यापार में प्रत्यक्ष भागीदार बनती है। इस नीति के कारण सरकार स्वयं व्यापार की मात्रा समय तथा दिशा निर्धारित करके राजनीतिक तथा आर्थिक दबाव बनाए रहती है।

(13) व्यापार और भुगतान समझौते

इनके द्वारा अन्य राष्ट्रों को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से पृथक सा कर दिया जाता है। ये समझौते दो देशों के बीच या दो से अधिक देशों के बीच हो सकते हैं। इनके माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कुछ देशों से भेदभाव और अनुकूल राष्ट्रों को विशेष संरक्षण देकर व्यापार के मुक्त प्रवाह को रोक

दिया जाता है।

(14) परिवेष्टन या ब्लाकेड

परिवेष्टन या नाकेबन्दी करने का उद्देश्य होता है शत्रु को निर्बल बनाकर उसे आत्मसमर्पण के लिए विवश कर देना । इसके द्वारा शत्रु की आवश्यक सामग्रियां उस तक नहीं पहुँच पाती है। और उसे उन वस्तुओं का अभाव खलने लगता है । तब वह अपने प्रयत्नों में कुछ ढील देने पर मजबूर हो जाता है। आज के युग में आर्थिक पक्ष के महत्व के कारण इसका प्रयोग एक आर्थिक शस्त्र के रूप में होने लगा है। नाकेबन्दी द्वारा वह शत्रु राज्य पर दबाव डालता है तथा उसके जहाज जब शत्रु के बन्दरगाहों और तट को घेर लेते है। तो अन्य देशों के साथ उसका व्यापारिक सम्पर्क बिल्कुल समाप्त हो जाता है।

(15) काली सूची या ब्लाक लिस्ट

काली सूचियों से तात्पर्य उन सूचियों से होता है जिनमें लिखित वस्तुओं का निर्यात पूर्णतः समाप्त कर दिया जाता है इनका प्रयोग अमरीका ने द्वितीय विश्व युद्ध के समय किया था जिसमें अमरीका और लैटिन अमरीकी पूँजीपतियों पर कतिपय विशिष्ट सामग्री को धुरी राष्ट्र के देशों को निर्यात करने पर पूर्ण रोक लगा दी गई थी।

(16) सबसिडी

घरेलु उत्पादन को प्रोत्साहित करने के लिए सबसिडी का भुगतान किया जाता है। सरकार के द्वारा कुछ छूट दी जाती है। जिससे उत्पादक को बढ़ावा मिल सके ।

(17) वैलोराईजेशन

वैलोराइजेशन का तात्पर्य उन सरकारी योजनाओं से है जिनके द्वारा किसी सामग्री का मूल्य बढ़ाया जाता है । यह एक अस्थाई योजना होती है जिसके द्वारा अधिक उत्पादन अथवा कम माँग के समय कीमतों को स्थिर रखने का प्रयास किया जाता है। इसको लागू करने के लिए सामग्री को खरीद कर मार्केट से हटा दिया जाता है। या उत्पादन सीमित किया जाता है।

(18) प्रलोभन

आर्थिक प्रलोभन के उपकरण भी अपनाए जाते है। जैसे द्वितीय विश्व युद्ध के समय स्वीडन को मित्र राष्ट्रों ने प्रलोभन दिया कि वह जर्मनी से निर्यात कम कर दे तो मित्रराष्ट्र से तेल प्रदान करेंगे जो उसकी सेना की तात्कालिक आवश्यकता थी।

इन सभी साधनों का अलग अलग समय और परिस्थितियों में प्रयोग राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि के लिये किया जाता है। आज आर्थिक राष्ट्रवाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की प्रमुख विशेषता बन गया है और यह सभी साधन महत्वपूर्ण माने जाते हैं ।

6.9 कूटनीति : विदेश नीति के साधन के रूप में

(क) कूटनीति का अर्थ

कूटनीति का राजनय विदेश नीति को कार्यान्वित करने का प्रमुख साधन है। यह राष्ट्रीय शक्ति के विभिन्न तत्वों को गतिशीलता एवं एकरूपता प्रदान करती है। तथा राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि में भी प्रभावी होती है यह विश्व के विभिन्न देशों के बीच सम्बन्ध जोड़ने का सूत्र है। राजनय (डिप्लोमेसी) शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग किया जाता है। हेरल्ड निकल्सन का मानना है कि यह श्ब्द अलग

अलग अर्थों में प्रयुक्त होता है। कभी विदेश नीति के समानार्थक कभी समझौते की बात चीत के रूप में विदेश सेवा की एक विशेष शाखा था वह अमूर्त गुण जिसके कारण समझौता वार्ताएं कुशलता से चलाई जाती है इत्यादि ।

'डिप्लोमेसी' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम एडमण्ड बर्क ने 1796 में किया था यह ग्रीक भाषा के शब्द 'डिप्लाइन' से लिया गया है। जिसका अर्थ है 'मोड़ना' रोमन साम्राज्य मे पासपोर्ट तथा सड़कों पर चलने की अनुमति पत्र धातु की दोहरी प्लेटों पर बनाए जाते थे तथा इनकोः 'डिप्लोमा' कहा जाता था। समय के साथ इस शब्द का प्रयोग सभी सरकारी प्रमाण पत्रों के लिए किया जाने लगा। विशेषतः उन कागजातों से जो विदेशी मामलों से सम्बन्धित थे। आज के युग में डिप्लोमेसी' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है। उसे 'विदेश नीति' अथवा 'वार्ता' या फिर उस प्रक्रिया के लिए प्रयुक्त किया जाता है जिसके द्वारा वार्ता की जाती है। इन तीन अर्थों को ध्यान में रखते हुए हेरोल्ड निकल्सन ने माना है कि अपने श्रेष्ठ अर्थों में अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि वार्ताओं में कौशल का प्रयोग कूटनीति है तथा अपने निकृष्ट रूप में कूटनीति, छल, छदम् या चालाकी का द्योतक है।

इस विचार को सरल शब्दों में जार्ज केनन ने कहा है कि, अपने तकनीकी अर्थ में कूटनीति सरकारों के बीच संचार की प्रक्रिया है।

निकल्सन ने कूटनीति को चालाकी का द्योतक माना था, उसी प्रकार सर अर्नेस्ट सेटो ने भी इन शब्दों में उसे परिभाषित किया है।

"कूटनीति शब्द स्वतंत्र राज्यों की सरकारों के बीच अधिकारी सम्बन्धों के संचालन में बुद्धि और चातुर्य का प्रयोग है।"

क्विन्सी राइट ने कूटनीति को दो रूपों में परिभाषित किया है - लोकप्रिय अर्थ में तथा विशेष अर्थ में । लोकप्रिय अर्थ में उन्होंने कूटनीति को 'किसी सन्धिवार्ता या आदान प्रदान में चातुरी, धोखेबाजी एवं कौशल का प्रयोग माना है। उसके विशेष अर्थ में यह सन्धिवार्ता की वह कला है जो युद्ध की सम्भावनापूर्ण राजनीतिक व्यवस्था में न्युनतम लागत से अधिकतम सामूहिक लक्ष्यों की उपलब्धि कर सकें । अधिकतम हितों की प्राप्ति ही कूटनीति का उद्देश्य होता है । इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए हर देश कुछ विशेष कदम उठाता है। इस आधार पर के. एम. पणिक्कर के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रयुक्त कूटनीति अपने हितों को दूसरे देशों से आगे रखने की एक कला है।"

मॉवट ने भी उसे एक कला के रूप में परिभाषित करते हुए कहा है "कूटनीति राज्यों का प्रतिनिधित्व तथ्य समझौते करने की कला है।"

पैडिलफोर्ड तथा लिंकन के शब्दों में, "कूटनीति का प्रतिनिधित्व एवं सन्धिवार्ता की प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। जिसके द्वारा राज्य शान्तिकाल में परस्पर सम्पर्क में रहते हैं ।"

कूटनीति की विभिन्न परिभाषाएं यह स्पष्ट करती हैं कि इसका उद्देश्य है समझौते या सहमति पर पहुँचना । इसलिए इसकी उपयोगिता केवल मतभेद की उपस्थिति में ही होती है। यदि पूर्ण सहमति हो अथवा पूर्व असहमति तो कूटनीति की आवश्यकता नहीं होती है। जिन परिस्थितियों में मतभेद है तथा बल प्रयोग की सम्भावना है, किन्तु वार्ता के द्वारा इन सम्भावनाओं को कम किया जा सकता है। वहाँ कूटनीति का प्रयोग होता है।

(ख) कूटनीति के लक्ष्य

कूटनीति का प्रयोग राष्ट्रीय हित को प्राप्त करने के लिए किया जाता है। एक राजनयक का

यह कार्य होता है कि वह अपनी सीमाओं की रक्षा करें राष्ट्र की अखण्डता बनाए रखे तथा अपने राष्ट्र के आर्थिक व्यापारिक तथा अन्य हितों को सुरक्षित करने का प्रयास करें । इसके साथ ही कूटनीति के द्वारा एक राष्ट्र अपने मित्रों के साथ सम्बन्धों को बढ़ावा देता है। तथा ऐसी शक्तियों को तटस्थ बनाने का प्रयास करता है जिससे उसके हितों को हानि पहुँचाने की समभावना है। विरोधी शक्तियों के गठबन्धन को रोकना भी है। इसके लिए उसे कुछ राज्यों के साथ समझौता करना होगा, कुछ को समर्थन देना होगा तथा कुछ को तटस्थ रखना होगा । राज्य के आर्थिक और व्यावसायिक लक्ष्यों को पूरा करने में भी राजनयक सहयक होते है। प्रत्येक देश अपने उत्पादनों के लिए दूसरे देशों में बाजार तलाश करता है स्पर्द्धा को घटाता है। आर्थिक सतर्कता रखता है। तथा अपने हितों की रक्षा के लिए पर्याप्त प्रयास करता है। कूटनीति के द्वारा एक राज्य दूसरे राज्यों के साथ सदभावनापूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने की कोशिश करता है इसकी विफलता ही अधिकतर युद्ध की ओर ले जाती है। युद्ध के समय कूटनीति का दायित्व बदल जाता है। निकलसन ने कहा है कि कूटनीति युद्ध काल में समाप्त नहीं होती है। उसे अलग भूमिका निभानी पड़ती है। तथा विदेश मन्त्रियों की तरह कूटनीतिज्ञों का कार्यक्षेत्र अधिक व्यापक हो जाता है।

इन लक्ष्यों को पूरा करने के लिए कूटनीति सन्धि वार्ता का सहारा लेती है। दूसरे राज्य की राजनीतिक परिस्थितियों का निरीक्षण करते रहना और उसका पूरा प्रतिवेदन अपनी सरकार को भेजना भी कूटनीति का महत्वपूर्ण कार्य है। राजनयक विदेश में स्थित अपने देश के नागरिकों की सम्पत्ति जीवन एवं अन्य हितों की रक्षा करने का प्रयत्न करता है। एक राजनयक दूसरे देशों में अथवा अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में अपने देश का प्रतिनिधित्व करता है। वह अपने देश के दृष्टिकोण को दूसरे देशों एवं संगठनों में प्रचलित करता है। वह निरन्तर अपने देश के हितों को सुरक्षित रखने के लिए प्रचार जनसम्पर्क, सार्वजनिक तथा अन्य अवसरगत भाषणों का सहारा लेता है।

वियनां अभिसमय (1961) ने कूटनीतिज्ञ के पांच कार्य बताए हैं ।

(क) विदेशों में अपने राज्य का प्रतिनिधित्व करना

(ख) अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार अपने राज्य के नागरिकों के हितों की रक्षा करना ।

(ग) अन्य राज्यों से विविध विषयों पर वार्ता करना

(घ) अन्य राज्यों की परिस्थितियों की जानकारी प्राप्त करके अपने देश को सूचना एवं प्रतिवेदन भेजना ।

(ङ) दूसरे देशों के साथ आर्थिक सांस्कृतिक और वैज्ञानिक क्षेत्र में मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों को स्थापित करना ।

इन कार्यों के कारण एक कूटनीतिज्ञ को विदेश में अपने देश के नेत्र और कान के रूप में देखा जाता है।

(ग) राजनय के प्रकार

आरगेन्स्की ने दो प्रकार के राजनय का वर्णन किया है - बनिये का राजनय और योद्धा राजनय बनिये या दूकानदार का राजनय उसके सतर्क, शान्तिमय और तर्कसंगत दृष्टिकोण पर आधारित होता है, जबकि योद्धा का राजनय उसके प्रखर, झगडालू और गतिशील दृष्टिकोण पर आधारित होता है। यथार्थ में किसी भी देश की नीति किसी एक प्रकार की नहीं होती । साथ ही, एक देश सभी देशों के साथ एक सी नीति नहीं अपनाता है। देश की नीति समय तथा देश के साथ बदलते रहती है। इस कारण ऑरगेन्स्की द्वारा दिया गया वर्गीकरण वास्तविक है और सतही अधिक है।

हैरल्ड निकल्सन ने अपनी पुस्तक में तीन राजनयिक विधियों की चर्चा की है ग्रीक विधि, इटालियन विधि तथा फ्रेंच विधि । फ्रेंच राजनयिक विधि को ही पुराना राजनय कहा जाता है। इस सिद्धान्त को रिशलू ने प्रारम्भ किया था। कैलियरे ने इसका विश्लेषण किया तथा सभी यूरोपीय देशों ने सत्तहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी में अपनाया। यह पुराना राजनय बीसवीं शताब्दी तक प्रयुक्त हुआ। पुराने तथा नए राजनय में अनेक अन्तर दिखाई देते है।।

पुरानी राजनयिक विधि यूरोप के ही देशों तक सीमित थी। यूरोप अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधि का केन्द्र था तथा एशिया , अफ्रीका तथा लैटिन अमरीका को व्यापार, साम्राज्य और ईसाई धर्म के विस्तार का क्षेत्र समझा जाता था। इस यूरोपीय राजनय का दायरा बहुत सीमित था तथा इसमें भाग लेने वालो की संख्या भी सीमित थी । 1897 तक मुनरो सिद्धान्त के अधीन अमरीका भी विश्व की राजनीति से अलग रहा ।

इस राजनय की दूसरी विशेषता यह थी कि इसके अधीन छोटे राज्यों की महत्वहीनता देखी गयीं इस समय यूरोप में पाँच बड़ी शक्तियाँ थी - ब्रिटेन, फ्रांस, प्रशिया, आस्ट्रिया तथा स्पेन। बड़ी शक्तियाँ अधिकतर छोटी शक्तियों की उपेक्षा करती थीं । इन राज्यों को उसी सीमा तक महत्व दिया जाता था, जिस सीमा तक वे सैनिक साधन, सामरिक लाभ, और कच्चा सामान उपलब्ध करा सकते थे।

यह व्यवस्था इस अनुमान पर चलती थी कि छोटे राज्यों के आचरण की और शान्ति कायम रखने की साझी जिम्मेदारी महाशक्तियों की थी। इस अभिग्रह को इस लिए अपनाया जाता था क्योंकि महाशक्तियों की जिम्मेदारियाँ और हित अधिक व्यापक थे तथा उनके पास अधिक धन और हथियार थे।

इस समय में पेशेवर राजनयिक सेवा कायम की जाती थी। सभी राजनयज्ञों की शिक्षा तथा उनके अनुभव का स्तर एक सा होता था और वे मानते थे कि वह सब एक ही उद्देश्य अर्थात शान्ति के संरक्षण से प्रेरणा लेकर काम कर रहे थे। उनमें अपने राष्ट्रीय स्वरूप से स्वतंत्र और अपनी अपनी राष्ट्रीय सरकारों के मतभेदों के बावजूद एक प्रकार का निगमित विकसित होने लगता था। 1913 में बाल्कन संकट का समाधान निकालने में फ्रांस , रूस, जर्मनी, आस्ट्रिया तथा इटली के राजनयज्ञ इसलिए सफल हुए थे क्योंकि उन्होंने एक दूसरे पर विश्वास किया था तथा वे सभी युद्ध को रोकना चाहते थे।

पुरानी नीति के अन्तर्गत सभी समझौता वार्ताएं गुप्त होती थीं । आम आदमी को न तो वार्ताओं के स्वरूप के बारे में जानकारी दी जाती थी और न उन्हें विचार विमर्श में भागीदारी दी जाती थी। जिन राजनयज्ञों को किसी सन्धि के लिए वार्ता करने का काम सौपा जाता था उन्हें पहले ही यह पता होता था कि वह किन व्यक्तियों से सम्बन्ध रखना है तथा उनकी ताकत कितनी है। वह आपसी लेन देन अथवा अर्ध सत्य का सहारा लेकर भी सफलता प्राप्त करने का प्रयास करते थे । गोपनीयता का यह लाभ भी था कि वार्ता का प्रक्रम चलता रह सकता था। यदि इसे प्रकाशित कर दिया जाता तो इसका चलते रहना सम्भव नहीं होता । गोपनीय स्वरूप के कारण समस्याओं के विभिन्न निदानों के बारे में सोचने के लिए बहुत अवसर मिल जाता था और इस प्रकार गतिरोध हो जाने पर भी वार्ता कुछ महीनों के बाद फिर शुरू की जा सकती थी।

नया राजनय पुराने राजनय का एक विस्तृत रूप है। आज के युग में राजनय के न केवल दायरे और क्षेत्र का बल्कि इसके प्रयोजन और विधियों का भी बड़ा विस्तार हो गया है। पुराने राजनय में परिवर्तन प्रमुख तौर से संचार साधनों के विकास के कारण हुआ है। इस विकास के पहले राजदूतों

को अपने निर्णय स्वयं लेने पड़ते थे । संचार साधनों में हुई प्रगति से राजनय के कार्य व्यवहार में परिवर्तन आया है आज राजनयज्ञ को बहुत कम समय में सूचना तथा आदेश दिए जा सकते है। उसे पूर्ण जानकारी प्राप्त हो सकती है। इसके कारण राजदूतों की स्वतंत्रता समाप्त हो गई है। निर्णय निर्माण की प्रक्रिया केन्द्रीकृत हो गई है। संचार के साधनों ने विदेश नीति तथा राजनय के बीच का अन्तर कम कर दिया है । आज नीति निर्माण करने वाले स्वयं अपने राजनयज्ञ प्रतिनिधि बने हुए है।

विदेश नीति तथा राजनय के बीच अन्तर मैत्री सन्धियों के विकास के कारण भी कम हुआ है। किसी मैत्री संन्धि में शामिल राज्यों के बीच विदेशी सम्बन्धों के संचालन में राजनयिक गतिविधि की आवश्यकता होती है। किन्तु यह गतिविधियाँ एक विशेष प्रकार की होती हैं। क्योंकि इसके अन्तर्गत ऐसी वार्ताएं और समस्याएं होती है। जो अक्सर उन वार्ताओं और समस्याओं से भिन्न प्रकार की होती है। जो मैत्री सन्धि के विशेष सम्बन्धों में न बंधे हुए राज्यों के बीच हुआ करती है। इस प्रकार के राजनय को लैस्टर पियर्सन ने मिले जुले राजनय की संज्ञा दी है। इस राजनय में सामूहिक कार्यवाही के लिए सामान्य नीतियाँ बनाने के लिए वार्ता और समझौते किए जाते हैं । सरकार के विभिन्न मंत्रालयों के बीच जिस प्रकार की वार्ताएं होती है। उसी प्रकार की वार्ताएं मिले जुले राजनय में देशों के बीच होती है।

आज का राजनयन केवल यूरोप तक सीमित है और न ही पेशेवर राजनयज्ञों तक । आज के राजनय का कार्य क्षेत्र लगभग पूरा विश्व है तथा सभी प्रकार के लोग इस कार्य में योगदान देते है। । अमरीका के भूतपूर्व राष्ट्रपति वुडरो विलसन ने गोपनीयता की परम्परा को चुनौती दी थी । अपने चौदह सूत्रों में उन्होंने प्रकट समझौते का नारा दिया था । लोकतान्त्रिक व्यवस्था के अन्तर्गत उत्तरदायी सरकारों का जनता के प्रति यह दायित्व होना चाहिए कि वे जनता को विदेश सम्बन्धों के संचालन में अपने व्यवहार के बारे में पूरी जानकारी देते रहें । आज समझौते प्रकाशित करने में विश्वास है किन्तु इन तक पहुँचने की वार्ताएं गुप्त ही होती हैं । यह इसलिए किया जाता है ताकि बातचीत बेझिझक की जा सके तथा राजनयज्ञ वार्ताओं को प्रचार का साधन न बना लें किन्तु पुराने राजनय की गोपनीयता अब न होने के कारण नए राजनय को खुला राजनय कहा जाता है।

यातायात तथा संचार के साधनों में विकास के कारण राजनय में एक प्रमुख परिवर्तन आया है। आज देश के अध्यक्षों अथवा विदेश मन्त्रियों को दूसरे देशों के नेताओं से सम्पर्क स्थापित करने अथवा वार्ता करने में कोई परेशानी नहीं होती ।1953 में चर्चहिल ने 'सम्मिट डिपलोमेसी' की संज्ञा नए राजनय को दे दी थी। हालांकि इस शब्द का प्रयोग बीसवीं सदी में किया गया, यह प्रथा इससे पुरानी है। दूसरे विश्व युद्ध के बाद इसका प्रचलन बढ़ा है देश के मुख्य नेता किसी के आदेशों से सीमित नहीं होते हैं इसलिए वे वार्ताओं में स्वायत्ता से काम कर सकते है। किन्तु पेशेवर राजनयज्ञों की क्षमता इनमें अधिकतर नहीं होती है। तथा जनता के सम्मुख हुई इन वार्ताओं में अधिकतर सफलता प्राप्त नहीं हो पाती है।

(घ) राजनय का महत्व

राजनय के महत्व का घटना आधुनिक युग का एक प्रमुख लक्षण है। विदेश नीति के लोकतांत्रिकरण के कारण राजनय का लचीलापन कर हो गया है। साथ ही राज्य के क्रियाकलाप, सामाजिक कल्याण और अर्थ व्यवस्था के दिशा निर्देश तक विस्तृत हो जाने के कारण सरकार की व्यवस्था का प्रयोग समाज की बड़ी समस्याओं को निपटाने के लिए किया जाने लगा है। राजनय का सफल कार्य संचालन करना और भी कठिन हो गया है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय वार्ता का काम अब

किसी राजा या परम वर्ग का परमाधिकार नहीं रह गया है। इसके परिणामस्वरूप राजनयज्ञों के महत्व में भी कमी आई है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि राजनय का आधुनिक युग में महत्व नहीं है। यह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का सबसे सस्ता उपकरण हैं बड़े से बड़े सम्मेलन का खर्चा एक छोटे से छोटे युद्ध से कहीं कम होता है। साथ ही, राजनय हमेशा से प्रयुक्त किया गया है। इसलिए उसकी समाप्ति होने पर किस प्रकार की परिस्थितियाँ सामने आयेंगी यह जानना असम्भव है। आज के परमाणु युग में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति बनाए रखने का तथा परमाणु अस्त्रों के फैलाव को रोकने का प्रमुख कार्य राजनय द्वारा किया जाता है। अतः राजनय आज भी विदेश नीति का एक प्रमुख उपकरण है।

6.10 युद्ध, विदेश नीति के साधन के रूप में

आज के आधुनिक युग में विदेश नीति के साधन के रूप में युद्ध को स्वीकार नहीं किया जाता है । 1928 में क्लोग ब्राइड पैक्ट के द्वारा विश्व के अधिकतर देशों ने युद्ध का विदेश नीति के उपकरण के रूप में परित्याग किया था।संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर ने अध्याय सात में इस पैक्ट के अनुरूप सामूहिक स्व रक्षा का प्राविधान अनुच्छेद 51 में दिया हैं इनके आधार पर युद्ध को अवैध माना जाता है। किन्तु वास्तविकता यह है कि आज तक युद्ध किसी देश के राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के लिए अन्तिम उपाय माना जाता है। युद्ध एक अनिश्चित व्यवसाध्य तथा भयावह साधन है। इसलिए उसे राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि के अनितम उपाय के रूप में ही प्रयुक्त किया जाता है।

(क) युद्ध का अर्थ और प्रकार

युद्ध विदेश नीति का एक प्रमुख साधन है। यह दो यादो से अधिक राज्यों के मध्य सशस्त्र सेनाओं द्वारा किया जाने वाला वह संघर्ष है जिसमें बलपूर्वक जीतकर अपनी बात मनवाने का प्रयास किया जाता है अनेक विद्वानों ने इसे परिभाषित करते हुए कहा है। कि -

हॉल ने कहा है - "जब राज्यों के मध्य मतभेद इतने अधिक बढ़ जाते है। कि दोनों पक्ष बल प्रयोग का अवलम्बन करते हैं अथवा उनमें से कोई एक पक्ष हिंसा के ऐसे कार्य करता है जिन्हें दूसरा पक्ष शान्ति का भंग समझता है तो दोनों में युद्ध का सम्बन्ध उत्पन्न हो जाता है।

युद्ध के दौरान दोनों पक्ष एक दूसरे के विरूद्ध नियंत्रित हिंसा का प्रयोग करते हैं उनका यह प्रयास तब तक चलता है जब तक कि कोई एक पक्ष उन शर्तों को स्वीकार करने को तैयार नही हो जाता जिन्हें उसका विपक्षी मानवता चाहता है।

ओपेनहीम ने युद्ध को परिभाषित करते हुए लिखा है "युद्ध दो या अधिक राज्यों में अपनी सशस्त्र सेनाओं द्वारा इस उद्देश्य से किया जाने वाला संघर्ष है कि दूसरे पक्ष को पराजित किया जाए। और विजेता द्वारा उस पर शान्ति स्थापित करने की मनचाही शर्तें थोपी जाएँ ।"

मेलिनोस्की के शब्दों में , "युद्ध स्वतंत्र राजनीतिक इकाइयों के बीच का सशस्त्र संघर्ष है।" संगठित सैनिक शक्तियों के द्वारा राष्ट्रीय अथवा जातीय नीतियों की पूर्ति के लिए इस साधन का प्रयोग होता है। क्विनसी राइट ने युद्ध को व्यापक रूप में 'भिन्न परन्तु एकसी इकाइयों के बीच हिंसापूर्ण सम्पर्क माना है। जबकि सीमित अर्थ में उसका अर्थ है 'कानूनी स्थिति से है जो दो या उससे भी अधिक समुदायों सशस्त्र सेनाओं के माध्यम से संघर्ष के संचालन की समान रूप से अनुमति प्रदान करती है।"

इन परिभाषाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ऐसे दो या दो से अधिक समूहों की आवश्यकता होती है जिनके विरोधी उद्देश्य हों । इन विपरीत हितों की प्राप्ति के लिए संगठित

शक्ति का प्रयोग अथवा सशक्त सेनाओं का प्रयोग किया जाता है।

युद्ध अनेक प्रकार के होते है। पूर्ण एवं अपूर्ण युद्ध व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक युद्ध न्यायपूर्ण और अन्यायपूर्ण युद्ध, औपचारिक और अनौपचारिक युद्ध सीमित युद्ध तथा समग्र युद्ध, गृहयुद्ध छापामार युद्ध इत्यादि । अपने विभिन्न कारणों के आधार पर भी युद्ध के अन्य प्रकार होते है। जैसे राजनीतिक युद्ध, मनोवैज्ञानिक युद्ध सांस्कृतिक युद्ध आर्थिक युद्ध प्रचारिक युद्ध ।

(ख) युद्ध की उपयोगिता

युद्ध को संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के द्वारा अवैध घोषित किया गया है किन्तु आज भी राज्यों की विदेश नीति के क्रियान्वयन में यह उपयोगी सिद्ध हुआ है। इस साधन का निरन्तर प्रयोग इसके महत्व को प्रमाणित करता है। यह एक हिंसात्मक, विध्वंसक तथा खर्चीला साधन है किन्तु राष्ट्रों द्वारा इसका निरन्तर प्रयोग अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के लिए किया जाता है। युद्ध की आलोचना की जाती है। किन्तु इसके द्वारा अनेक लाभ भी प्राप्त होते हैं ।

अन्याय और शोषण का अन्त करके परिवर्तन लाने के लिए युद्ध की एक उपयोगी भूमिका है। ईगल्टन के अनुसार ''शताब्दियों से युद्ध अन्यायपूर्ण परिस्थितियों के प्रतिकार, विवादों के निपटारे तथा अधिकारों की कार्यान्वित का साधन माना गया है।''

वर्तमान में व्याप्त अन्याय और शोषण को समाप्त करने के उद्देश्य से युद्ध किये जाते है। इस आशा पर कि बदलाव आयेगा अनेक व्यक्ति अपने जानों की बाजी लगा देते है। अमरीकी स्वाधीनता संग्राम तथा फ्रांस की क्रान्ति इसी प्रकार के उदाहरण हैं ।

युद्ध के दौरान देश को अनेक खतरों का सामना करना पड़ता है तथा सफलता प्राप्त करने के लिए नए रास्ते ढूंढने पड़ते हैं इस कारण राष्ट्र में रचनात्मक शक्तियों को बढ़ावा मिलता है। वैज्ञानिक विकास, तकनीकी विकास तथा संचार के विकास को भी युद्ध प्रोत्साहित करता है।नाजियों तथा फासिस्टों ने भी युद्ध के रचनात्मक पहलू को स्वीकार किया था।

अरस्तु ने भी यह स्वीकार किया था कि क्रान्ति को सीमित करने के लिए शासकों को 'खतरों को नजदीक लाने का प्रयास करना चाहिए'। उसी प्रकार यदि देश किसी युद्ध में संलग्न होता है तो नागरिक अधिक सतर्क तथा देशभक्त होते हैं । अपने देश की स्वतंत्रता एवं अखण्डता को सुरक्षित रखने के लिए वे बड़े से बड़ा बलिदान देने के लिए तत्पर रहते है।

युद्ध राजनीतिक एवं सामाजिक व्यवस्था के पुर्ननिर्माण का भी साधन है। राष्ट्र राज्यों की स्थापना तथा आधुनिक सभ्यता के विकास में भी युद्ध सहायक रहे हैं । लोकतंत्र की रक्षा, स्वतंत्रता की प्राप्ति में भी युद्ध की प्रमुख भूमिका है । शौटवैल और क्विनसी राइट का मानना है कि साम्राज्यवादी युद्धों ने विश्व पुनर्निमाण और आधुनिकीकरण के लिए मार्ग प्रशस्त किया है। युद्ध की इस भूमिका को शौटवेल ने स्वीकारते हुए यह माना है कि ''आज का मानचित्र अधिकांशतः युद्ध के मैदान में बनाया गया है।''

अमरीका, इंग्लैण्ड, फ्रांस, रूस तथा जापान जैसे शक्तिशाली राष्ट्रों की शक्ति तथा क्षेत्र में वृद्धि युद्ध के कारण हुई है। सभ्यता तथा ईसाईयत का प्रसार भी युद्धों के द्वारा ही किया गया है। इस आधार पर पामर और पर्किन्स ने कहा है कि - ''युद्ध आधुनिक विश्व - इसके उद्योगों इसकी नैतिकता और इसके सांस्कृतिक स्वरूप का प्रमुख निर्माता रहा है।''

बर्नहार्डी का यह कथन है कि युद्ध कमजोर तत्वों को अलग करने का भी एक उपाय है। 'वीडिंग आऊट' प्रक्रिया के द्वारा देश के कम उपयोगी, कमजोर तत्वों का अन्त होता है। युद्ध के

दौरान जो बहादुर, सतर्क एवं क्रियाशील व्यक्ति होते हैं वह अपने को सुरक्षित रखते हैं । जो युद्ध में सुरक्षित नहीं रह पाते वह निश्चय ही इस योग्य नहीं होते कि वह जीवित रहें । अनुपयोगी जनसंख्या को कम करने का भी युद्ध एक साधन है।

यह भी धारणा अपनाई जाती है कि युद्ध के द्वारा नैतिक तथा आत्मिक गुणों का विकास होता है। यह मनुष्य के अन्दर दबे हुए सदगुणों जैसे संयम, त्याग, इत्यादि को जाग्रत करता है। कौपार्मॉन ने युद्ध को नैतिक तथा आध्यात्मिक गुणों के विकास का साधन माना है।

इस आधार पर शॉटवेल का मानना है कि अपनी सामाजिक उपयोगिता के कारण युद्ध वर्तमान समय तक प्रचलित है तथा वह सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक संस्थाओं के विकास में सहायक है।

(ग) युद्ध की विदेश नीति में भूमिका

युद्ध को नाकारा तो नहीं जा सकता किन्तु इसका प्रयोग कम से कम किया जाना चाहिए। आज के युग में इस बात को सभी स्वीकार करते हैं कि शस्त्रों के विनाशकारी स्वरूप ने युद्ध को एक असंवेदनशील साधन बना दिया है । जॉन हर्ज का मानना है कि परमाणु युद्ध के खतरे ने राष्ट्रों को युद्ध की नीति अपनाने से सतर्क कर दिया है। आधुनिक युग में 'युद्ध की अतिमारक्ता' तथा 'भय सन्तुलन' को देखते हुये विश्व युद्ध को लगभग असम्भव बना दिया है। विश्व युद्ध की परिस्थिति में विश्व संहार और सभ्यता का पूर्ण विनाश होना सम्भव है। इस कारण युद्ध के विनाश सें बचने के लिए विकल्पों की खोज की जाने लगी है । यह भी प्रयास किया गया है कि युद्ध का केवल आखरी विकल्प के रूप में प्रयोग किया जाए । सेनेटर फुलब्राईट ने कुछ सुझाव दिए हैं जिनके द्वारा युद्ध को सीमित किया जा सकता है। यह सुझाव निम्नलिखित हैं -

(1) युद्ध के विनाश तथा अनुपयोगिता के विषय में प्रचार करना

(2) आर्थिक अन्तर निर्भरता पर जोर देना

(3) अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा नियन्त्रण को सशक्त और प्रभावी बनाना

(4) निशस्त्रीकरण तथा शस्त्र नियन्त्रण

(5) विश्व सरकार की स्थापना करना

(6) युद्ध के लाभ को स्वीकृति न देना

इन सुझावों को प्रभावकारी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि नए विकल्पों को ढूंढने का प्रयास किया जाय। आज विश्वयुद्ध होने की सम्भावनाएं कम हो गई हैं किन्तु युद्ध के अन्य स्वरूप अभी भी प्रचलित हैं जैसे 'मनोवैज्ञानिक युद्ध, राजनीतिक युद्ध, आर्थिक युद्ध, शीतयुद्ध, इत्यादि। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुरूप युद्ध को मान्यता नहीं दी गई हैं किन्तु आज तक यह विदेश नीति के एक साधन के रूप में प्रचलित है।

6.11 सारांश

विदेश नीति एक देश के राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के उद्देश्य से बनाई जाती है। विदेश नीति के निर्माता कुछ आन्तरिक एवं बाहरी तत्वों को ध्यान में रखकर राष्ट्रीय शक्ति में वृद्धि करने का प्रयास करते हैं । अतः राष्ट्रीय हित, राष्ट्रीय शक्ति तथा एक देश की विदेश नीति में निश्चित सम्बन्ध दिखाई

देता है। इस सम्बन्ध को ध्यान में रखते हुये प्रत्येक राष्ट्र कुछ साधनों के द्वारा अपनी विदेश नीति को सफल बनाने का प्रयास करता है। राजनय एक सरल, सस्ता और स्थाई साधन है, जिसका सभी देश प्रयोग करते हैं। आज के वैज्ञानिक युग में प्रचार का भी प्रभावी प्रयोग किया जाता है तथा आर्थिक आत्मनिर्भरता के अनुरूप आर्थिक साधनों का भी साथ साथ प्रयोग किया जाता है। किन्तु जब यह साधन इच्छित परिणाम नहीं देते हैं तो आखिरी विकल्प के रूप में युद्ध का प्रयोग भी किया जाता है।

6.12 संदर्भ ग्रन्थ

1. हैन्स मॉरगेन्थाऊ : पोलेटिक्स अमन्ग नेशन्स
2. हैरल्ड निकल्सन :डिप्लोमेसी
3. ए. एफ. के. आरगेन्स्की : वर्ल्ड पोलेटिक्स
4. क्विन्सी राइट : द स्टडी आफ इन्टरनेशनल रिलेशन्स
5. पामर और पर्किन्स : अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध
6. महेन्द्र कुमार : अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक तत्व
7. प्रेम अरोरा : अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध
8. फेलिक्स ग्रॉस : फोरेन पॉलेसी अनैलिसिस
9. जॉज मॉडेल्स्की : अ थ्योरी आफ फोरेन पालिसी
10. प्रभुदत्त शर्मा : अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

6.13 संबंधित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. विदेश नीति के निर्धारक तत्वों पर एक निबन्ध लिखिए ।
2. 'प्रचार आज के युग का एक प्रभावी साधन है।' टिप्पणी कीजिए ।
3. पुराने तथा नए राजनय में अन्तर स्पष्ट कीजिए ।
4. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में किन आर्थिक साधनों का प्रयोग किया जाता है।
5. युद्ध की परिभाषा दीजिए तथा उसकी भूमिका का विवेचन कीजिए ।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. विदेश नीति के लक्ष्यों की चर्चा कीजिए ।
2. प्रचार किस प्रकार से प्रभावी बनाया जा सकता है?
3. चुंगी शुल्क किस प्रकार से राज्य को लाभ पहुँचा सकता है?
4. राजनय के लक्ष्य क्या होते है?
5. युद्ध में किस प्रकार लाभ होता है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 'बनिये का राजनय' तथा 'योद्धा राजनय' में किसने भेद किया था -

   (क) रिशलू (ग) ऑरगेन्स्की

   (ख) निकल्सन (घ) कैलियरे

2. युद्ध को किसके द्वारा अवैध घोषित किया गया?

   (क) राष्ट्र संघ चार्टर (ग) मानव पार्लियामेण्ट

   (ख) संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर (घ) सुरक्षा परिषद

3. 'डिप्लोमेसी' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग किसने किया था ?

   (क) हैरल्ड निकल्सन (ग) एडमण्ड बर्क

   (ख) हैंस मार्गेन्थाऊ (घ) क्विन्सी राइट

4. कार्टेल्स का लक्ष्य क्या होता है?

   (क) दीर्घकालीन ऋण देना (ग) बाजार में मूल्यों को निश्चित करना

   (ख) कम मूल्य पर निर्यात करना (घ) चुंगी में वृद्धि करना

6.14 प्रश्नोत्तर

1. (ग)
2. (ख)
3. (ग)
4. (ग)

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

MAPS -109
राजनीति विज्ञान
अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति

खण्ड
03
शक्ति का परिसीमन

इकाई-7 शक्ति संतुलन	5
इकाई-8 सामूहिक सुरक्षा	23
इकाई-9 निःशस्त्रीकरण और शस्त्र नियन्त्रण	38

परामर्श-समिति

प्रो0 केदार नाथ सिंह यादव	कुलपति
डॉ0 हरीशचन्द्र जायसवाल	कार्यक्रम संयोजक
डॉ0 इति तिवारी	सहसंयोजक
श्री एम. एल. कनौजिया	कुलसचिव

विशेषज्ञ समिति (परिमार्जक)

1- प्रो0 एस. के. झा — पूर्व विभागाध्यक्ष, राजनीतिशास्त्र विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय

सम्पादक

प्रो0 एस. एम. सईद — अवकाश प्राप्त प्रोफेसर, लखनऊ विश्वविद्यालय

लेखक मंडल

1- प्रो0 नन्द लाल	प्रोफेसर काशी विद्यापीठ, काशी	–	3 इकाई
2- डॉ0 मनूका खन्ना	रीडर, लखनऊ विश्वविद्यालय,	–	3 इकाई
3- डॉ0 शशि शुक्ला	रीडर, लखनऊ विश्वविद्यालय	–	3 इकाई
4- प्रो0 बी. के. तिवारी	प्रोफेसर, लखनऊ विश्वविद्यालय	–	4 इकाई
5- डॉ0 कमल कुमार	रीडर, लखनऊ विश्वविद्यालय	–	4 इकाई

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, **प्रयागराज**

MAPS-109/94

खण्ड-III का परिचयः शक्ति का परिसीमन

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को शक्ति संघर्ष कहा गया है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अन्तिम लक्ष्य कुछ भी क्यों न हो, शक्ति सदैव उसका तात्कालिक लक्ष्य रहा है। राजमर्मज्ञ भले ही अपने उद्देश्यों को धार्मिक, दार्शनिक, आर्थिक या सामाजिक आदर्शों के रूप में परिभाषित करें, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उन लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु, उन्हें शक्ति के लिये प्रयासरत होना पड़ता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की यह विशेषता है कि उसमें सम्प्रभु राज्य समाविष्ट हैं, जो किसी केन्द्रीय सत्ता के अधीन नहीं होते और जिनके हित समान्यतः पस्पर विरोधी होते हैं। ऐसी स्थिति में राज्य अपने अनिवार्य हितों, यथा–राष्ट्रीय सुरक्षा, राजनीतिक स्वतंत्रता, प्रादेशिक अखण्डता एवं आर्थिक समृद्धि के संरक्षण और अनुसरण के लिए प्रतिबद्ध होते हैं और उनकी पूर्ति के लिए शक्ति के अर्जन और संचय पर बल देते हैं, विशेष रूप से सैन्य शक्ति और सैन्य तत्परता पर। स्पष्ट है कि किसी केन्द्रीय सत्ता के अभाव में राज्यों के मध्य शक्ति स्पर्धा, राजनीतिक संघर्षों और युद्धों का मूल कारण बनती है, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय असुरक्षा को जन्म देती है तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं व्यवस्था के लिए अहितकर सिद्ध होती है।

अबाधित एवं अमर्यादित शक्ति संघर्ष की समस्या का निदान केन्द्रीकृत प्रबन्धन और केन्द्रीय सैन्य बल में निहित है, जो विश्व सरकार के गठन के माध्य से संम्भव है। परन्तु विश्व सरकार का गठन वांछनीय होते हुए भी सम्भव नहीं प्रतीत होता, क्योंकि वह राज्यों द्वारा सम्प्रभुता के परित्याग की पूर्व माँग करता है। इस प्रकार एक ओर शक्ति स्पर्धा अराजकता को जन्म देती है, जो अवांछनीय है, और दूसरी ओर, विश्व सरकार जो इस अराजकता को रोकने में सक्षम हो सकती है और इस दृष्टि से वांछनीय है, व्यवहार में सम्भव प्रतीत नहीं होती। ऐसी स्थिति में राज्यों के ऐच्छिक, सामूहिक एवं संगठित प्रयासों द्वारा शक्ति के परिसीमन का विचार जन्म लेता है, जो अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता और विश्व सरकार के मध्य स्थित है।

प्रस्तुत खण्ड में शक्ति के प्रबन्धन, नियंत्रण और परिसीमन के तीन उपायों-शक्ति संतुलन, सामूहिक सुरक्षा और निःशस्त्रीकरण का विवेचन किया गया है, विशेष रूप से तीनों अवधारणाओं की परिभाषा, मान्यता तथा भूमिका पर प्रकाश डाला गया है। इस खण्ड में वर्णित विषयों के अध्ययन से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के महत्वपूर्ण पक्ष-राज्यों के मध्य तनाव, भय, असुरक्षा, संघर्ष और युद्ध के मूल कारण शक्ति की प्रतिस्पर्धा को समझने, तथा उसके परिसीमन और प्रबन्धन के माध्यम से सम्प्रभु राज्य-व्यवस्था के अन्तर्गत शक्ति के विकेन्द्रीकरण से उत्पन्न समस्याओं से निपटने के प्रयासों को समझने में सहायता मिलेगी।

इकाई-7 शक्ति संतुलन

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 शक्ति संतुलन का अर्थ

7.3 शक्ति संतुलन सिद्धान्त की मान्यतायें एवं पूर्वपिक्षायें

7.4 शक्ति संतुलन सिद्धान्त का ऐतिहासिक विकास

7.5 शक्ति संतुलन स्थापित करने के साधन

7.6 वर्तमान विश्व में शक्ति संतुलन की प्रासंगिकता

7.7 शक्ति संतुलन सिद्धान्त की आलोचना

7.8 सारांश

7.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

7.10 सम्बन्धित प्रश्न

7.11 प्रश्नोत्तर

7.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात आपः

- शक्ति संतुलन के अर्थ, मान्यताओं, पूर्वपिक्षाओं तथा संतुलन स्थापित करने के साधनों का उल्लेख कर सकेंगे,
- शक्ति संतुलन सिद्धांत के ऐतिहासिक विकास और समकालीन विश्व में उसकी प्रासंगिकता का वर्णन कर सकेंगे।

7.1 प्रस्तावना

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर केन्द्रीकृत सत्ता एवं केन्द्रीय बल के अभाव में अराजक प्रवृत्तियों का सक्रिय होना स्वाभाविक है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की अराजक संरचना के अन्तर्गत राज्यों की सुरक्षा और अतिजीविता का प्रश्न अहम होता है। यह स्पष्ट है कि राज्यों की स्वाधीनता की रक्षा और सुरक्षा की निश्चितता विश्व सरकार के माध्यम से ही सम्भव है। परन्तु विश्व सरकार जैसी कोई व्यवस्था इतिहास के किसी भी काल में नहीं देखी गयी। वास्तव में केन्द्रीय सत्ता और केन्द्रीकृत बल के अभाव को अवांछनीय न मानते हुए, राजमर्मज्ञों द्वारा शक्ति के वितरण पर बल दिया गया, ताकि कोई भी राज्य या राज्यों का समूह अन्य राज्यों के अस्तित्व को चुनौती देने या उनकी सम्प्रभुता को खतरा पहुंचाने, अथवा व्यवस्था को अस्थिर बनाने मे समर्थ न हो। शक्ति संतुलन का अभिप्राय एक ऐसी स्थिति से है, जिसके अन्तर्गत कोई भी राज्य या राज्यों का समूह इस बात में सक्षम नहीं होगा कि वह अन्य राज्यों पर पूर्णतः आधिपत्य स्थापित कर सके, या कानून को नियत कर सके। यदि

अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय का कोई भी सदस्य उपरोक्त व्यवस्था की किसी भी शर्त का उल्लंघन करता है या उस पर प्रहार करता है, तो प्रत्येक राज्य का हित, अधिकार और कर्तव्य इसमें निहित है कि वह हस्तक्षेप के माध्यम से, जिसमे सैनिक हस्तक्षेप भी सम्मिलित है, संतुलन को पुनः स्थापित करे।

ओपेनहाइम के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अस्तित्व के लिये राज्यों के बीच साम्यावस्था अपरिहार्य है। केन्द्रीय सत्ता के अभाव में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पीछे एकमात्र बाध्यकारी शक्ति राज्यों की वह क्षमता है, जो एक दूसरे पर नियंत्रण रखती है। यदि यह व्यवस्था असफल हो जाये तो शक्तिशाली राज्य को कानून की उपेक्षा करने, तथा अपनी सुविधा और हित के अनुसार कदम उठाने से कोई नहीं रोक सकता।

शक्ति संतुलन को राज्यों के मध्य शक्ति वितरण, शक्ति प्रबन्धन, युद्ध की रोकथाम एवं नियंत्रण की व्यवस्था कहा जा सकता है। यह इस मान्यता पर आधारित है कि यदि शक्ति का उन्मूलन नहीं किया जा सकता तो उसका विरोध जवाबी शक्ति से करना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में यह पारस्परिक निवारण पर आधारित व्यवस्था है, जिसमें भावी आक्रमणकारी राज्य अन्य राज्यों के सामूहिक बल के प्रयोग से भयोपरत होता है। वास्तव में निवारण अन्य व्यवस्थाओं का भी उद्देश्य हो सकता है, उदाहरणतः सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था का, परन्तु साधनों की दृष्टि से इन व्यवस्थाओं में भिन्नता पायी जाती है।

यद्यपि शक्ति संतुलन का विचार पुराना है और इसके प्रासंगिक सन्दर्भ प्राचीन यूनानी साहित्य, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के चीनी विश्लेषण तथा कौटिल्य के ग्रन्थों मे देखे जा सकते हैं, परन्तु कूटनीति संचालन में एक औपचारिक सिद्धान्त के रूप में शक्ति संतुलन 17वीं और 18वीं शताब्दी में सुविकसित हुआ। उत्रेख्त की संधि (1717) द्वारा शक्ति संतुलन को यूरोप में शान्ति और स्थिरता स्थापित करने की एक आवश्यकता के रूप में प्रदान की गयी और तब से लेकर आज तक यह कूटनीति की शब्दावली और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक लेखन में विद्यमान है।

7.2 शक्ति संतुलन का अर्थ

शक्ति संतुलन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के यथार्थवादी सिद्धान्त की एक केन्द्रीय अवधारणा है, परन्तु फिर भी इसका कोई सुनिश्चित अर्थ नहीं है और इसकी विविध व्याख्यायें हैं। जैसा कि ह्यूम ने "एस्से ऑन बैलेंस ऑफ पावर" में कहा है, यह सिद्धान्त उतना ही प्राचीन है जितना कि पुराना इतिहास है। प्राचीन राजनीतिक विचारक और राजमर्मज्ञ, दोनों ही, शक्ति संतुलन के विचार से भली भाँति परिचित थे। परन्तु 17 वीं शताब्दी के आरम्भ में जब ग्रोशियस और उसके उत्तराधिकारियों के प्रयासों से अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास हुआ, तब शक्ति संतुलन कूटनीति के एक मूलभूत सिद्धान्त के रूप में सूत्रित हुआ और राजनीति शास्त्र का एक स्वयंसिद्ध तथ्य बन गया।

शक्ति संतुलन का सिद्धान्त लुई XIV तथा नेपोलियन के विरूद्ध गठबन्धनों का आधार बना तथा वेस्टफेलिया संधि (1648) एवं विएना कांग्रेस (1815) के मध्य अधिकांश युद्धों का आधार बना। 19वीं शताब्दी में यूरोप में होने वाले राष्ट्रीय विप्लवों ने इसे अस्पष्ट बनाया, परन्तु शान्ति के बहाल होने के उपरान्त यह एक बार फिर राजनीतिक गठबन्धनों की प्रेरणा बना।

राज्यों के बीच संतुलन का विचार यांत्रिकी के क्षेत्र से लिया गया रूपक है और तुला द्वारा प्रदर्शित साम्यावस्था को निर्दिष्ट करता है। जिस प्रकार एक तुला के दो पलड़े समान भार होने पर संतुलित रहते हैं, उसी प्रकार की साम्यवस्था की कल्पना राज्यों के मध्य की गयी है। संतुलन के

सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में सम्प्रभु राज्य व्यवस्था पर लागू करने का उद्देश्य, एक ऐसी व्यवस्था की स्थापना करने से है, जिसमें कोई भी राज्य इतना शक्तिशाली न हो अथवा आधिपत्य का वह स्तर प्राप्त न करे कि दूसरों पर अपने आदेशों को थोप सके अथवा उनकी सुरक्षा के लिए खतरा बने, तथा राज्यों के बीच शक्ति का एक स्थूल संतुलन कायम हो सके।

श्लीचर के शब्दों में, "शक्ति संतुलन व्यक्तियों तथा समुदायों की सापेक्ष शक्ति की ओर संकेत करता है।"

फे के अनुसार, "शक्ति संतुलन का अर्थ है राष्ट्रों के परिवार के सदस्यों की शक्ति की न्यायपूर्ण तुल्यभारिता, जो किसी राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र पर अपनी इच्छा लादने से रोक सके।"

शक्ति संतुलन दो प्रकार का होता है-सरल और बहुमुखी। सरल संतुलन उस समय पाया जाता है, जबकि शक्ति मुख्यतः दो राज्यों या विरोधी गुटों में केंद्रित हो। बहुमुखी या जटिल संतुलन में राज्य या राज्यों के समूह एक दूसरे को संतुलित करते हैं और फिर संतुलनों के भीतर संतुलन होता है। युद्ध अथवा संकटकाल में बहुमुखी संतुलन सरल संतुलन में बदल जाता है, जब सभी राज्य किसी न किसी गुट में सम्मिलित हो जाते हैं।

शक्ति संतुलन को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की एक स्थिति, प्रक्रिया, नीति और व्यवस्था के रूप में परिभाषित किया गया है। राज्यों की एक नीति और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की एक प्रणाली के रूप में शक्ति संतुलन बहुराज्य व्यवस्था में राज्यों के अवांछनीय व्यवहार की रोकथम के लिये उनकी शक्ति के प्रत्युत्तर में बराबर की शक्ति से विरोध करने तथा वर्चस्व समाप्त करने का संकल्पित प्रयास है। कैनेथ टॉमसन, मॉरगेन्थाऊ,चर्चिल आदि ने शक्ति संतुलन के सिद्धान्त को विदेश नीति के परिप्रेक्ष्य में परिभाषित किया है। मार्टिन वाइट, ए0जे0पी0 टेलर, चार्ल्स लर्च आदि शक्ति संतुलन को एक प्रणाली या पद्धति के रूप में देखते हैं। एक प्रणाली के रूप में शक्ति संतुलन द्वारा आधुनिक विश्व में, जहाँ बहुत सारे राज्य हैं, एक ऐसी व्यवस्था स्थापित की जा सकती है, जिसके अन्तर्गत राज्यों के मध्य परस्पर क्रिया का लक्ष्य प्रभुत्व स्थापित करना न होकर सामान्य संतुलन प्राप्त करना होता है।

16वीं शताब्दी से 20वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों तक यूरोप के सम्बन्ध में ब्रिटेन की नीति शक्ति संतुलन की नीति का उदाहरण है, जबकि 1648 से 1789 तथा पुनः 1815 से 1914 तक यूरोपीय राज्य व्यवस्था अपने आप में शक्ति संतुलन की व्यवस्था का उदाहरण है।

शक्ति संतुलन का कोई सुनिश्चित अर्थ नहीं है और इसकी व्याख्या अनेक प्रकार से की जा सकती है। अर्नेस्ट हास ने शक्ति संतुलन के निम्न आठ अर्थों की ओर संकेत किया है-

1. राष्ट्रों-राज्यों में शक्ति के समान वितरण से उत्पन्न साम्यावस्था;
2. राष्ट्र-राज्यों में शक्ति के असमान वितरण से उत्पन्न साम्यावस्था;
3. एक राष्ट्र-राज्य के वर्चस्व से उत्पन्न साम्यावस्था;
4. सापेक्ष स्थिरता व शान्ति प्रदान करने वाली व्यवस्था;
5. अस्थिरता एवं युद्ध से ग्रस्त व्यवस्था;
6. शक्ति राजनीति का दूसरा नाम;
7. इतिहास का सार्वभौमिक कानून;
8. नीति निर्माताओं का मार्गदर्शक।

जॉर्ज श्वार्जनबर्गर शक्ति संतुलन का अभिप्राय 'शक्ति राजनीति' मानते हैं, लासवेल इसे 'तुल्यभारिता' के रूप में परिभाषित करते हैं, स्पाइकमैन के अनुसार यह 'वर्चस्व' की ओर इंगित करता है, जबकि मारगेन्थाऊ और शूमाँ इसे राज्य व्यवहार के 'सार्वभौमिक कानून' का दर्जा देते हैं।

पामर एवं पार्किन्स ने शक्ति संतुलन सिद्धान्त की निम्न सात विशेषताओं का उल्लेख किया है;

1. शक्ति संतुलन का आशय तुल्यभारिता से है, परन्तु शक्ति इतना अस्थिर तत्व है कि शक्ति सम्बन्ध सदैव परिवर्तित और गतिशील होते हैं।
2. शक्ति संतुलन स्थापित करने के लिए राज्यों को सदैव प्रयत्नशील रहना पड़ता है।
3. शक्ति संतुलन की नीति यथापूर्व स्थित को बनाये रखने की नीति है।
4. चूँकि शक्ति तत्व को मापना और स्थिर करना असम्भव है, अतः यह कहना कठिन है कि पूर्ण शक्ति संतुलन स्थापित हो गया है।
5. इतिहासकार शक्ति संतुलन को वस्तुनिष्ठ दृष्टि से देखता है, जबकि राजनीतिज्ञ व्यक्तिनिष्ठ दृष्टिकोण अपनाता है। इतिहासकार के अनुसार शक्ति संतुलन तब स्थापित होता है, जब दो राज्यों या उनमें समूहों की शक्ति लगभग समान प्रतीत होती है, परन्तु राजनीतिज्ञ की दृष्टि में वास्तविक संतुलन तब स्थापित होता है, जब उसका पक्ष दूसरे की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली हो जाता है।
6. शक्ति संतुलन किसी विशिष्ट राजनीतिक व्यवस्था का अनिवार्य लक्षण नहीं है, लोकतांत्रिक और सर्वाधिकारवादी, दोनों प्रकार की राजनीतिक व्यवस्थायें इसका प्रयोग कर सकती हैं।
7. शक्ति संतुलन में प्रधान रूप से बड़ी शक्तियाँ ही भाग लेती हैं छोटे राज्य तुला के हल्के बाँटों की भूमिका निभाते हैं।

उपर्युक्त चर्चा से यह स्पष्ट होता है कि शक्ति संतुलन का अभिप्राय उस स्वीकार्य प्रक्रिया से है, जिसके द्वारा राज्य केन्द्रीय राजनीतिक सत्ता विहीन विश्व में एक प्रकार की व्यवस्था स्थापित करते हैं। प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति राजनीति युक्त विश्व में राज्य परस्पर सहमति पर आधारित अन्तः-क्रिया की उन प्रक्रियाओं को अपनाते हैं, जिनका उद्देश्य अमर्यादित संघर्षों के खतरों को कम करना होता है। ऐसा माना जाता है कि यह मुख्यतः तभी संभव होगा, जब किसी एक राज्य को शक्ति की प्रचुरता अर्जित करे से रोका जा सके। इस प्रकार शक्ति संतुलन का उद्देश्य शक्ति के वितरण में एक संतुलन स्थापित करना और उसे बनाये रखना है। ऐसा माना जाता है कि संतुलन की प्राप्ति के लिए राज्यों द्वारा कुछ नियमों का पालन करना आवश्यक है। किसी राज्य या राज्यों के समूह द्वारा शक्ति वर्धन किये जाने की स्थिति में अन्य राज्यों द्वारा संश्रय के माध्यम से उसका विरोध किया जाना चाहिये, ताकि उस राज्य को परिवर्तित क्षमताओं का प्रतिकार किया जा सके। सापेक्ष शक्ति स्थितियों में किसी प्रकार के असंतुलन को दूर करने के लिए युद्ध भी आवश्यक हो सकता है। परन्तु इस प्रकार के युद्ध सीमित प्रकृति के होने चाहिये अर्थात प्रतिद्वन्द्वी राज्य या राज्यों की सम्प्रभुता सुरक्षित रहनी चाहिये क्योंकि आगे आने वाले समय में वह राज्य एक महत्वपूर्ण सहयोगी या संश्रय सहभागी बन सकता है। राज्यों द्वारा उपरोक्त नियमों का पालन प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति राजनीति के वातावरण में स्थिरता को प्रदान कर सकता है, और यह स्थिरता राष्ट्र-राज्य व्यवस्था के संरक्षण के लिए आवश्यक

है।

हैडली बुल के मतानुसार शक्ति ने तीन सकारात्मक कार्य किये हैं। पहला, इसने व्यवस्था को सार्वभौमिक साम्राज्य में परिवर्तित होने से बचाया है। दूसरा, क्षेत्र विशेष के राज्यों की स्वतंत्रता को शक्तिशाली राज्यों में विलय होने से बचाया है। तीसरा, इसने ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न की, जिनमें अतर्राष्ट्रीय व्यवस्था के लिये आवश्यक कूटनीति, युद्ध, अन्तर्राष्ट्रीय विधि आदि विकसित हो सकें।

इसमें दो राय नहीं है कि शक्ति संतुलन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सार तत्व है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर बाध्यकारी नियमों के अभाव तथा विवादों के समाधान के साधन के रूप में हिंसा के प्रयोग अथवा धमकी के दृष्टिगत शक्ति संतुलन को अन्तर्राष्ट्रीय नियमन और नियंत्रण का पुरातन अथवा अपरिष्कृत साधन कह सकते हैं।

शक्ति संतुलन अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता और विश्व व्यवस्था के बीच अवस्थित है। अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता में जंगल का कानून सर्वोच्च होता है, जबकि विश्व व्यवस्था में विधि का शासन राज्यों के आचरण को मर्यादित करता है। शक्ति संतुलन इन दो स्थितियों के मध्य एक सुविधाजनक समझौता है।

7.3 शक्ति संतुलन सिद्धान्त की मान्यतायें एवं पूर्वापेक्षायें

शक्ति संतुलन का सिद्धान्त कुछ मान्यताओं पर आधारित है। इन अन्तर्निहित मान्यताओं के अध्ययन के द्वारा इस सिद्धान्त को भली भाँति समझा जा सकता है। क्विन्सी राइट ने शक्ति संतुलन सिद्धान्त में निहित पाँच मान्यताओं का उल्लेख किया है:

पहली मान्यता यह है कि प्रत्येक राज्य उपलब्ध शक्ति एवं साधनों के द्वारा, जिनमें युद्ध भी सम्मिलित है, अपने महत्वपूर्ण हितों एवं अधिकारों की रक्षा करता है।

दूसरी मान्यता के अनुसार राज्यों के महत्वपूर्ण हितों को या तो खतरा उपस्थित होता है, या उनके लिए संकट की सम्भावना सदैव बनी रहती है।

तीसरी मान्यता है कि शक्ति संतुलन या तो अन्य राज्यों को आक्रमण का भय दिखा कर महत्वपूर्ण हितों की रक्षा करता है या आक्रमण होने पर आक्रमणकारी पक्ष पर विजय प्राप्त करके मार्मिक हितों की रक्षा करता है। राज्य तब तक किसी अन्य राज्य पर आक्रमण नहीं करते, जब तक उनके पास शक्ति की प्रचुरता न हो।

चौथी मान्यता के अनुसार राज्यों की शक्ति का ठीक-ठाक मूल्यांकन किया जा सकता है और भविष्य में उनकी क्या शक्ति होगी, इसका अनुमान लगाया जा सकता है।

पाँचवी मान्यता यह है कि राजमर्मज्ञ अपनी विदेश नीति के निर्णय, शक्ति सम्बन्धी तथ्यों की सूझबूध के साथ और सोच समझ कर करते हैं।

राइट की उरोक्त पहली चार सैद्धान्तिक मान्यताओं को तर्कसंगत कहा गया है, परन्तु पाँचवी के सम्बन्ध में आपत्तियाँ प्रकट की गयी हैं।

वास्तव में इस सिद्धान्त की मान्यतायें अपेक्षाकृत साधारण हैं। इसकी प्रमुख मान्यताओं की विस्तार से निम्न प्रकार से चर्चा की जा सकती है:

1. अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था पृथक राजनीतिक समुदायों में खंडित है।

2. राजनीतिक और कूटनीतिक जीवन का प्राथमिक लक्ष्य इन समुदायों की सम्प्रभुता और स्वतंत्रता को कायम रखना है।

3. राजनीतिक समुदाय, जो राष्ट्र राज्य के रूप में संगठित है, प्रादेशकि विस्तार, आंतरिक विकास अथवा समान रूप से प्रवृत्त राज्यों के साथ गठबन्धन स्थापित करके अपनी शक्ति का आवर्धन करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं।

4. इस प्रकार की व्यवस्था में संघर्ष का होना स्वाभाविक है। यह सम्प्रभु राज्यों से मिल कर बनती है, जो किसी केन्द्रीय सत्ता के अधीन नहीं होते और जिनके हितों में विरोध होता है। ऐसी स्थिति में राज्य इस बात के लिए प्रतिबद्ध होते हैं कि वे अपने अनिवार्य हितों, जैसे, राजनीतिक स्वतंत्रता, प्रादेशकि अखण्डता, राष्ट्रीय सुरक्षा, आर्थिक समृद्धि आदि का संरक्षण और अनुसरण करने के लिए प्रयत्नशील हों तथा युद्ध इन उद्देश्यों की पूर्ति का एक वैधानिक उपकरण होता है।

5. इस व्यवस्था के समस्त राज्यों का हित इसमें निहित है कि वे किसी एक राज्य या गठबन्धन को अन्य राज्यों पर वर्चस्व स्थापित न करने दें।

6. शक्ति संतुलन, संघर्ष के प्रबन्धन की नीति है अर्थात इसे यह सुनिश्चित करना होता है कि राज्यों के बीच संघर्ष अनियंत्रित न होने पाये और किसी प्रकार का अस्थिरीकरण जन्म न लें। अस्थिरीकरण तब होता है, जब शक्ति का केन्द्रीकरण किसी एक राज्य या राज्यों के समूह में होता है। यदि इस प्रकार का केन्द्रीकरण होता है, तो व्यवस्था के भीतर के घटकों पर विजय और उनका अधीनीकरण होगा। अतः शक्ति संतुलन का उद्देश्य शक्ति के वितरण की व्यवस्था करना है।

7. शक्ति संतुलन, जो शक्ति के विकेन्द्रीकरण पर बल देता है, एक पारस्परिक निवारण व्यवस्था है, ऐसी व्यवस्था जिसमें प्रत्येक राज्य अन्य से नियंत्रित होता है। परन्तु परस्पर नियंत्रण कोई अनोखी विशेषता नहीं है, क्योंकि निवारण अन्य व्यवस्थाओं का भी उद्देश्य हो सकता है, इसकी अद्वितीयता है, शक्ति के प्रबन्धन और नियंत्रण का साधन। इसके अन्तर्गत शक्ति का नियंत्रण मुक्त प्रवाही, स्थानान्तरणशील व लचीले संश्रयों या मैत्री संधियों के माध्यम से किया जाता है।

8. अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को जारी रखने की सबसे प्रभावी गारंटी यह है कि एक प्रतिसंश्रय का गठन किया जाये, या वह राज्य, जो वर्चस्व स्थापित करना चाहता है, उसके विरूद्ध संतुलनकर्ता की सहायता से एक सैनिक-कूटनीतिक प्रतिभार गठित किया जाये।

9. चूँकि नीति निर्माता पर्याप्त रूप से विवेकशील होते है, अतः वे युद्ध का प्रश्रय तब तक नहीं लेंगे, जब तक उनके पास शक्ति की अर्थपूर्ण प्रचुरता न हो।

उपरोक्त प्रकार का संतुलन, जिसका तात्पर्य लगभग समान सैनिक क्षमताओं से है, उन राज्यों को भयोपरत करने में यथेष्ट होगा, जो व्यवस्था पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहते हैं।

शक्ति संतुलन के विद्वानों ने इस व्यवस्था के क्रियान्वयन के लिए कुछ पूर्वपिक्षाओं की संतुष्टि की ओर भी संकेत किया है, जिनकी निम्न प्रकार से चर्चा की जा सकती है;

1. शक्ति संतुलन व्यवस्था की पहली महत्वपूर्ण पूर्वपिक्षा सम्प्रभु राज्यों का बहुत्व अथवा विश्व का अनेक प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्यों में विभाजित होना है।

2. दूसरी आवश्यक पूर्वपिक्षा राज्यों के ऊपर किसी एक केंद्रीकृत वैधानिक और शक्तिशाली

सत्ता का न होना है।

3. व्यवस्था में सम्मिलित राज्यों के मध्य शक्ति का असमान वितरण आवश्यक है। प्रतिष्ठा, पद, सम्पदा, क्षेत्रफल और सैन्य क्षमता में असमानता के फलस्वरूप राज्यों का तीन श्रेणियों में विभेदीकरण किया जा सकता है- बड़ी शक्तियाँ, मध्यम श्रेणी की शक्तियाँ तथा छोटे राज्य।

4. राज्यों की सोपानिकी, जिसमें शक्तिशाली और निर्बल राज्य क्रमबद्ध रूप से व्यवस्थित होते हैं, तथा संकट के अवसरों पर शक्ति शाली राज्य निर्बल राज्यों के साथ, और निर्बल राज्य शक्तिशाली राज्यों के साथ सहबद्ध होते हैं।

5. इस व्यवस्था में बड़ी शक्तियाँ तो अनेक हो सकती हैं, परन्तु महाशक्तियाँ नहीं। यदि महाशक्तियाँ होंगी तो व्यवस्था भंग हो जयेंगी।

6. शक्तिशाली राज्यों की न्यूनतम संख्या 3 परन्तु वांछनीय संख्या 5 अथवा 6 है। 18 वीं और 19वीं शताब्दियों में बड़े राज्यों की यही संख्या थी।

7. उपर्युक्त 5-6 बड़े राज्यों में शक्ति की तकरीबन समानता आवश्यक है। यहाँ शक्ति से तात्पर्य युद्ध जीतने की क्षमता से है।

8. उपर्युक्त राज्यों में शक्ति की अनुपातिकता महत्वपूर्ण है। यह वह सामान्य मापदंड होता है, जिसके आधार पर एक राज्य की शक्ति की तुलना अन्य राज्य की शक्ति से की जा सकती है। 18वीं और 19वीं शताब्दी में शक्ति का सीधा सम्बन्ध भूभाग तथा तत्सम्बन्धी जनसंख्या और संसाधनों से था।

9. बड़े राज्यों के बीच शक्ति की स्थिरता होना भी आवश्यक है। शक्ति की समानता के उपरान्त भी यह व्यवस्था काम नहीं करेगी, यदि कोई राज्य अपनी शक्ति में, किसी गुप्त शस्त्र की खोज द्वारा अमापनीय वृद्धि कर लेता है।

10. बड़ी शक्तियों के बीच अन्तर्निहित समझ कि वर्तमान शक्ति वितरण का सततीकरण उनके लिए परस्पर लाभप्रद है।

11. विभिन्न राज्यों के कूटनीतिज्ञों, सेनाधिकारियों और राजनेताओं के बीच मूल्यों की साझेदारी, जैसे परस्पर संदेह, नीति निरपेक्षता आदि।

12. युद्ध की उपयोगिता में विश्वास। यह आवश्यक है कि युद्ध राज्यों की नीति का विश्वसनीय उपकरण हो अर्थात युद्ध इतना गंभीर हो कि प्रभावी धमकी के रूप में कार्य कर सके, साथ ही इतना विनाशकारी न हो कि राज्यों को युद्ध की धमकी देने से भी रोके।

13. निर्बल राज्यों का अस्तित्व, जो राजनीतिक एवं आर्थिक गतिविधियों के मुक्त क्षेत्र के रूप में कार्य करते हैं। प्रधान शक्तियो के बीच के गैर-महत्वपूर्ण झगड़ों का समाधान इन राज्यों में किया जाता है। व्यवस्था के अन्तर्गत इन राज्यों की स्वतंत्रता की गारंटी होती है, क्योंकि यदि कोई प्रधान राज्य इन्हें हड़प ले तो वह इतना शक्तिशाली हो जायेगा कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को अस्थिर बना देगा।

14. एक आवश्यक संतुलनकर्ता। संतुलनकर्ता वह राज्य होता है, जो दूसरों की प्रतिस्पर्धा से अलग रहते हुये, दोनों बराबरी के पक्षों के लिए प्रलोभन पैदा करने वाले तीसरे पक्ष की भूमिका निभाता है। यदि एक पक्ष दूसरे की तुलना में बहुत अधिक शक्ति प्राप्त करने लगे तो संतुलनकर्ता निर्बल पक्ष के साथ होकर पुनः सामान्य संतुलन स्थापित कर देता है।

15. इस व्यवस्था के अन्तर्गत, राज्यों में गहरे वैचारिक या धार्मिक सम्बन्ध नहीं हो सकते हैं, न ही किसी प्रकार की आर्थिक अन्योन्याश्रिता। इसका कारण यह है कि इन क्षेत्रों में किसी भी प्रकार की प्रतिबद्धता ठोस गठबन्धनों या संश्रयों को जन्म देगी, जो नम्यता के सिद्धान्त के विरूद्ध होगी। इसलिए इस व्यवस्था के अन्तर्गत केवल वे ही अनुबन्धन स्वीकार्य है, जो मार्मिक हितों के सुरक्षण अथवा व्यवस्था के संरक्षण के लिए कार्यरत हों।

7.4 शक्ति संतुलन स्थापित करने के साधन

शक्ति संतुलन स्थापित करने के अनेक साधन हैं, जिनका राज्यों द्वारा अकेले या एक साथ प्रयोग किया जाता है। राज्य समान्यतयः निम्न साधनों के द्वारा शक्ति संतुलन स्थापित करते हैं या उसे अपने पक्ष में करते हैं:

मैत्री संधियाँ एवं प्रतिमैत्री संधियाँ

संश्रय या मैत्री संधियाँ शक्ति संतुलन को स्थापित करने के सामान्यतः नियोजित साधन रहे हैं। जब कोई राज्य अन्य राज्यों की तुलना में शक्तिशाली होने लगता है तथा संतुलन के लिए खतरा बनता है, तो अन्य राज्य उस प्रत्यक्ष रूप से महत्वाकांक्षी राज्य की शक्ति से आशंकित और भयभीत होकर, उसकी शक्ति को नियंत्रित करने के उद्‌देश्य से परस्पर मैत्री संधि करके, उसके विरूद्ध संगठित हो जाते हैं। प्रत्युत्तर में शक्तिशाली राज्य प्रतिसंधि करता है, ताकि वह अकेला न रह जाय। यह क्रम इसी प्रकार से तब तक चलता रहता है, जब तक कि विश्व के सभी राज्य स्पष्ट रूप से विरोधी गुटों में बंट नहीं जाते। आधुनिक यूरोपीय इतिहास में सतत् रूप से स्थानान्तराशील, तदर्थ अथवा अस्थायी संश्रय प्रचलन में रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सर्वमान्य सिद्धान्त के अनुसार राज्य सदैव अपने हितों की आवश्यकतानुसार संश्रय बनाते, त्यागते और पुनः निर्मित करते रहे हैं। 18वीं शताब्दी में बड़ी शक्तियों के बहुत्व के कारण राज्यों के पास मित्र चुनने की स्वतंत्रता थी।

संश्रय या मैत्री संधियाँ आक्रमणात्मक या सुरक्षात्मक प्रकृति के होते हैं। आक्रमणात्मक संश्रय अपने सदस्यों के पक्ष में संतुलन को अस्त-व्यस्त करने का प्रयास करता है, जबकि रक्षात्मक संश्रय अपने सदस्यों के पक्ष में सन्तुलन को पुनः प्रतिष्ठित करता है। यह कहना कि कब मैत्री संधि आक्रमणात्मक है और कब रक्षात्मक, कठिन है और इसकी अलग-अलग व्याख्या हो सकती है। संश्रयों के प्रभावी होने के लिए दो बातें आवश्यक हैं। पहली, संश्रय इतना शक्ति सम्पन्न होना चाहिए कि जिस उद्‌देश्य के लिए बनाया गया है, उसे प्राप्त कर सके। दूसरी, मित्र राज्यों के बीच या उनमें साझा मूलभूत हित होने चाहिए। रणनीति, भूगोल, समान विचारधारायें, सांस्कृतिक समानतायें और पूरक अर्थव्यवस्थायें संश्रयों को अपेक्षाकृत स्थिर बनाने में सहायता कर सकती हैं, परन्तु एक अस्थायी उद्‌देश्य के लिए उन्हें पूर्व आवश्यकता नहीं कहा जा सकता है।

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि आक्रमणात्मक मैत्री संधियाँ, प्रतिमैत्री संधियों को प्रोत्साहन देती है और युद्ध का कारण बनती है। 1882 के त्रिस्तरीय संश्रय की प्रतिक्रिया स्वरूप 1907 में त्रिराष्ट्रीय आतांत का निर्माण हुआ और प्रथम विश्व युद्ध का प्रारम्भ हुआ। इसी प्रकार धुरी-राष्टों की संधि के विरूद्ध मित्र राष्ट्रों क प्रतिसंश्रय रक्षात्मक प्रकृति का था, परन्तु द्वितीय विश्व युद्ध को नहीं रोक सका।

शस्त्रीकरण एवं निःशस्त्रीकरण

एक राज्य अपनी सैन्य क्षमता का वर्धन करके प्रतिद्वन्द्वी के ऊपर हावी हो सकता है अथवा निःशस्त्रीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से प्रतिद्वन्द्वी की सैन्य क्षमता में कटौती करके।

शस्त्रों का संचयन शक्ति का लाभ प्राप्त करने का सर्वाधिक स्पष्ट तरीका है क्योंकि युद्ध ही राज्यों की नियति का अंतिम निर्णायक है। सभी राज्य, विशेषकर शक्तिशाली राज्य, सैन्य तैयारी पर विशेष बल देते हैं। इस नीति के फलस्वरूप शस्त्र स्पर्धा को प्रोत्साहन मिलता है। अस्त्र-शस्त्र के माध्यम से राज्य अपनी शक्ति से संतुलन बनाये रखने या उसको पुनः स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। जब कोई राज्य अपनी सैनिक शक्ति बढ़ाता है, तब उसका प्रतियोगी राज्य भी बराबरी मे आने के लिए शस्त्रास्त्रों की प्रतिस्पर्धा में पड़ जाता है। प्रधान शक्तियों के बीच स्पर्धा तीक्ष्ण होती है तथा इससे और अधिक खतरनाक एवं अनिश्चित स्थितियाँ जन्म लेती हैं। शस्त्रों में उन्नति तथा युद्ध के तरीकों में सुधार के परिणामस्वरूप शस्त्रों की दौड़ प्रबल हो जाती है। शस्त्रीकरण की यह दौड़ यद्यपि शक्ति संतुलन के लिये होती है, परन्तु इससे सदैव अस्थिर संतुलन का ही जन्म होता है।

कभी-कभी निःशस्त्रीकरण के माध्यम से भी शक्ति संतुलन व्यवस्था में लाभ प्राप्त किया जा सकता है। सैद्धान्तिक दृष्टि से शस्त्रों की दौड़ को समाप्त करने तथा प्रतिद्वन्दी राज्यों द्वारा शस्त्रों की आनुपातिक कटौती से एक अधिक स्थिर संतुलन की स्थापना की जा सकती है। वास्तव में ऐसा हो नहीं पाया है और निःशस्त्रीकरण की समस्या वस्तुतः शक्ति संतुलन को स्थापित करने की समस्या है।

क्षतिपूर्ति

तुल्यभारिता बनाये रखने के लिए प्रदेशों का विभाजन तथा आदान-प्रदान एक महत्वपूण उपाय रहा है। क्षतिपूर्ति बहुधा शक्तिशाली राज्यों द्वारा निर्बल राज्यों की लागत पर की गयी है अथवा युद्धोपरांत अनिवार्य रूप से विजेता राज्यों द्वारा। सामान्यतयः युद्धों की समाप्ति के बाद सम्पन्न शान्ति संधियों में इसी आधार पर प्रदेशों का विभाजन, उनका आदान-प्रदान तथा राज्यों की सीमाओं में परिवर्तन किया जाता है कि उनकी तुलनात्मक शक्ति यथापूर्व बनी रहे। भू-भागों का वितरण करते समय केवल प्रदेश के आकार व क्षेत्रफल को ही वरीयता नहीं दी जाती है, बल्कि उनकी उर्वरता, औद्योगिक क्षमता एवं संसाधनों की प्रचुरता को भी ध्यान में रखा जाता है। 1713 में हस्ताक्षरित उत्रेख्त की संधि के अतर्गत स्पेन द्वारा अधिकृत क्षेत्रों को बाँट कर शक्ति संतुलन स्थापित करने का उल्लेखनीय प्रयास किया गया। शक्ति संतुलन स्थापित करने के प्रयोजन से पौलैंड का तीन बार, वर्ष 1772, 1793 तथा 1795, में विभाजन किया गया। 1906 में अबीसीनिया को ब्रिटेन, इटली और फ्रांस के तीन प्रभाव क्षेत्रों में बांटा गया। इसी प्रकार आँग्ल-रूसी संधि (1907) के अन्तर्गत ब्रिटेन और रूस ने ईरान में अपने-अपने प्रभाव क्षेत्र स्थापित किये।

हस्तक्षेप

कभी-कभी शक्तिशाली राज्य शक्ति संतुलन स्थापित करने की दृष्टि से अन्य राज्यों के आन्तरिक मामले में हस्तक्षेप करते हैं। ऐसा प्रायः तब किया जाता है, जब कोई राज्य आन्तरिक कारणों, जैसे सैन्य क्षमता अथवा औद्योगिक उत्पादन क्षमता में अभूतपूर्व वृद्धि के फलस्वरूप, शक्तिशाली एवं महत्वकांक्षी हो जाता है और आक्रामक रूख अपना सकता है। ऐसी स्थिति में यथार्पूव

व्यवस्था को बनाये रखने अथवा शक्ति संतुलन को अपने पक्ष में करने के उद्देश्य से राज्य प्रत्यक्ष हस्तक्षेप कर सकते हैं।

इतिहास में हस्तक्षेप द्वारा शक्ति संतुलन स्थापित करने के अनेक उदाहरण मिलते हैं। उदाहरणस्वरूप 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बल्कन प्रदेश में ऑस्ट्रिया, रूस और ब्रिटेन का हस्तक्षेप। ब्रिटेन का हस्तक्षेप तटस्थता से तनिक हटने से लेकर एक प्रमुख युद्ध में बड़े पैमाने पर सैनिक भागीदारी तक रहा है।

कुछ लेखकों का मानना है कि अहस्तक्षेप भी एक राजनीतिक संकल्पना है और हस्तक्षेप की भाँति शक्ति संतुलन को स्थापित करने में सहायक होती है। अहस्तक्षेप का आशय उस नीति से है, **जिसका सामान्यतयः** छोटे राज्यों द्वारा पालन किया जाता है अथवा उन बड़े राज्यों द्वारा, जो राजनीतिक व्यवस्था से संतुष्ट होते हैं और संतुलन के संरक्षण के लिए शान्तिपूर्ण उपायों का अनुसरण करते हैं। इसका अभिप्राय तटस्थता से या अन्य राज्य की तटस्थता की गारंटी से या युद्धो का स्थानीयकरण करने के प्रयास से, या फिर युद्ध काल में तटस्थों के अधिकारों की रक्षा से है। शक्ति संतुलन बनाये रखने की दृष्टि से स्पेन के गृह युद्ध (1936-1938) के दौरान अहस्तक्षेप समिति का गठन किया गया। अहस्तक्षेप अन्तर-अमेरिकी व्यवस्था का मूलभूत सिद्धान्त रहा है तथा एशिया-अफ्रीका के नवोदित राज्यों की घोषित नीति।

मध्यवर्ती राज्य

शक्ति संतुलन को स्थापित करने का एक प्रमुख तरीका मध्यवर्ती राज्य की स्थापना करना है। यह वह छोटा सा, कमजोर, तटस्थ राज्य होता है, जो दो बड़े शत्रु राज्यों के बीच अवस्थित होता है और उन दोनों के बीच सीधे संघर्ष की सम्भावनाओं को रोकने में सहायक सिद्ध होता है। अवरोधक प्रभाव के कारण मध्यवर्ती राज्य शक्ति संतुलन व्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इनके अभाव में प्रतिद्वन्दी शक्तियों के बीच सीधे टकराव की सम्भावना के दृष्टिगत शक्ति संतुलन की स्थिति अनिश्चित बनी रह सकती है। मध्यवर्ती राज्य तटस्थीकृत या पराधीन प्रदेश हो सकते है, अथवा दो या दो से अधिक शक्ति समुच्चयों के साथ सक्रिय रूप से सम्बद्ध हो सकते हैं।

अफ़गानिस्तान ब्रिटिश भारत और रूस के बीच, पोलैंड, जर्मनी एवं रूस के मध्य तथा बेल्जियम और हॉलैंड, फ्रांस एवं जर्मनी के बीच मध्यवर्ती राज्य थे। इसी प्रकार स्विटजरलैंड, ऑस्ट्रिया, जर्मनी, फ्रांस व इटली का, म्यामांर (बर्मा) ब्रिटिश भारत व फ्रांसीसी हिन्द-चीन का, तथा तिब्बत भारत व चीन का मध्यवर्ती राज्य था। 1950 में तिब्बत भारत का मध्यवर्ती राज्य नहीं रह गया और भारत को 1962 के भारत-चीन युद्ध में क्षति पहुँची।

विभाजन तथा शासन

यह एक पुरानी नीति है, जिसका अनुसरण उन राज्यों द्वारा किया जाता है, जो अपने प्रतिद्वन्दी को निर्बल बनाना चाहते हैं। शक्ति संतुलन स्थापित करने के लिये राज्य शत्रुपक्ष के साथी राज्यो में फूट डालने का प्रयत्न करते हैं, ताकि वे विभाजित और कमजोर रहें। 17वीं शताब्दी से द्वितीय विश्वयुद्ध के अन्त तक फ्रांस ने जर्मनी के प्रति इस नीति को अपनाया।

7.5 शक्ति संतुलन सिद्धान्त का ऐतिहासिक विकास

राजनीति के एक सिद्धान्त के रूप में शक्ति संतुलन का इतिहास पुराना है। विद्वानों का मानना है कि यूनान की नगर-राज्य व्यवस्था तथा मिस्त्र, बेबीलोन व चीन की राज्य प्रणाली में इस

सिद्धान्त का प्रयोग होता था। रोमन साम्राज्य काल में इस धारणा का ह्रास दिखायी देता है। यह स्पष्ट है कि 15वीं शताब्दी के पूर्व यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सचेत सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित नहीं था। इसका वास्तविक प्रारम्भ 15वीं शताब्दी से स्वीकार किया जाता है, जब इटली में यह प्रचलन में आया।

आधुनिक शक्ति संतुलन व्यवस्था राष्ट्र-राज्य व्यवस्था के उदय विकास और विस्तार से जुड़ी है। जैसे-जैसे यूरोप में नये राज्य अस्तित्व में आये। शक्ति संतुलन यूरोपीय राज्य व्यवस्था की कूटनीति के मूलभूत सिद्धान्त के ऊप में प्रतिष्ठित हुआ।

वेस्टफेलिया संधि (1648) और फ्रांसीसी क्रान्ति (1789) के मध्य के काल को क्लासिकी अथवा परम्परागत शक्ति संतुलन का पहला स्वर्णिम काल कहा जाता है। रेमंड आरों, स्टेनली हॉफमैन तथा मॉरगेन्थाऊ के दृष्टिकोण में परम्परागत शक्ति संतुलन एक विशिष्ट अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक वातावरण में विकसित हुआ। इस काल में धार्मिक संघर्षों को कम महत्व दिया गया, वाणिकवाद के स्थान पर स्वतंत्र व्यापार, और निरंकुश राजतंत्र के स्थान पर लोकप्रिय सम्प्रभुता पर बल दिया गया। इस युग का प्रधान लक्षण यूरोपीय राज्यों के शासक वर्ग में पाये जाने वाली समानतायें तथा उनके राज्यों के बीच राजनीतिक और आर्थिक सजातीयता थीं। इन शासकों के द्वारा दीर्घ युद्धों की उपेक्षा की गयी क्योंकि उससे उनके हितों को क्षति पहुँचने की संभावना थी।

फ्रांस की क्रान्ति ने परम्परागत शक्ति संतुलन को अस्थिर बनाया। नेपोलियन की साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा परम्परागत शक्ति संतुलन के उस केन्द्रीय नियम के विरूद्ध थी, जिसके अन्तर्गत युद्धों को सीमित रखने तथा किसी भी बड़े राज्य द्वारा वर्चस्व स्थापित न करने पर बल दिया गया था।

नेपोलियन ने स्पेन, इटली, स्विटजरलैंड, स्वीडन, पोलैंड और जर्मनी को पराजित करके, यूरोप को झकझोर दिया था। उसे पराजित करने के लिए यूरोपीय राज्यों द्वारा तीन गठबन्धन बनाये गये, परन्तु तीनों ही असफल रहे। अंत में 1814 में सम्पन्न चामौ की संधि द्वारा चौथा गठबन्धन तैयार हुआ जिसमें ऑस्ट्रिया, प्रशा, रूस और ब्रिटेन सम्मिलिति थे। नेपोलियन को पराजित करने के पश्चात् कांग्रेस ऑफ विएना (1814-1815) का आयोजन किया गया, जिसका उद्देश्य शक्ति संतुलन को पुनः स्थापित करना था। ऑस्ट्रिया के मैटरनी और रूस के ज़ार एलेक्जेंडर के कूटनीतिक नेतृत्व में शक्ति संतुलन के एक नवीन युग का सूत्रपात हुआ, जो प्रथम विश्व युद्ध प्रारम्भ होने तक बना रहा।

1815 से 1914 के काल को शक्ति संतुलन का दूसरा स्वर्णिम युग कहा गया है। इस काल में तत्कालीन बड़ी शक्तियाँ, यथा, ब्रिटेन, फ्रांस, रूस, प्रशा और ऑस्ट्रिया पुनः एक स्थिर एवं वैचारिक रूप से सजातीय अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की ओर मुड़ीं। 1854 में इस व्यवस्था का यूरोप के परे विस्तार हुआ, जब फ्रांस, ब्रिटेन और ऑस्ट्रिया ने रूस के विरूद्ध समूहबद्ध होकर घोषणा की कि ऑटोमन साम्राज्य का अस्तित्व यूरोपीय राज्यों के बीच शक्ति संतुलन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण था। इस घोषणा के बाद क्रीमिया का युद्ध (1854) हुआ। कांग्रेस ऑफ बर्लिन (1878) बाल्कन प्रदेश में किसी एक सत्ता के वर्चस्व की रोकथाम का एक अन्य प्रयास थी। परन्तु 1870 के दशक के प्रारम्भ में विएना की व्यवस्था नवीन और चुनौतीपूर्ण ताकतों, जैसे, आम राष्ट्रवाद के उदय, साम्राज्यिक सेनाओं के आर्विभाव, शासी अभिजन वर्ग के हितों में अन्तर में वद्धि आदि से प्रभावित होने लगी।

इसके अतिरिक्त 20वीं शताब्दी में फ़ासीवादी, नाज़ीवादी, साम्यवादी एवं स्वतन्त्र व्यापार की विचारधाराओं के विकास ने भी शक्ति संतुलन व्यवस्था को प्रभावित किया। इन विचारधाराओं के पोषक राज्यों में अपनी विचारधारा को श्रेष्ठ और स्वीकार्य बनाने का दुराग्रह था, ऐसे में राज्यों के बीच प्रतिस्पर्धायें नियंत्रित न रह सकीं और न हीं युद्ध सीमित प्रकृति के रह सके। हितों का समझौता और समायोजन जो शक्ति संतुलन व्यवस्था के प्रमाण चिन्ह हैं; क्षीण होने लगे।

20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में यूरोपीय राज्य दो गुट में बँट गये। एक ओर 1882 में गठित त्रिराष्ट्रीय संश्रय था और दूसरी ओर उसकी प्रतिक्रियास्वरूप निर्मित त्रिराष्ट्रीय आतांत था। दोनों के बीच के सीधे विरोध ने बाल्कन क्षेत्र के नम्र संतुलन में विघ्न डाला और प्रथम विश्वयुद्ध का कारण बना। शक्ति संतुलन की नीति प्रथम विश्व युद्धोपरान्त स्थापित राष्ट्र संघ की सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था से सैद्धान्तिक रूप से असंगत थी, परन्तु अन्ततः उस पर भारी पड़ी। अन्तर-युद्ध काल में विभिन्न संश्रयों और प्रतिसंश्रयों का निर्माण हुआ और 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारम्भ हुआ।

उपरोक्त विचारधाराओं और दो विश्व युद्धों के अतिरिक्त शीत युद्ध ने भी शक्ति संतुलन व्यवस्था को अस्थिर बनाया। शीत यद्धकालीन द्विध्रुवीकरण वास्तव में शक्ति संतुलन का सर्वाधिक अस्थिर प्रकार था। आणविक शस्त्रों की विनाशकता ने शीत युद्ध संघर्ष को विश्व-व्यापी आणविक युद्ध की दहलीज पार नहीं करने दी।

वास्तव में द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् की परिस्थितियाँ शक्ति संतुलन सिद्धान्त के अनुकूल नहीं थीं। यह सिद्धान्त जिन मान्यताओं पर आधारित है तथा इसके क्रियान्वयन के लिये जो पूर्वापेक्षायें आवश्यक हैं, वे द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर काल में संतुष्ट नहीं हो सकी। इस सम्बन्ध में चर्चा अगले अध्याय में की जायेगी।

शीतयुद्ध की समाप्ति और सोवियत संघ के विघटन के पश्चात् द्विध्रुवीय विश्वव्यवस्था का अन्त हो गया है। शीत युद्धोत्तर काल में अमेरिका को एकमात्र सैनिक, आर्थिक, प्रौद्योगिकीय एवं कूटनीतिक महाशक्ति के रूप में मान्यता प्राप्त है और इसी आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय-व्यवस्था को एकध्रुवीय भी कहा जाता है। परन्तु वर्तमान विश्व में शक्ति के अनेक केन्द्र देखे जा सकते हैं, जैसे जापान, जर्मनी, चीन, भारत आदि। वर्तमान व्यवस्था को बहुध्रुवीय तो नहीं, परन्तु बहुकेंद्रिक अवश्य कहा जा सकता है। इस प्रकार यूराकेन्द्रिक और द्विध्रुवीय व्यवस्थाओं के पश्चात् विश्व, बहुकेंद्रिकता की ओर अग्रसर है। यही कारण है कि शक्ति संतुलन की अवधारणा को राज्यों द्वारा त्यागा नहीं गया है, भले ही उसके अनुकूल परिस्थितियों का अभाव हो और उसकी प्रासंगिकता पर प्रश्नचिन्ह लगता हो। सम्भवतः यह अवधारणा तब तक रहेगी जब तक राज्य व्यवस्था रहेगी और राज्यों में अपना प्रभुत्व स्थापित करने की महत्वाकांक्षा रहेगी।

7.6 वर्तमान विश्व में शक्ति संतुलन की प्रासंगिकता

वर्तमान विश्व में शक्ति संतुलन की सार्थकता और प्रासंगिकता पर विद्वानों में मतभेद है। कुछ विचारकों का मत है कि शक्ति संतुलन जिन मान्यताओं पर आधारित है अथवा उसके लिये जो दशायें आवश्यक हैं, वे आज नहीं है, फलतः वह वर्तमान समय में लागू नहीं हो सकता। दूसरी ओर अनेक विद्वान ऐसे भी हैं, जो शक्ति पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के लिये शक्ति संतुलन के सिद्धान्त को अनिवार्य मानते हुए, उसे सार्थक बताते हैं।

यदि द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् की परिस्थितियों में क्लासिकी शक्ति संतुलन के सिद्धान्त की वैधता का परीक्षण किया जाये, तो ज्ञात होता है कि निम्न अनुपयुक्त दशायें बदली हुयी परिस्थितियों में शक्ति संतुलन को प्रभावी ढंग से कार्य करने से रोकती हैं·

शक्ति संतुलन के सिद्धान्त में शक्ति के वितरण पर बल दिया जाता है। यह व्यवस्था तब लागू हुयी जब यूरोप में समान शक्ति वाले अनेक राज्य थे। परन्तु द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् अनेक राज्यों में शक्ति के वितरण के स्थान पर दो राज्यों-अमेरिका और भूतपूर्व सोवियत संघ-में शक्ति का केन्द्रीकरण हुआ। शक्ति का अति केन्द्रीकरण संतुलन की राजनीति की सम्भावना का निषेध करता है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है शक्ति संतुलन व्यवस्था में बड़ी शक्तियाँ तो अनेक हो सकती हैं, परन्तु महाशक्तियाँ नहीं। यदि महाशक्तियाँ होंगी तो व्यवस्था भंग हो जायेगें । इसके अतिरिक्त महाशक्तियों के उदय और उनके बीच शीत युद्ध के फलस्वरूप जन्में द्विध्रुवीकरण ने भी शक्ति संतुलन को प्रभावित किया। द्विध्रुवीय व्यवस्था में विश्व के सभी बड़े-बड़े राज्य एक न एक गुट से सम्बद्ध हो गये और ऐसा कोई एक शक्तिशाली राज्य नहीं रहा जो इधर से उधर संतुलन को ठीक कर दे। द्विध्रुवीकरण की स्थिति तथा संतुलनकर्ता के अभाव में शक्ति संतुलन प्रभाव। रूप से कार्य नहीं कर सका।

इसके अतिरिक्त राज्यों की आपसी शक्ति में अन्तर बढ़ा है, बड़े राज्य अधिक शक्तिशाली होते गये और छोटे राज्य कमजोर। शक्ति संतुलन सिद्धान्त की यह मान्यता कि संकट के अवसरों पर शक्तिशाली राज्य निर्बल राज्यों के साथ और निर्बल राज्य शक्तिशाली राज्यों के साथ सहसंबद्ध हों व सहयोग करें, वर्तमान समय में खरी नहीं उतरती।

शक्ति संतुलन व्यवस्था संश्रय बनाने, उन्हें कायम रखने तथा उनको तोड़ने की राजनीति पर आधारित है। संश्रय वह प्राथमिक साधन हैं जिनके माध्यम से प्रत्येक पक्ष अपनी शक्ति में वर्धन कर सकता है तथा जिनके माध्यम से संतुलन बना रहता है। दो या तीन शक्तिशाली राज्यों के होने पर संश्रय बनाने और तोड़ने की सम्भावना बनी रहती है। परन्तु द्वितीय विश्व युद्ध के बाद शक्ति के केन्द्रीकरण तथा द्विध्रुवीय राजनीति के अन्तर्गत, संश्रय निर्माण और विघटन की पूर्व स्वतंत्रता नहीं रह सकी।

वास्तव में लचीले संश्रयों की राजनीति, जिसका शक्ति संतुलन में केन्द्रीय महत्व है, का पालन राष्ट्रीय सरकारों द्वारा नहीं हो सका क्योंकि वे वैचारिक कारकों और जनमत से प्रतिबंधित होती हैं। राष्ट्रवादी और वैचारिक आधारों के बढ़ते महत्व के कारण भी शक्ति संतुलन सुचारू रूप से कार्य नहीं कर सका, क्योंकि राज्यों की विदेश नीति पर विचारधारा का गहरा प्रभाव पड़ता है।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद की ध्रुवीय व्यवस्था में प्रत्येक महाशक्ति द्वारा सैन्य प्रौद्योगिकी को उन्नत बनाने और उसके नवीकरण को, संतुलन स्थापित करने का अधिक महत्वपूर्ण साधन माना गया, बजाय मित्र राष्ट्रों की खोज को। 18वीं शताब्दी में जब सभी राज्य पुरातन प्रौद्योगिकी पर आधारित सैन्य बल से सम्पन्न थे, तब साथी-राज्यों या मित्रों की संख्या और गुणवत्ता शक्ति संतुलन की दृष्टि से महत्वपूर्ण थी, परन्तु द्वितीय विश्व युद्धोपरान्त महाशक्तियों ने आणविक शस्त्र क्षमता के विकास पर अधिक बल दिया और एकपक्षीय कार्यवाहियों के माध्यम से संतुलन के प्रत्यस्थापन का प्रयास किया। यद्यपि उनके मित्रों ने महत्वपूर्ण सामरिक भूमिका निभायी, परन्तु वह नहीं, जो परम्परागत शक्ति संतुलन व्यवस्था में मित्र राज्यों द्वारा निभायी गयी थी।

आणविक शस्त्रो ने शक्ति संतलन की परम्परागत मान्यताओं को समाप्त कर दिया है।

शक्ति संतुलन व्यवस्था सुचारू रूप से कार्य करने हेतु युद्ध को एक महत्वपूर्ण साधन मानती है तथा इस मान्यता पर आधारित है कि असीमित युद्ध की रोकथाम के लिए सीमित युद्ध करने के लिए राज्यों को तत्पर होना चाहिये। आधुनिक युद्ध के हिंसक, खर्चीले और विनाशक स्वरूप के कारण राज्य, संतुलन को ठीक करने के लिये विश्वव्यापी संघर्ष को आमंत्रण देने का साहस नहीं कर पाते हैं। अतः युद्ध की सीमित उपयोगिता रह गयी है।

शक्ति संतुलन व्यवस्था में शक्ति का अभिप्राय प्रदेशों को जीतने और उन पर कब्जा बनाये रखने की क्षमता से था, अथवा प्रतिरक्षा की क्षमता से। आणविक शक्ति एक नितांत भिन्न उद्देश्य, निवारण, के लिए होती है। निवारण की क्षमता अणु आयुधों की एक विशिष्ट संख्या को उपलब्ध करके प्राप्त की जा सकती है। ऐसे में अधिकाधिक शस्त्रों की प्राप्ति या मित्रों की आवश्यकता, राज्यों की शक्ति को उन्नत नहीं बनाती है।

आणविक शस्त्रों के संदर्भ में यह कहना भी उचित होगा कि महाशक्तियों के अणुशक्ति सम्पन्न होने के कारण, एक की आणविक शक्ति दूसरे की आणविक शक्ति को संतुलित करती है और उनकी प्रभावी शक्ति शून्य रह जाती है। जॉन हर्ज के मतानुसार 'परम शक्ति परम नपुंसकता या शक्ति विहीता के समतुल्य है।'

इसी सम्बन्ध में एक और महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि शक्ति संतुलन व्यवस्था में छोटे राज्यों के मध्य झगड़ों को, प्रधान राज्यों द्वारा संतुलन के संरक्षण के लिए बहुधा अनदेखा किया जाता था। जैसा कि पोलैंड के विभाजन से स्पष्ट है, छोटे राज्यों के हितों को बड़ी शक्तियों की तुल्यभारिता बनाये रखने के लिए बलिदान कर दिया जाता था। परन्तु द्वितीय विश्व युद्ध के बाद कोरिया, विएतनाम और अन्य कई राज्यों ने यह दिखा दिया कि वे विभाजन के लिए सरलता से सहमत नहीं होंगे। साथ ही परिष्कृत सैन्य प्रौद्योगिकी के दृष्टिगत बड़े राज्य उन पर कोई समाधान थोपने का भी साहस नहीं कर सकते हैं।

इसके अतिरिक्त परम्परागत शक्ति संतुलन व्यवस्था में राज्य प्रधान कर्ता थे, परन्तु आज गैर सरकारी कर्ता, जैसे अन्तर्राष्ट्रीय रेडक्रॉस, बहुराष्ट्रीय निगम, आतंकवादी संगठन, संगठित आपराधिक गुट आदि भी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सक्रिय हैं।

संयुक्त राष्ट्र और सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था ने भी शक्ति संतुलन को कम प्रभावकारी बनाया है। इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा इकाई 3 में की जायेगी।

समकालीन विश्व में राज्यों की आर्थिक अन्योन्याश्रिता, परस्पर आर्थिक सहयोग की बढ़ती मांग और आर्थिक एकीकरण की प्रवृत्ति ने भी शक्ति संतुलन के सिद्धान्त, नीति और व्यवस्था को अर्थपूर्ण ढंग से प्रभावित किया है।

उपरोक्त अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद की वैश्विक स्थितियाँ शक्ति संतुलन सिद्धान्त के लिए उपर्युक्त दशायें प्रस्तुत नही कर पायीं। यद्यपि महाशक्तियों ने परस्पर संतुलन की नीति का अनुसरण किया, परन्तु वह संतुलन, शक्ति संतुलन न होकर आतंक का संतुलन था, जो उनकी आणविक क्षमता का परिणाम था, और परस्पर सुनिश्चित विनाश पर आधारित था।

7.7 शक्ति संतुलन सिद्धान्त की आलोचना

राज्यों के बीच सम्बन्धों का नियमन करने के सिद्धान्त के रूप में शक्ति संतुलन सिद्धान्त की निम्न आधार पर आलोचना की जा सकती है;

1. शक्ति का आशय मूर्त एवं अमूर्त दोनों कारकों से है, अतः किसी राज्य की शक्ति का अनुमान लगाना कठिन होता है, क्योंकि शक्ति संतुलन शक्ति के अमूर्त तत्वो, जैसे, राष्ट्रीय मनोबल, राष्ट्रीय चरित्र आदि को यथेष्ट महत्व नहीं देता है। राज्यों की सापेक्ष शक्ति की माप और तुलना की कोई परिणात्मक कसौटी नहीं है।

2. शक्ति संतुलन से शक्ति की साम्यावस्था या तुल्यभारिता का अभिप्राय होता है, परन्तु वास्तव में राज्य शक्ति संतुलन का लक्ष्य न रखते हुए शक्ति की उत्कृष्टता या अधिकता पर बल देते हैं।

3. 'संतुलन' एक अस्पष्ट शब्द है तथा विभिन्न अर्थों की ओर संकेत करने के लिए प्रयोग किया जाता है, यथा, शक्ति का वितरण, शक्ति की साम्यावस्था, शक्ति की प्रबलता या प्रचुरता आदि। अतः इसकी विविध व्याख्यायें की जा सकती हैं।

4. यह महत्वपूर्ण है, कि सभी राज्य शक्ति वर्धन में संलग्न नहीं होते हैं। उनके राष्ट्रीय हित अवश्य होते हैं, परन्तु उनका यह विश्वास होता है कि वे उन्हें शक्ति को महत्तम बनाने के उपायों के अतिरिक्त अन्य तरीकों से भी प्राप्त कर सकते हैं।

5. राज्य आर्थिक और सामाजिक क्रान्तियों के परिणामस्वरूप भीतर से बदल सकते हैं और इस प्रकार के परिवर्तन का पारम्परिक शक्ति संतुलन साधनों से पूर्णतः प्रतिकार नहीं किया जा सकता है।

6. राज्यों के समूह में किसी एक राज्य के हाथ में शक्ति की प्रचुरता होने से आवश्यक नहीं कि विश्व शान्ति को निश्चित रूप से खतरा पहुँचेगा। वास्तव में यूरोप में शान्ति की शताब्दी (1815-1914), ब्रिटिश और फ्रांसीसी प्राधान्य का युग थी।

7. ऐसा निश्चित तौर पर नहीं कहा जा सकता है कि शक्ति संतुलन शान्ति की स्थापना करता है। युद्ध इस व्यवस्था में केन्द्रीय भूमिका निभाता है, और या तो संतुलन को पुनर्स्थापित करने का अथवा उसे पुनर्व्यवस्थित करने का कार्य करता है। अतः क्रिया-प्रतिक्रिया, चुनौती, अनुक्रिया, संशोधनवाद, यथास्थिति, संतुष्ट-असंतुष्ट जैसे प्रमुख विचार इस व्यवस्था से जुड़े हैं। संक्षेप में, यथास्थिति के समर्थक और संशोधनवादी राज्यों के बीच युद्ध की संभावना बनी रहती है। यह व्यवस्था जन्मजात अस्थिर है।

उपरोक्त आलोचना के उपरान्त भी इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि शक्ति संतुलन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक महत्वपूर्ण घटक अथवा मूलतत्व है, क्योंकि यह विश्व रणभूमि पर एक राज्य की मूलभूत चिंता, उसके अस्तित्व के संरक्षण अथवा उसकी अतिजीविता की समस्या को सम्बोधित करता है।

7.8 सारांश

अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की अराजक संरचना के दृष्टिगत राज्य अपनी सुरक्षा और अतिजीविता को वरीयता देते हैं। राजमर्मज्ञों का यह लक्ष्य रहा है कि राज्यों के बीच शक्ति का वितरण इस प्रकार होना चाहिये कि कोई भी राज्य अन्य किसी राज्य को खतरा पहुँचाने में सक्षम न हो। यदि कोई राज्य या राज्यों का समूह अन्य राज्य या राज्यों को खतरा पहुँचाने के प्रयोजन से अपनी शक्ति का वर्धन

करता है, तो अन्य राज्यों का हित, अधिकार और कर्तव्य इसमें निहित है कि वे संगठित होकर बल प्रयोग अथवा उसकी धमकी द्वारा, महवाकांक्षी राज्य को ऐसा करने से रोकें और शक्ति के वितरण का प्रत्यास्थापन करें। बहुराज्य व्यवस्था में शक्ति के वितरण द्वारा राज्यों के बीच संतुलन की व्यवस्था या नीति को शक्ति संतुलन कहते हैं।

यद्यपि शक्ति संतुल का विचार पुराना है और इसके सन्दर्भ प्राचीन यूनानी साहित्य, चीनी राजनीतिक विश्लेषण तथा कौटिल्य के ग्रन्थों में पाये जाते हैं, परन्तु कूटनीति के संचालन के एक औपचारिक सिद्धान्त के रूप में शक्ति संतुलन 17वीं एवं 18वीं शताब्दी में विकसित हुआ। उत्रेख्त की संधि (1717) द्वारा इसे विशेष मान्यता प्रदान की गयी और तब से लेकर आज तक यह कूटनीतिक शब्दावली और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक लेखन में विद्यमान है।

शक्ति संतुलन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की एक केन्द्रीय अवधारणा है, फिर भी इसका कोई सुनिश्चित अर्थ नहीं है। इसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की एक स्थिति, प्रक्रिया, नीति और प्राणाली के रूप में परिभाषित किया गया है। एक नीति के रूप में यह किसी एक राज्य के वर्चस्व को समाप्त करने का संकल्पित प्रयास है, और प्रणाली के रूप में ऐसी व्यवस्था जिसके अन्तर्गत राज्यों के द्वारा परस्पर क्रिया का लक्ष्य प्रभुत्व स्थापित करना न होकर, सामान्य संतुलन प्राप्त करना होता है। 16वीं शताब्दी से 20 वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक यूरोप के सम्बन्ध में ब्रिटेन की नीति शक्ति संतुलन की नीति का उदाहरण है, जबकि 1648 से 1789 तथा पुनः 1815 से 1914 तक यूरोपीय राज्य व्यवस्था अपने आप में शक्ति संतुलन व्यवस्था का उदाहरण है।

वस्तुतः शक्ति संतुलन व्यवस्था राष्ट्र-राज्य व्यवस्था के उदय, विकास और विस्तार से जुड़ी है। वेस्टफेलिया की संधि (1648) और फ्रांस की क्रान्ति (1789) के मध्यकाल को शक्ति संतुलन का प्रथम स्वर्णिम युग और 1815 से 1914 के काल को द्वितीय स्वर्णिम युग कहा जाता है।

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् हुये परिवर्तनों एवं नयी स्थितियों, जैसे, राष्ट्रवाद, लोकतंत्र, आणविक शस्त्र निर्माण, युद्ध की नवीन प्रणाली, दो महाशक्तियों में शक्ति का केन्द्रीकरण, द्विध्रुवीकरण, अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों एवं अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विकास, विशेषकर संयुक्त राष्ट्र की स्थापना तथा उसके अन्तर्गत सामूहिक सुरक्षा की विस्तृत व्यवस्था, तथा आर्थिक अन्योन्याश्रिता आदि शक्ति संतुलन के अनुकूल नहीं थी और उन्होनें उसके अनुपालन को कठिन बनाया। यही कारण है कि वर्तमान विश्व में शक्ति संतुलन सिद्धान्त की प्रासंगिकता पर प्रश्नचिन्ह लगता रहा है। निःसंदेह वर्तमान परिस्थितियाँ शक्ति संतुलन को प्रभावी ढंग से कार्य करने से रोकती है। परन्तु यह भी सत्य है कि जब तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति राज्य प्रणाली पर आधारित रहेगी और राज्य शक्ति संघर्ष में लिप्त रहेंगे, शक्ति संतुलन उसका अनिवार्य तत्व रहेगा, चाहे सैद्धान्तिक रूप से उसमें कितनी ही कमियाँ क्यों न हों। अंत में यह कहा जा सकता है कि शक्ति संतुलन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सारभूत सिद्धान्त है, भले ही इसने वैश्विक वैधता खो दी हो, परन्तु यह आज भी क्षेत्रीय राजनीति और स्थानीय युद्धों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

7.9 सन्दर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

1. Gilpin, R., War and Change in World Politics, Cambridge University Press,

Cambridge, 1981.

2. Organski, A.F.K. World Politics, Knopf, New York, 1968.

3. Organski, A.F.K, and Kugler, J., The War Ledger, University of Chicago Press, Chicago, 1980.

4. Sanders, Bruce. L. and Durbin Alan. C., Contemporary International Politics: Introductory Readings, John Wiley and sons, Inc., 1971.

7.10 सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. शक्ति संतुलन का अर्थ एवं विशेषतायें स्पष्ट कीजिये।
2. शक्ति संतुलन सिद्धान्त की अन्तर्हित मान्यताओं का वर्णन कीजिये।
3. शक्ति संतुलन स्थापित करने के विभिन्न साधनों का उल्लेख कीजिये।
4. शक्ति संतुलन सिद्धान्त के ऐतिहासिक विकास का विवरण दीजिये।
5. वर्तमान विश्व में शक्ति संतुलन सिद्धान्त की प्रासंगिकता का परीक्षण कीजिये।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. शक्ति संतुलन का क्या अर्थ है?
2. शक्ति संतुलन ने कौन से तीन सकारात्मक कार्य किये है?
3. शक्ति संतुलन के स्वर्णिम युग से आप क्या समझते हैं?
4. संतुलनकर्ता का अभिप्राय बताइये।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. शक्ति संतुलन का अभिप्राय है:

   (क) शक्ति का केन्द्रीकरण

   (ख) शक्ति का उन्मूलन

   (ग) शक्ति का वितरण

   (घ) शक्ति का स्थानान्तरण

2. शक्ति संतुलन व्यवस्था में:

   (क) बड़ी शक्तियाँ अनेक हो सकती है, परन्तु महाशक्तियाँ नहीं

   (ख) महाशक्तियाँ अनेक हो सकती हैं, परन्तु बड़ी शक्तियाँ नहीं

   (ग) दो महाशक्तियाँ और अनेक बड़ी शक्तियाँ हो सकती है।

   (घ) दो महाशक्तियाँ और दो बड़ी शक्तियाँ हो सकती हैं।

3. निम्न में से कौन शक्ति संतुलन स्थापित करने का साधन नहीं है:

   (क) मैत्री संधि

(ख) विश्व सरकार

(ग) हस्तक्षेप

(घ) क्षतिपूर्ति

4. शक्ति संतुलन का स्वर्णिम युग है:

(क) 1648-1658

(ख) 1648-1815

(ग) 1648-1879

(घ) 1648-1789

1.11 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तरः-

1. (ग)

2. (क)

3. (ख)

4. (घ)

इकाई-8 सामूहिक सुरक्षा

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 सामूहिक सुरक्षा का अर्थ एवं परिभाषा

8.3 सामूहिक सुरक्षा की अपेक्षायें

8.4 सामूहिक सुरक्षा एवं शक्ति सन्तुलन

8.5 सामूहिक सुरक्षा एवं सामूहिक रक्षा

8.6 राष्ट्र संघ के अन्तर्गत सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था

8.7 संयुक्त राष्ट्र के अन्तर्गत सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था

8.8 सारांश

8.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

8.10 सम्बन्धित प्रश्न

8.11 प्रश्नोत्तर।

8.0 उद्देश्य

सामूहिक सुरक्षा शान्ति प्राप्ति का बहुचर्चित उपागम है और आधुनिक संगठनात्मक उद्यमों, विशेषतः राष्ट्रसंघ एवं संयुक्त राष्ट्र की प्रेरणा शक्ति रहा है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप:

- सामूहिक सुरक्षा के सैद्धान्तिक एवं व्यवहारपरक पक्षों की बोधगम्य विवेचना कर सकेंगे।
- सामूहिक सुरक्षा के अर्थ, अपेक्षाओं एवं सांस्थानिकरण का अध्ययन कर सकेंगे।

8.1 प्रस्तावना

सम्प्रभु राज्य व्यवस्था में केन्द्रीय सत्ता एवं केन्द्रीकृत बल के अभाव में राज्यों के मध्य, परस्पर-विरोधी हितों की पूर्ति के लिये होने वाला, अमर्यादित शक्ति संघर्ष, अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता को जन्म देता है। अराजकतापूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की समस्या का निदान विश्व सरकार के गठन में निहित हैं, क्योंकि विश्व सरकार केन्द्रीय सत्ता के रूप में कानून एवं व्यवस्था की स्थापना करके, राज्यों के मध्य शक्ति स्पर्द्धा को प्रभावी ढंग से नियन्त्रित करने में सक्षम होगी। परन्तु राज्यों की सम्प्रभुता के प्रति संवेदनशीलता को देखते हुए ऐसा सम्भव प्रतीत नहीं होता है कि वे अपनी सम्प्रभुता का परित्याग कर, विश्व सरकार का गठन करने के लिए सहमत होंगे। एक ओर अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता अनिवार्य है, परन्तु वांछित नहीं, और दूसरी ओर विश्व सरकार वांछनीय है, परन्तु सम्भव नहीं। इन दो वास्तविकताओं के बीच सामूहिक सुरक्षा, अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता को कम करने तथा राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा की समस्या का समाधान करने की, एक महत्त्वपूर्ण व्यवस्था है। यह अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के माध्यम से आक्रमणकारी के अतिरिक्त शेष सभी राज्यों द्वारा शक्ति की

रक्षा के लिये सामूहिक कार्यवाही की व्यवस्था है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत राज्यों की सम्प्रभुता अक्षुण्ण रहती है, वे अन्य राज्यों पर आक्रमण न करने, तथा आक्रमणकारी के विरुद्ध सामूहिक कार्यवाही में सम्मिलित होने की वचनबद्धता देकर अपनी सम्प्रभुता पर ऐच्छिक रूप से कुछ प्रतिबन्धों को स्वीकार करते हैं।

8.2 सामूहिक सुरक्षा का अर्थ एवं परिभाषा

सामूहिक सुरक्षा के दो अभिप्राय है, प्रथम, एक निश्चित अवधारणा तथा द्वितीय, एक विशिष्ट व्यवस्था। यद्यपि सामूहिक सुरक्षा का विचार पुराना माना जाता है, तथापि उसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की एक महत्त्वपूर्ण अवधारणा के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति वुडरो विल्सन को दिया जाता है। व्यवस्था के रूप में सामूहिक सुरक्षा की संस्थागत अभिव्यक्ति सर्वप्रथम राष्ट्रसंघ और तत्पश्चात संयुक्त राष्ट्र में देखी जा सकती है।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर शक्ति के विकेन्द्रीकरण के परिणामस्वरूप, सुरक्षा, राज्यों की मूलभूत आवश्यकता भी है और समस्या भी। इस आवश्यकता की पूर्ति और समस्या के निदान हेतु राज्यों द्वारा दो प्रकार की नीतियों का अनुसरण किया गया है, पहली, निःसंगतावादी और दूसरी, सहयोगी। सहयोगी नीति का तात्पर्य सामूहिक उपायों व संयुक्त कार्यवाहियों द्वारा राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा के लक्ष्य की प्राप्ति करना है। इसके अन्तर्गत राज्य सामूहिक रूप से संगठित होकर किसी सम्भावित आक्रमण का विरोध करने के लिए कृतसंकल्प होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के माध्यम से सुरक्षा प्राप्ति के उद्देश्य से अपनायी जाने वाली सहयोगी नीति को सामूहिक सुरक्षा कहा जाता है।

सामूहिक सुरक्षा इस सिद्धान्त पर आधारित है कि आक्रमण का निवारण करने की सर्वाधिक प्रभावी शक्ति वह है, जिसमें आक्रमणकारी को उन राज्यों की सहयोजित शक्ति का सामना करना होता है, जो आक्रमण को रोकने व विफल करने तथा शक्ति की स्थापना के लिये प्रतिबद्ध होते हैं। आक्रमणकारी के अतिरिक्त शेष सब राज्यों के बीच सहयोग सामूहिक सुरक्षा का सार तत्त्व है।

जॉर्ज श्वार्जनबर्गर ने सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था को ''अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के विरुद्ध आक्रमण रोकने अथवा उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया करने के लिये किये गये संयुक्त कार्यों का यंत्र'' कहा है।

सामूहिक सुरक्षा की परिभाषा देते हुए मॉरगेन्थाऊ का कहना है ''सामूहिक सुरक्षा की सक्रिय प्रणाली में सुरक्षा की समस्या अब व्यक्तिगत राष्ट्र का समुत्थान नहीं, जिसका ख्याल शस्त्रों और राष्ट्रीय शक्ति के दूसरे तत्त्वों से किया जाये। सुरक्षा का सम्बन्ध सब राष्ट्रों से है, वे प्रत्येक की सुरक्षा का ख्याल सामूहिक रूप में करेंगे, जैसे उनकी अपनी ही सुरक्षा खतरे में हो। यदि 'अ', 'ब' की सुरक्षा के लिए खतरा सिद्ध होता है, तो 'स', 'द', 'ब' की ओर 'अ' के विरुद्ध कदम उठायेंगे, मानों 'अ' ने उनको और 'ब' को चुनौती दी हो और ऐसा इसके विपरीत भी। एक सब के लिए और सब एक के लिए सामूहिक सुरक्षा का मूलमन्त्र है।''

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि सामूहिक सुरक्षा इस मूलभूत सिद्धान्त पर आधारित हैं कि किसी राज्य विशेष की सुरक्षा, मात्र उसकी निजी चिन्ता का विषय नहीं, बल्कि समस्त अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय की चिन्ता का विषय है। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए यह आवश्यक है कि राज्य सामूहिक कार्यवाही के माध्यम से परस्पर सुरक्षा की गारण्टी लें और दें तथा एक राज्य पर हुये आक्रमण को सभी राज्यों पर आक्रमण माने। आक्रमणकारी कोई भी हो सबका शत्रु समझा जाये और

आक्रान्ता कोई भी हो सबका मित्र समझा जाये।

यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि राज्यों की सभी सामूहिक कार्यवाहियाँ, सामूहिक सुरक्षा नहीं कहलाती हैं। सामूहिक सुरक्षा का अर्थ एक विशिष्ट सन्धि पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के माध्यम से, आक्रमणकारी राज्य के विरुद्ध शान्ति की रक्षा के लिए की जाने वाली सामूहिक बाध्यकारी कार्यवाही है। सामूहिक सुरक्षा का औचित्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के सन्दर्भ में हैं।

सामूहिक सुरक्षा वह व्यवस्था है, जिसके अन्तर्गत राज्य किसी ऐसी सन्धि के आधार पर सहयोग करते हैं, जिसमें निम्न दो प्रतिबद्धताओं का विशेष रूप से उल्लेख किया जाता है :

1. हस्ताक्षरकर्त्ताओं द्वारा परस्पर विवादों के समाधान में बल प्रयोग का परित्याग,
2. उपरोक्त नियम को भंग करने वाले राज्य के विरुद्ध बल प्रयोग की प्रतिज्ञा।

एक ओर यह व्यवस्था राज्यों को यह आश्वासन देकर कि यदि कोई अन्य राज्य उनके विरुद्ध बल का अवैधानिक या आक्रामक प्रयोग करेगा, तो वे सहायता से वंचित नहीं रहेंगे, उन्हें बल प्रयोग को त्यागने का दायित्व सौंपती है, और दूसरी ओर ऐसे राज्य के विरुद्ध, जो ऐसा नहीं करता है, बल प्रयोग द्वारा सामूहिक रूप से दंड देने की घोषणा करती है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत राज्यों का दायित्व केवल अन्य राज्यों पर आक्रमण न करने तक सीमित नहीं है, बल्कि इस बात की भी मांग करता है कि वे आक्रमणकारी राज्य के विरुद्ध सामूहिक कार्यवाही में सम्मिलित हों और आक्रान्ता राज्य को हर सम्भव सुरक्षा व सहायता प्रदान करें। इस प्रकार यह व्यवस्था सम्प्रभु राज्यों के परम्परागत अधिकारों का अतिलंघन करती है तथा किसी प्रकार की तटस्थता या निःसंगता की अनुमति नहीं देती है।

सामूहिक सुरक्षा का उद्देश्य आक्रमणकारी को राज्यों के दुर्दमनीय संघ की सम्भावना से भयोपरत करने तथा यदि निवारण असफल हो जाये, तो उसे संघ द्वारा प्रतिज्ञाबद्ध रूप से की गयी सैन्य कार्यवाही से पराजित करना है। इस बात को समझ कर कि उसके विरुद्ध प्रयुक्त होने वाली सामूहिक शक्ति, उसकी अपनी शक्ति से कहीं अधिक है, आक्रमणकारी राज्य या तो युद्ध का विचार त्याग देगा और यदि वह ऐसा नहीं करता है, तो युद्ध में उसे निश्चित रूप से पराजय का सामना करना होगा। इस दृष्टि से सामूहिक सुरक्षा, युद्ध की रोकथाम और उपचार, दोनों, की व्यवस्था है।

सामूहिक सुरक्षा दो मान्यताओं पर आधारित है, पहली, राज्यों के मध्य युद्ध अनिवार्य है और उसकी रोकथाम होनी चाहिये। दूसरी, युद्ध की रोकथाम सम्भावित आक्रमण के विरुद्ध शक्ति की प्रचुरता को संचित करके की जा सकती है। शक्ति की यह प्रचुरता किसी भी ऐसे राज्य के विरुद्ध, जो बल का आक्रामक या अवैधानिक रूप से प्रयोग करता है या कर सकता है, प्रतिरोधक का कार्य करेगी और उसकी पराजय को अवश्यम्भावी बना देगी। इस प्रकार सामूहिक सुरक्षा इस बात पर बल देती है कि युद्ध का मूलभूत कारण शक्ति है और युद्ध की रोकथाम शक्ति के नियन्त्रण और प्रबन्धन से की जा सकती है। सामूहिक सुरक्षा शक्ति नियन्त्रण की वह युक्ति है, जिसके अन्तर्गत शक्ति का वितरण इस प्रकार होना चाहिये कि उसका दुर्दमनीय अंश शान्ति के रक्षकों के पक्ष में हो, ताकि उसका निवारण और प्रतिरोधक प्रभाव युद्ध की आशंका को टाल सके। शक्ति के नियन्त्रण के साधन के रूप में सामूहिक सुरक्षा, शक्ति सन्तुलन और विश्व :

(4) आक्रमण को रोकने में सभी राज्यों की समान रुचि

विश्व के बहुसंख्यक राज्यों, जिनमें समस्त या अधिकांश बड़ी शक्तियाँ सम्मिलित हैं, की व्यापक प्रतिबद्धता और उत्तरदायित्व कि वे आक्रमण को रोकने और विफल बनाने हेतु हर आवश्यक कार्यवाही, जिसमें बल प्रयोग भी शामिल हैं और एक बड़े युद्ध में उलझाव का सहवर्ती खतरा भी, में सहयोग देंगे।

8.3 सामूहिक सुरक्षा की अपेक्षायें

सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा और व्यवस्था को मूर्त रूप में साकार करने के लिये कुछ अपेक्षाओं का सन्तुष्ट होना आवश्यक माना गया है। ये अपेक्षायें मनुष्य की आन्तरिक एवं बाह्य परिस्थितियों में परिवर्तन की मांग करती हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था को लागू करने के लिये बाह्य जगत में तो कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होने अनिवार्य ही हैं, साथ ही साथ आन्तरिक जगत अर्थात मानव मस्तिष्क में भी कुछ आधारभूत बदलाव आवश्यक हैं। सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था की कुछ महत्त्वपूर्ण अपेक्षाओं का निम्न प्रकार से उल्लेख किया जा सकता है :-

सरकार के मध्य अवस्थित है। इसके अन्तर्गत शक्ति का नियन्त्रण शक्ति सन्तुलन व्यवस्था से अधिक, परन्तु विश्व सरकार व्यवस्था से कम होता है। शक्ति सन्तुलन अप्रतिबन्धित राज्य सम्प्रभुता का प्रतीक है, विश्व सरकार राज्य सम्प्रभुता के समापन का द्योतक है, सामूहिक सुरक्षा आत्म-संयम अथवा राज्य सम्प्रभुता पर स्वैच्छिक प्रतिबन्धों का संकेत है।

(1) शान्ति की अविभाज्यता में दृढ़ आस्था

विश्व के किसी भी कोने में यदि शान्ति को खतरा है, तो वह समूचे विश्व के लिये चिन्ता का विषय होना चाहिये। भौगोलिक सुदूरता युद्ध और शान्ति के प्रश्न के सम्बन्ध में अप्रासंगिक है।

(2) राष्ट्रीय हित और विश्व हित में तादात्मीकरण

शान्ति की अविभाज्यता में आस्था तभी सम्भव है, जब संकीर्ण निष्ठाओं से ऊपर उठ कर सार्वदेशिक निष्ठा सुदृढ़ हों। राज्यों को अपने क्षुद्र राष्ट्रीय हितों को एक उच्चतर उद्देश्य एवं विश्व हित के लिये बलिदान करने के लिये तत्पर होना चाहिये।

(3) आक्रमणकारी की पहचान पर सहमति

सभी आक्रमणकारी को पहचानते हों और उस पर सहमत हों क्योंकि इस निर्णय में विलम्ब होने से आक्रमण के प्रतिकार में विलम्ब होगा और व्यापक क्षति होगी।

(5) आक्रमणकारी के विरुद्ध सामूहिक कार्यवाही की निश्चितता

प्रत्येक राज्य को यह आश्वासन कि वह संकट की घड़ी में अकेला नहीं होगा, उसे निश्चित तौर पर सहायता मिलेगी, और प्रत्येक भावी आक्रमणकारी राज्य के लिये चेतावनी कि यदि वह शान्ति को खतरा पहुँचायेगा या शान्ति भंग करने का दुःसाहस करेगा, तो उसे निश्चित रूप से, शेष सभी राज्यों के सामूहिक प्रतिशोध और दण्ड का सामना करना होगा।

(6) तटस्थता के सिद्धान्त का अनुपालन

सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था में स्थायी शत्रु या स्थायी मित्र जैसी भावना का कोई स्थान नहीं

होता और न ही यह संश्रयों या प्रति-संश्रयों को अनुमति प्रदान करती है। आक्रमणकारी और आक्रान्ता, दोनों ही अज्ञात होने के कारण, जो भी राज्य आक्रमणकारी होगा सबका शत्रु समझा जायेगा और जो भी राज्य आक्रान्ता होगा सबका मित्र समझा जायेगा।

(7) शक्ति का पर्याप्त विसरण

इस व्यवस्था के प्रभावी रूप से लागू होने के लिये लगभग समान शक्ति सम्पन्न अनेक बड़ी शक्तियों का होना आवश्यक है।

(8) सदस्यता की पर्याप्त सार्वभौमिकता

सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था में अधिकतम राज्यों की सदस्यता वांछनीय, तथा समस्त बड़े राज्यों की सदस्यता को अनिवार्य माना गया है क्योंकि एक ओर, ये राज्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को खतरा पहुँचाने में सक्षम हैं और दूसरी ओर, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति इनके सतत् परस्पर सहयोग और सौहार्द पर निर्भर हैं।

(9) आंशिक निःशस्त्रीकरण

सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था आंशिक निःशस्त्रीकरण की विशेष रूप से मांग करती है, क्योंकि यह युद्ध की धमकी देकर, युद्ध की रोकथाम हेतु, विश्व की युद्ध विरोधी शक्तियों की लामबन्दी का प्रयास है, और आंशिक निःशस्त्रीकरण के अभाव में सम्भव नहीं।

(10) राज्यों की आर्थिक सुभेद्यता

आर्थिक क्षेत्र में राज्यों की अन्योन्याश्रित, तथा आत्म-सम्पन्नता के अभाव में उनकी आर्थिक सुभेद्यता, व्यवस्था के लिये महत्त्वपूर्ण हैं।

सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था की उपरोक्त वस्तुनिष्ठ और व्यक्ति निष्ठ मांगों की तुष्टि के बगैर उसके प्रभावी रूप से लागू होने की कोई सम्भावना नहीं।

8.4 सामूहिक सुरक्षा एवं शक्ति सन्तुलन

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर शक्ति के विकेन्द्रीकरण के फलस्वरूप राज्यों के मध्य शक्ति स्पर्द्धा व संघर्ष युद्ध का मूल कारण रहा है, इस दृष्टि से शक्ति का नियन्त्रण अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के लिये सदैव एक समस्या रहा है। इस समस्या ने समाधान के लिये राज्यों के शक्ति सन्तुलन की व्यवस्था को अपनाया, जिसकी चर्चा इकाई-3 में की जा चुकी है। चूंकि शक्ति सन्तुलन व्यवस्था शान्ति की स्थापना करने एवं शक्ति का नियन्त्रण कर पाने में पूर्णतः सफल और प्रभावी न हो सकी, अतः राज्यों ने एक अन्य युक्ति को अपनाया, जो सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था कहलायी। दोनों व्यवस्थायें एक ही समस्या को सम्बोधित करती हैं और विश्व सरकार के गठन होने तक, जिसके अन्तर्गत शक्ति का सर्वाधिक प्रभावी नियन्त्रण हो सकेगा, राज्यों को राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा के प्रति आश्वस्त होने का अवसर देती है। क्लॉड के शब्दों में सामूहिक सुरक्षा, शक्ति सन्तुलन की तुलना में 'अधिक केन्द्रीकृत प्रबन्ध है।'

सामूहिक सुरक्षा एवं शक्ति सन्तुलन में पायी जाने वाली समानतायें निम्न हैं :

(1) दोनों शक्ति को नियन्त्रित करने की युक्तियाँ हैं :

(2) दोनों 'शक्ति का सामना शक्ति से करने' के सिद्धान्त पर आधारित हैं, तथा शक्ति की प्रचुरता पर बल देती हैं;

(3) दोनों प्रतिरोध के सिद्धान्त पर आधारित हैं

(4) दोनों सामूहिक प्रयासों द्वारा शान्ति की स्थापना करने और राज्यों की स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिये प्रतिबद्ध हैं;

(5) दोनों यथास्थिति की रक्षा करके शान्ति की स्थापना करने का समर्थन करती हैं।

उपरोक्त समानताओं के उपरान्त दोनों व्यवस्थाओं में महत्त्वपूर्ण अन्तर भी विद्यमान हैं :

(1) शक्ति सन्तुलन की निहित मान्यतायें सामूहिक सुरक्षा से भिन्न है;

(2) यद्यपि दोनों सामूहिक कार्यवाहियाँ हैं, परन्तु शक्ति सन्तुलन का लक्ष्य अनुचित या असंगत शक्ति के विरुद्ध कार्य करना है, जबकि सामूहिक सुरक्षा आक्रामक नीति के विरुद्ध कार्य करती हैं;

(3) शक्ति सन्तुलन प्रतियोगिता पूर्ण सन्धियों के फलस्वरूप स्थापित होता है, सामूहिक सुरक्षा सार्वभौमिक सन्धि के परिणामस्वरूप;

(4) शक्ति सन्तुलन के अन्तर्गत राज्य संश्रयों के आधार पर आक्रमणकारी का विरोध करते हैं, सामूहिक सुरक्षा में सामान्य सहयोग के आधार पर;

(5) शक्ति सन्तुलन में शत्रु के पूर्व रूप से ज्ञात होने के कारण पक्षपात की नीति का अनुसरण किया जाता है, जबकि सामूहिक सुरक्षा निष्पक्षता एवं तटस्था के सिद्धान्त के अनुपालन पर बल देती है;

(6) शक्ति सन्तुलन एक शिथिल एवं ढीली ढाली व्यवस्था है, जो स्थानान्तरणशील संश्रयों पर आधारित होती है, सामूहिक सुरक्षा दृढ़ एवं संगठन बद्ध स्थायी व्यवस्था पर आधारित है।

उपरोक्त चर्चा से स्पष्ट होता है कि शक्ति सन्तुलन और सामूहिक सुरक्षा में समानतायें और असमानतायें, दोनों विद्यमान हैं। क्विंसी राइट का मत है, "शक्ति सन्तुलन तथा सामूहिक सुरक्षा के सम्बन्ध एक ही साथ एक दूसरे के पूरक तथा विरोधी रहे हैं।"

8.5 सामूहिक सुरक्षा एवं सामूहिक रक्षा

राष्ट्रीय सुरक्षा की प्राप्ति के लिये राज्य मुख्यतः दो प्रकार की नीतियों का अनुसरण करते हैं। पहली, निःसंगतावादी नीति, जिसके अन्तर्गत एक राज्य अन्य राज्यों से निःसंग बना रहता हुआ, आत्म-प्रयासों से अपनी सुरक्षा की व्यवस्था करता है। दूसरी, सहयोगी नीति, जिसमें राज्य सुरक्षा प्राप्ति के राष्ट्रीय प्रयासों को यथेष्ट न मानते हुये, अन्य राज्यों के साथ सहयोग के माध्यम से, परस्पर सुरक्षा को सुनिश्चित करने के लिये प्रतिबद्ध होते हैं। सहयोगी नीति के भी दो प्रकार हैं, पहली, वह जो अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के माध्यम से अपनायी जाती है तथा सामूहिक सुरक्षा कहलाती है, और दूसरी, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की परिधि के बाहर होती है, इसे सामूहिक रक्षा कहा जाता है। सामूहिक रक्षा व्यवस्था 'चयनात्मक सुरक्षा' के सिद्धान्त पर आधारित होती है और किसी ज्ञात, विशिष्ट विरोधी, या शत्रु राज्य के सम्भावित आक्रमण के विरुद्ध, कुछ राज्यों को सुरक्षा का आश्वासन देती है, समस्त राज्यों को नहीं। उत्तर अटलांटिक सन्धि संगठन (नाटो) सामूहिक रक्षा व्यवस्था का सर्वोत्तम उदाहरण है।

सामूहिक सुरक्षा एवं सामूहिक रक्षा के पीछे समान प्रयोजन हैं। दोनों व्यवस्थायें इस मान्यता पर आधारित हैं कि किसी राज्य विशेष की अपनी सैन्य शक्ति आक्रमण के खतरे को परे रखने के

लिये अपर्याप्त होगी, अतः दोनों ही में राज्य सन्धि के आधार पर, आक्रमण के विरुद्ध अन्य राज्यों की रक्षा के लिये प्रतिबद्ध होते हैं।

उपर्युक्त समानताओं के होते हुये, दोनों व्यवस्थाओं में कुछ निम्न मौलिक अन्तर भी हैं, जिनकी चर्चा करना आवश्यक होगा।

(1) सामूहिक रक्षा तदर्थ आधार पर कुछ राज्यों के बीच सीमित सहयोग की ओर संकेत करती है, जबकि सामूहिक सुरक्षा समस्त या अधिकांश राज्यों के मध्य सहयोग की प्रतिबद्धता को दर्शाती है;

(2) सामूहिक सुरक्षा स्थायी व्यवस्था पर आधरित है और विश्व में कहीं भी आक्रमण के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करने का आश्वासन देती है, सामूहिक रक्षा व्यवस्था में ऐसा नहीं है;

(3) सामूहिक रक्षा का सार दो लगभग समान और विरोधी मोर्चे हैं, जबकि सामूहिक सुरक्षा का सार एक सम्भावित आक्रमणकारी के विरुद्ध मोर्चा है;

(4) सामूहिक सुरक्षा में आक्रमणकारी अज्ञात होता है, परन्तु सामूहिक रक्षा में शत्रु पूर्ण रूप से ज्ञात होता है। सामूहिक रक्षा विशिष्ट विरोधी के संभावित आक्रमण को विफल बनाने के लिये प्रतिबद्ध होती है, भले ही उसका नाम सन्धि में उल्लिखित न हो;

(5) सामूहिक सुरक्षा निष्पक्षता एवं तटस्थता के सिद्धान्त पर आधारित होती है अर्थात इसके अन्तर्गत कोई किसी का स्थायी शत्रु या मित्र नहीं होता है। आक्रमणकारी कोई भी राज्य हो, सबका शत्रु माना जाता है, और आक्रमणग्रस्त राज्य कोई भी हो, सबका मित्र माना जाता है। परन्तु सामूहिक रक्षा कुछ विशेष राज्यों के विरुद्ध गुटबन्दी होती है और पक्षपात की नीति पर आधारित होती है;

(6) ज्ञात शत्रु के विरुद्ध पूर्व नियोजित सैनिक समझौते पर आधारित होने के कारण, सामूहिक रक्षा के अन्तर्गत आक्रमण के निवारण की सैनिक तैयारी अग्रिम तौर पर निश्चित रूप से की जाती है। सामूहिक सुरक्षा के अन्तर्गत पूर्व नियोजित औपचारिक सैन्य संश्रयों का कोई स्थान नहीं होता;

(7) दोनों व्यवस्थायें भिन्न संस्थाओं के माध्यम से कार्य करती है।

उपर्युक्त चर्चा से स्पष्ट होता है कि सामूहिक रक्षा, सैन्य समझौते के रूप में, सामूहिक सुरक्षा की मूल भावना के विपरीत है। संयुक्त राष्ट्र के चार्टर में दोनों व्यवस्थाओं को मान्यता प्रदान की गयी है, परन्तु यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सामूहिक रक्षा व्यवस्था, संयुक्त राष्ट्र के शान्ति प्रयासों के पूरक के रूप में, उसके अधीनस्थ रह कर एवं उससे सामंजस्य स्थापित करके कार्य करेगी।

8.6 राष्ट्र संघ के अन्तर्गत सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था

प्रथम विश्वयुद्ध जनित अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता के कटु अनुभव ने यह सिद्ध कर दिया था कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून या सम्बन्धित प्रक्रियाओं के विकास मात्र से स्थायी शान्ति की स्थापना संभव नहीं थी। कानूनों का बल पूर्वक क्रियान्वयन और कानून भंग की स्थिति में उपयुक्त दंड व्यवस्था, शान्ति के लिये आवश्यक थे। कानून भंग से विशेष तात्पर्य उन अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के उल्लंघन से है, जो राज्यों को आक्रामक युद्ध न करने का दायित्व सौंपते हैं। इसी प्रयोजन से राष्ट्र संघ की संविदा में प्रवर्तन या दंडात्मक कार्यवाही का उल्लेख किया गया, जिसे संघ की सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था कहा

जाता है।

यद्यपि राष्ट्र संघ की संविदा में 'सामूहिक सुरक्षा' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया था, तथापि धारा 10 और 11 में इसकी ओर स्पष्ट संकेत किया गया था। धारा 10 में 'आक्रमण के विरुद्ध गारंटी' की चर्चा की गयी थी। राष्ट्र संघ के सदस्य इस बात के लिए कृतसंकल्प थे कि "वे सभी संघ सदस्यों की प्रादेशिक अखंडता और वर्तमान राजनीतिक स्वतन्त्रता का सम्मान करेंगे और बाह्य आक्रमण से रक्षा करेंगे।

धारा 11 (1) में कहा गया : "कोई भी युद्ध या युद्ध की धमकी, उससे संघ का कोई सदस्य प्रभावित हो या नहीं, सम्पूर्ण राष्ट्र संघ की चिन्ता का विषय होगा तथा राष्ट्र संघ अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को सुरक्षित रखने के लिये जो भी आवश्यक या प्रभावी कार्यवाही उचित समझी जायेगी, करेगा।"

धारा 11 (2) में उल्लेख था : "प्रत्येक संघ-सदस्य का मित्र के नाते अधिकार है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को प्रभावित करने वाली किसी भी स्थिति की ओर, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति या राष्ट्रों के मध्य सद्‌भावना, जिस पर शान्ति निर्भर है, पर प्रभाव पड़ता हो, सभा या परिषद का ध्यान आकृष्ट करे।"

धारा 16 मे 'शान्तिपूर्ण समाधान की अनुशक्तियों' की व्यवस्था की गयी थी। इसमें कहा गया : "धारा 12, 13 या 15 के अन्तर्गत अपनी प्रसंविदा का उल्लंघन करके यदि कोई संघ-सदस्य युद्ध का आश्रय लेता है तो यह तत्काल मान लिया जायेगा कि उसने अन्य सभी संघ सदस्यों के विरुद्ध युद्धात्मक कार्यवाही शुरू की है।"

उपरोक्त धारा के अनुसार दंडात्मक व्यवस्था तब लागू की जायेगी, जब कोई राज्य धारा 12, 13 या 15 में वर्णित विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के उपायों की उपेक्षा करके युद्ध का सहारा लेगा। यह युद्ध मात्र उस राज्य के विरुद्ध नहीं माना जायेगा जिस पर आक्रमण हुआ, बल्कि समस्त संघ-सदस्यों के विरुद्ध माना जायेगा, क्योंकि संविदा का उल्लंघन होने की स्थिति में वे उल्लंघनकर्ता को दंडित करने के लिये वचनबद्ध थे।

धारा 16 में दंडात्मक कार्वयाही के अन्तर्गत असैनिक और सैनिक दंड का उल्लेख किया गया था। असैनिक दंड के सम्बन्ध में धारा 16 (1) में कहा गया : "संघ-सदस्य यह संकल्प करते हैं कि ऐसी स्थिति में उस राज्य के साथ सभी व्यापारिक या वित्तीय सम्बन्ध तोड़ लेंगे, संविदा का उल्लंघन करने वाले राज्य के राष्ट्रिकों के साथ अपने नागरिकों के सभी प्रकार के सम्बन्धों पर प्रतिबन्ध लगा देंगे।"

असैनिक प्रतिबन्धों का उद्देश्य कूटनीतिक और आर्थिक बल प्रयोग के द्वारा आक्रमणकारी राज्य को कानून मानने के लिये बाध्य करना था। इसमें आक्रमणकारी राज्य का बहिष्कार करने एवं उसे कूटनीतिक और आर्थिक रूप से विलग करने की बात कही गयी थी।

धारा 16 (2) में सैनिक प्रतिबन्धों के विषय में कहा गया :

"परिषद का कर्त्तव्य होगा कि विभिन्न सम्बद्ध सरकारों से यह अनुशंसा करे कि संविदा की रक्षार्थ व्यवस्था हेतु सशस्त्र सेनाओं के लिए किस मात्रा में प्रभावी थल, जल तथा वायु सेना उपलब्ध करायेंगे।"

राष्ट्र संघ की सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि उसके अन्तर्गत आक्रमण का निर्धारण करने की कोई सन्तोषजनक प्रक्रिया नहीं थी। ऐसी कोई निर्दिष्ट संस्था नहीं थी, जो आक्रमण का निर्धारण करें, प्रतिबन्धों को तय और लागू करे तथा आक्रमणकारी राज्य

को दंडित करे। सदस्य-राज्य इस बात के लिए स्वतन्त्र थे कि वे स्वयं निश्चित करें कि संविदा का उल्लंघन हुआ था या नहीं अथवा आक्रमण हुआ था या नहीं, यह भी उनकी इच्छा पर निर्भर था कि वे आक्रमणकारी राज्य के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगायेंगे या नहीं। सैनिक प्रतिबन्धों को लागू करने के सम्बन्ध में परिषद को अनुशंसा करने की शक्ति प्रदान की गयी थी। चूंकि अनुशंसा का अर्थ आदेश नहीं होता, अतः संघ-सदस्य इस बात के लिये स्वतन्त्र थे कि वे परिषद की अनुशंसा को स्वीकार करें या नहीं, अर्थात सैनिक कार्यवाही में सम्मिलित हों अथवा नहीं। संघ की अपनी कोई सेना नहीं होने के कारण उसे सदैव सदस्य-राज्यों पर सैनिक सहयोग के लिये निर्भर होना पड़ा, फलस्वरूप तात्कालिक सैनिक कार्यवाही सम्भव न हो सकी और व्यवहार में सैनिक प्रतिबन्धों का निवारक प्रभाव नहीं रह सका।

इस प्रकार धारा 16 के अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि सामूहिक सुरक्षा के सम्बन्ध में संघ की संवैधानिक व्यवस्था त्रुटिपूर्ण थी। परन्तु संवैधानिक त्रुटियों से अधिक गम्भीर थी संघ-सदस्यों, विशेष रूप से परिषद के स्थायी सदस्यों, द्वारा संवैधानिक उपबन्धों की उपेक्षा। यह संघ का दुर्भाग्य रहा कि स्थायी सदस्य स्वयं आक्रमणकारी बने और उन्होने संविदा का उल्लंघन किया, उदाहरण स्वरूप इटली ने कोर्फू (1923) और अबीसीनिया (1935) पर, जापान ने मंचूरिया (1931) पर, सोवियत संघ ने फिनलैंड (1939) और जर्मनी ने पोलैंड (1939) पर आक्रमण किया।

यद्यपि तत्कालीन वैश्विक परिस्थितियाँ सामूहिक सुरक्षा के पक्ष में थीं, जैसे शक्ति का कई राज्यों में विसरण, विभिन्न बड़ी शक्तियों का अस्तित्व, निःशस्त्रीकरण, तथा राज्यों की आर्थिक सुभेद्यता आदि, परन्तु संघ का संगठनात्मक दोष यह रहा कि वह कभी सार्वदेशिक सदस्यता प्राप्त नहीं कर सका, फलस्वरूप सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था पूर्ण रूप से लागू नहीं हो सकी। राष्ट्र संघ के समक्ष आये विभिन्न गम्भीर मामलों, यथा, इटली का कोर्फू (1923) और अबीसीनिया (1935) पर आक्रमण, जापान का मंचूरिया पर (1931), बोलीविया का पैरागुए (1928-1933) तथा सोवियत संघ का फिनलैंड पर आक्रमण (1939), में केवल अबीसीनिया के मामले में प्रतिबन्धों को लागू किया गया, परन्तु आंशिक और सीमित रूप से।

अबीसीनिया कांड

अबीसीनिया (इथियोपिया) अफ्रीका के उत्तर पूर्व में स्थित अकेला अफ्रीकी देश था, जिसे साम्राज्यवादी ताकतें अपना उपनिवेश नहीं बना पायी थीं। 1896 में इटली ने ऐसा करने का प्रयास किया था, परन्तु उसे मात खानी पड़ी थी और तभी से वह प्रतिशोध लेने का अवसर ढूंढ रहा था। 5 दिसम्बर, 1934 को इटालियन सोमालीलैंड और अबीसीनिया की अनिश्चित सीमा पर वालवाल नामक स्थान के निकट दोनों देशों की सेनाओं में मुठभेड़ हो गयी। 14 दिसम्बर, 1934 को अबीसीनिया ने मामले की सूचना संघ को दे दी तथा परिषद से मामले की सुनवायी की अपील की। इटली इस पक्ष में नहीं था, अतः उसने परिषद द्वारा सुनायी गयी समझौते की शर्तों को अस्वीकृत कर दिया और साथ ही सैन्य अभियान की तैयारी प्रारम्भ कर दी। अन्ततः 16 अक्टूबर 1935 को इटली ने अबीसीनिया पर आक्रमण कर दिया। संघ इटली को युद्ध प्रारम्भ करने से न रोक सका, परन्तु धारा 12 के उल्लंघन के आधार पर इटली को आक्रमणकारी घोषित किया गया और उसके विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने का निश्चय किया गया। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के इतिहास में पहली बार 54 राज्यों ने एक विधि-बहिष्कृत राज्य के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लागू करने के सम्बन्ध में सहमति जतायी। आर्थिक प्रवर्तन कार्यवाही नौ महीने चली, जिसमें इटली के आयात, निर्यात एवं ऋण पर प्रतिबन्ध लगाया गया, परन्तु तेल, स्टील, कोयला आदि पर प्रतिबन्ध न लगाये जाने के कारण

इटली को युद्ध अभियान में विशेष कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा। इसके अतिरिक्त ब्रिटेन और फ्रांस इटली के प्रति तुष्टीकरण की नीति अपनाये हुये थे, क्योंकि उस समय हिटलर की सेनायें लोकार्नो सन्धि का उल्लंघन करके राइनलैंड में प्रवेश कर चुकी थी और जर्मनी की विस्तारवादी आकांक्षायें, उन्हें इटली की साम्राज्यवादी उच्चाकांक्षाओं से अधिक भयावह प्रतीत हो रही थी। अतः वे इस पक्ष में थे कि अबीसीनिया का कुछ प्रदेश इटली को सौंप कर उसे आगे बढ़ने से रोका जाये। वे अबीसीनिया जैसे छोटे राज्य की रक्षा के लिये इटली जैसे बड़े राज्य के साथ युद्ध करने के लिये सहमत नहीं थे।

इस प्रकार राष्ट्र संघ द्वारा सामूहिक सुरक्षा कार्यवाही का प्रथम प्रयोग, महत्त्वपूर्ण होते हुये भी प्रभावी सिद्ध नहीं हो सका तथा आक्रमणकारी राज्य को वास्तव में दंडित नहीं किया जा सका।

8.7 संयुक्त राष्ट्र के अन्तर्गत सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा की प्राप्ति के लिये संयुक्त राष्ट्र चार्टर में प्रवर्तन कार्यवाही की व्यवस्था करी गयी है। इसका अभिप्राय बाध्यकारी प्रकृति के उन सामूहिक उपायों से है, जिनके द्वारा शान्ति के लिये खतरों को रोका या मिटाया जा सके तथा शान्ति भंग एवं आक्रामक कार्यवाहियों का दमन किया जा सके। सामूहिक उपायों की चर्चा चार्टर के अध्याय सात (धारा 39-51) में करी गयी है, इन उपायों का प्रयोग राज्यों द्वारा आक्रामक बल प्रयोग की स्थिति में किये जाने की व्यवस्था है।

चार्टर की धारा 2 (4) में सदस्य राज्यों का यह दायित्व सुनिश्चित किया गया है कि वे "अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में किसी राज्य की राजनीतिक स्वतन्त्रता या प्रादेशिक अखंडता के विरुद्ध शक्ति प्रयोग करने या उसकी धमकी देने से....विरत रहेंगे।" इस प्रकार चार्टर के अन्तर्गत सदस्य राज्यों द्वारा बल प्रयोग सर्वथा निषिद्ध है तथा कुछ अपवादात्मक परिस्थितियों को छोड़कर, समस्त बल प्रयोग सामूहिक रूप से, संयुक्त राष्ट्र के तत्वावधान में ही किया जा सकता है। संयुक्त राष्ट्र की सामूहिक बल प्रयोग की कार्यवाही अथवा प्रवर्तन कार्यवाही, सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था के नाम से प्रचलित हैं, यद्यपि इस शब्द का चार्टर में कही पर भी प्रयोग नहीं किया गया है।

राष्ट्र संघ संविदा के अन्तर्गत कोई भी युद्ध तथ्यतः सभी सदस्यों के विरुद्ध युद्ध माना जाता था तथा सदस्यों का यह दायित्व था कि वे आक्रमणकारी राज्य के विरुद्ध आर्थिक एवं सैनिक दंड लागू करें। संयुक्त राष्ट्र चार्टर द्वारा इस सम्बन्ध में सुरक्षा परिषद को केन्द्रीय भूमिका सौंपी गयी है। धारा 39 के अनुसार : "सुरक्षा परिषद यह निर्धारण करेगी की शान्ति को कोई खतरा है या शान्ति भंग या आक्रमण कार्यवाही हुयी है, तथा यह अनुशंसा करेगी कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने या पुनः स्थापित करने के लिए धारा 41 एवं 42 के अनुसार कौन सी कार्यवाही की जाये।"

धारा 39 के अन्तर्गत प्रवर्तन कार्यवाही का निर्णय लेने के उपरान्त सुरक्षा परिषद धारा 41 और 42 के अनुसार सैनिक एवं असैनिक प्रतिबन्धों के सम्बन्ध में निर्णय ले सकती है। यह सुरक्षा परिषद का स्वेच्छानिर्णय है कि पहले असैनिक प्रतिबन्ध लगाये जायें या सैनिक प्रतिबन्ध, अथवा दोनों एक साथ।

धारा 41 के अनुसार : "सुरक्षा परिषद अपने निर्णयों को लागू करने के लिये युद्ध को छोड़ कर और कौन सी प्रभावी कार्यवाही की जा सकती है, यह तय कर सकती हैं, तथा संयुक्त राष्ट्र के

सदस्यों को उन निर्णयों को कार्यान्वित करने को कह सकती है। इनमें आर्थिक सम्बन्धों तथा थल, जल, वायु यातायात एवं तार संचार, रेडियो तथा संचार के अन्य साधनों का पूर्णतः या आंशिक विच्छेद तथा कूटनीतिक सम्बन्धों का विच्छेद भी सम्मिलित होगा।''

धारा 42 में कहा गया है : ''यदि सुरक्षा परिषद यह समझे कि धारा 41 में विहित कार्यवाहियाँ अपर्याप्त होंगी या अपर्याप्त सिद्ध हो चुकी हैं, तो वह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा को कायम अथवा पुनः स्थापन करने हेतु वायु, जल एवं थल सेनाओं के द्वारा यथावश्यक कार्यवाहियाँ कर सकती हैं।''

सैनिक प्रतिबन्धों को लागू करने के लिए सशस्त्र सेना का होना आवश्यक है। इस सन्दर्भ में धारा 43 में उल्लिखित है कि संयुक्त राष्ट्र के सदस्य-राज्य सुरक्षा परिषद को विशेष समझौतों के आधार पर सशस्त्र सेनायें उपलब्ध करायेंगे एवं अन्य सहायता प्रदान करेंगे।

संयुक्त राष्ट्र की सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि राष्ट्रसंघ संविदा की तुलना में चार्टर द्वारा इस सम्बन्ध में बेहतर व्यवस्था की गयी है। संविदा की भांति युद्ध का मात्र सीमित निषेध नहीं किया गया है, बल्कि धारा 2 (4) के माध्यम से राज्यों द्वारा बल प्रयोग अथवा उसकी धमकी को वर्जित ठहराया गया है। समस्त बल प्रयोग और समस्त बाध्यकारी कार्यवाही सुरक्षा परिषद के अधीन, उसके नियन्त्रण और निरीक्षण में करने की व्यवस्था की गयी है। यह शक्ति केवल सुरक्षा परिषद को प्राप्त है कि वह आक्रमण का निर्धारण करें, सदस्य-राज्यों को असैनिक प्रवर्तन कार्यवाही में भाग लेने का आदेश दे, तथा स्वयं सैन्य कार्यवाही करे अथवा उसकी व्यवस्था करे।

इसके उपरान्त भी संयुक्त राष्ट्र की सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था पूर्णतः दोषमुक्त नहीं है। यद्यपि राज्यों द्वारा बल प्रयोग का निषेध किया गया है, तथापि अपवाद स्वरूप धारा 51 और धारा 106 के अन्तर्गत बल प्रयोग की अनुमति प्रदान करी गयी है। धारा 51 में उल्लिखित व्यक्तिगत एवं सामूहिक आत्म-रक्षा के अधिकार के नाम पर अनेक अवसरों पर राज्यों ने बल का अनुचित रूप से प्रयोग किया है। इसी प्रकार धारा 106 के अन्तर्गत सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्यों को, पर्याप्त संख्या में विशेष समझौते सम्पन्न हो जाने तक, संगठन की ओर से अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा की स्थापना करने के लिये, संयुक्त कार्यवाही करने का कार्य सौंपा गया है। धारा 106 को चार्टर में 'अन्तरिम सुरक्षा व्यवस्था' का नाम दिया गया है, परन्तु यह व्यवस्था अभी भी विद्यमान है, फलस्वरूप संयुक्त राष्ट्र और उसके सदस्य-राज्य, आज भी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा की स्थापना के लिये सुरक्षा परिषद के पांच स्थायी सदस्यों की ओर देखते हैं। इस दृष्टि से धारा 51 और 106, दोनों ही, सामूहिक सुरक्षा के स्थान पर बहुराष्ट्रीय अथवा राज्यों की मिली-जुली सैनिक कार्यवाहियों को प्रश्रय देती हैं।

इसके अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्र की सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था निवारक शक्ति सम्पन्न नहीं है। सामूहिक सुरक्षा की पहली माँग यह है कि राज्यों के संगठन के पास शक्ति की प्रचुरता हो, ताकि उसके द्वारा सामूहिक बल प्रयोग की निश्चितता, भावी आक्रमणकारियों को भयोपरित कर सके तथा वे शान्ति भंग अथवा आक्रामक कार्यवाही का साहस न कर सके। इस दृष्टि से संयुक्त राष्ट्र निर्बल है क्योंकि उसकी अपनी कोई सेना नहीं है तथा उसे सदस्य-राज्यों के सैनिक योगदान पर निर्भर रहना पड़ता है। स्पष्ट है कि संयुक्त राष्ट्र के पास सैन्य शक्ति की प्रचुरता नहीं है। वास्तव में धारा 43 के अक्रियान्वयन के कारण व्यवहार में संयुक्त राष्ट्र और राष्ट्र संघ में विशेष अन्तर नहीं रह गया है। राष्ट्र संघ की भांति संयुक्त राष्ट्र भी सैनिक दृष्टि से आत्म निर्भर नहीं है। इसके अतिरिक्त प्रभावी निःशस्त्रीकरण एवं शस्त्र नियन्त्रण के अभाव में संयुक्त राष्ट्र अनेक ऐसे राज्यों पर हावी नहीं हो सकता है, जो अत्याधुनिक, परिष्कृत, सामूहिक विनाश के शस्त्रों, विशेष रूप से परमाणु शस्त्रों,

से सम्पन्न हैं।

यह सत्य है कि संयुक्त राष्ट्र की सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था में कुछ त्रुटियाँ हैं, परन्तु यह भी सत्य है कि यह व्यवस्था कभी पूर्णतः लागू ही नहीं हो पायी। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् की परिस्थियाँ, यथा, शक्ति का असमान विसरण, अनेक बड़ी शक्तियों के स्थान पर दो महाशक्तियों की उपस्थिति, महाशक्तियों की सैन्य एवं आर्थिक श्रेष्ठता, शस्त्र स्पर्द्धा और परमाणु शस्त्रों का प्रसार-आदि सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था के अनुकूल नहीं थी। कोरिया (1950-53) और खाड़ी संकट (1990-91) मे हुई सामूहिक सैन्य कार्यवाहियों को सामूहिक सुरक्षा दृष्टान्त स्वरूप प्रस्तुत किया जाता है, परन्तु ये दोनों कार्यवाहियाँ सुरक्षा परिषद की अनुज्ञप्ति द्वारा कुछ सदस्य-राज्यों की ऐच्छिक आधार पर की गयी कार्यवाहियाँ थीं। वास्तव में दोनों कार्यवाहियाँ संयुक्त राज्य अमेरिका के निर्देशन में हुयी और संयुक्त राष्ट्र ने उन्हें मात्र वैधानिकता प्रदान की।

कोरिया संकट (1950-53)

25 जून 1950 को संयुक्त राष्ट्र को सूचना प्राप्त हुयी कि उत्तर कोरिया ने दक्षिण कोरिया पर आक्रमण कर दिया था। 27 जून को सुरक्षा परिषद ने एक प्रस्ताव पारित करके सदस्य-राज्यों से अनुशंसा करी कि वे दक्षिण कोरिया गणराज्य पर हुये सशस्त्र आक्रमण को निष्फल बनाने और उस क्षेत्र में शान्ति व सुरक्षा की स्थापना करने में सहायता प्रदान करें। यह मात्र अनुशंसा थी, जिसका पालन करने के लिए राज्य बाध्य नहीं थे, परन्तु अमेरिका ने इस प्रस्ताव पर तात्कालिक रूप से कार्यवाही की और दक्षिण कोरिया को पहले वायु और जल सेना, तथा तत्पश्चात् थल सेना की सहायता प्रदान की। 7 जुलाई, 1950 को सुरक्षा परिषद ने सदस्य-राज्यों को अनुशंसा करी कि वे अपनी सेनाओं को अमेरिका के संयुक्त कमान के अधीन सुपुर्द कर दें।

इस प्रकार कोरिया संकट के दौरान सेनायें अमेरिका के कमान में रहीं, सुरक्षा परिषद की सैनिक स्टाफ समिति के कमान में नहीं। वास्तव में पूरी कार्यवाही सुरक्षा परिषद की अनुशंसा पर सदस्य राज्यों द्वारा ऐच्छिक रूप से करी गयी। इस कार्यवाही की अनुशंसा कर पाना सुरक्षा परिषद के लिये सम्भव इसलिये हो सका क्योंकि उस दौरान सोवियत संघ, चीन की साम्यवादी सरकार के प्रतिनिधित्व के प्रश्न पर सुरक्षा परिषद का बहिष्कार किये हुये था, और "वीटो" का प्रयोग करके कार्यवाही की अनुशंसा में बाधा डालने के लिये उपस्थित नहीं था।

खाड़ी संकट (1990-91)

2 अगस्त 1990 को ईराक द्वारा पड़ोसी राज्य कुवैत पर आक्रमण किया गया और उसे कुछ समय पश्चात् अधिनद्ध कर लिया गया। कुवैत के अनुरोध पर सुरक्षा परिषद ने तुरन्त संकटकालीन बैठक आहूत की और प्रस्ताव संख्या 660 पारित करके ईराक को शान्ति भंग करने के लिए उत्तरदायी ठहराया तथा बिना शर्त, तत्काल अपनी सेनायें वापिस, करने के लिये कहा। 6 अगस्त, 1990 को ईराक के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्धों की घोषणा करी गयी। परन्तु जब धारा 41 के अन्तर्गत उठाया गया उपरोक्त कदम अपर्याप्त सिद्ध हुआ, तब सुरक्षा परिषद ने 29 नवम्बर 1990 को प्रस्ताव संख्या 678 पारित करके सदस्य राज्यों को इस बात के लिए प्राधिकृत किया कि यदि ईराक 15 जनवरी, 1991 तक या उसके पूर्व अपनी सेनाओं की वापसी नहीं करता है, तो वे कुवैत को स्वतन्त्र कराने के लिए 'सभी आवश्यक उपाय' कर सकते हैं। उपरोक्त प्रस्ताव के आधार पर अमेरिका के नेतृत्व में एक बहुराष्ट्रीय सेना का गठन किया गया और कुवैत को स्वतन्त्र कराया गया। यह कार्यवाही सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्यो में मतैक्य के कारण सम्भव हो सकी।

इस प्रकार कोरिया एवं खाड़ी संकट सम्बन्धी दोनों कार्यवाहियाँ आक्रमण के विरुद्ध सामूहिक सैनिक सहायता या सामूहिक सैनिक उपाय कहे जा सकते हैं, परन्तु सामूहिक सुरक्षा कार्यवाही

नहीं, क्योंकि ये बहुराष्ट्रीय सेनाओं द्वारा की गयी सदस्य-राज्यों की ऐच्छिक कार्यवाहियां थीं। ये सेनायें संयुक्त राष्ट्र के कमान या नियन्त्रण में नहीं लड़ीं और न ही इनके संचालन में सुरक्षा परिषद की केन्द्रीय भूमिका रही। दोनों ही सैनिक कार्यवाहियाँ अमेरिका के निर्देशन में हुयीं और संयुक्त राष्ट्र ने उन्हें वैधानिकता प्रदान की।

संयुक्त राष्ट्र की सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था के प्रभावी रूप से लागू न हो पाने में शीत युद्ध का बहुत बड़ा कारण रहा। शीत युद्ध राजनीति के फलस्वरूप सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्यों में मतैक्य का अभाव रहा और प्रवर्तन कार्यवाही कर पाना सुगम न हो सका। इसके दो परिणाम हुये, पहला, संयुक्त राष्ट्र की शान्ति परिरक्षा (पीस कीपिंग) कार्यवाहियों का आविर्भाव हुआ, जिनका उद्देश्य बाध्यकारी उपायों द्वारा शान्ति को लागू करना न हो कर, शान्ति सेनाओं की सहायता से युद्धरत राज्यों को विलग करना और सन्निवेशन द्वारा समझौते के आधार पर सुलह कराना था। दूसरा, धारा-51 के अन्तर्गत राज्यों द्वारा प्रादेशिक सैन्य संगठनों का निर्माण प्रारम्भ हुआ, जिन्होंने शस्त्र स्पर्द्धा को प्रोत्साहन दिया, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अशान्ति एवं असुरक्षा का वातावरण बनाया तथा संयुक्त राष्ट्र के शान्ति प्रयासों में बाधा पहुँचायी।

शीत युद्धोत्तर काल में सुरक्षा परिषद पूर्व व्यवरोधों से मुक्त हुयी है तथा स्थायी सदस्यों के बीच विश्वास और मैत्री के दृष्टिगत निर्णय निर्माण अपेक्षाकृत सुगम बना है। परन्तु आज 'सुरक्षा' और 'संघर्ष' की अवधारणाओं की प्रकृति में परिवर्तन हुआ है। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा को अब खतरा मात्र राज्यों के सैन्य आक्रमण से नहीं है, बल्कि गैर-पारम्परिक स्त्रोतों जैसे, आतंकवादी संगठनों, संगठित अपराधी गुटों, आर्थिक एवं सामाजिक असुरक्षा, आदि से है। इसी प्रकार अन्तरा-राज्यीय संघर्ष अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा के लिये गम्भीर खतरों का रूप धारण कर चुके हैं। ऐसी स्थिति में शान्ति प्रवर्तन या सामूहिक सुरक्षा की आवश्यकता और महत्त्व तो पहले से कहीं अधिक बढ़ गये हैं, परन्तु उसे लागू कर पाना असम्भव नहीं, तो दुष्कर और जटिल अवश्य होता जा रहा है।

8.8 सारांश

सम्प्रभु राज्य व्यवस्था में केन्द्रीय सत्ता एवं केन्द्रीकृत बल के अभाव में राज्यों में असुरक्षा की भावना प्रबल होती है तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में अराजकता व्याप्त होती है। राष्ट्रीय सुरक्षा की प्राप्ति के लिये राज्यों द्वारा मुख्यतः दो प्रकार की नीतियों का अनुसरण किया गया है, पहली, निःसंगतावादी, और दूसरी, सहयोगी नीति। सहयोगी नीति के भी दो प्रकार हैं, पहली, वह जिसमें राज्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के माध्यम से परस्पर सहयोग के आधार पर सुरक्षा को सुनिश्चित करने के लिये प्रतिबद्ध होते हैं, और दूसरी, वह जिसमें सुरक्षा प्राप्ति के लिये, सहयोग, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की परिधि के बाहर कुछ राज्यों तक सीमित होता है। पहली नीति, सामूहिक सुरक्षा और दूसरी, सामूहिक रक्षा के नाम से जानी जाती है।

सामूहिक सुरक्षा अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता को कम करने तथा राष्ट्रीय सुरक्षा की समस्या का समाधान करने की एक महत्त्वपूर्ण व्यवस्था है। यह अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के माध्यम से आक्रमणकारी के अतिरिक्त शेष सभी राज्यों द्वारा शान्ति की रक्षा के लिए सामूहिक कार्यवाही पर बल देती है। सामूहिक सुरक्षा का उद्देश्य भावी या वर्तमान आक्रमणकारी को राज्यों के दुर्दमनीय संघ की सम्भावना से भयोपरत करना तथा यदि निवारण असफल हो जाये, तो उसे संघ द्वारा प्रतिज्ञाबद्ध रूप से की

गयी सैन्य कार्यवाही से पराजित करना है। यह व्यवस्था इस बात पर बल देती है कि शक्ति, युद्ध का मूलभूत कारण है और युद्ध की रोकथाम शक्ति के नियन्त्रण से की जा सकती है, अतः शक्ति का वितरण इस प्रकार होना चाहिये कि उसका दुर्दमनीय अंश शान्ति के रक्षकों के पक्ष में हो और उसका निवारक प्रभाव युद्ध की आशंका को टाल सकें। शक्ति के नियन्त्रण के साधन के रूप में सामूहिक सुरक्षा, शक्ति सन्तुलन और विश्व सरकार के मध्य अवस्थित है।

सामूहिक सुरक्षा को प्रभावी रूप से लागू करने के लिये कुछ अपेक्षाओं की पूर्ति आवश्यक हैं, जैसे, शान्ति की अविभाज्यता में आस्था, राष्ट्रीय हित और विश्व हित में तदात्मीकरण, आक्रमण की पहचान पर सहमति, सुरक्षा की समान अवधारणा, कार्यवाही की निश्चितता, तटस्थता के सिद्धान्त का अनुपालन, शक्ति का पर्याप्त विसरण, सदस्यता की सार्वभौमिकता, आंशिक निःशस्त्रीकरण आदि।

यद्यपि सामूहिक सुरक्षा का विचार पुराना है, परन्तु उसकी प्रथम सांस्थानिक अभिव्यक्ति राष्ट्र संघ था। संघ की संविदा की धारा 10, 11, 16 व 17 में सामूहिक सुरक्षा सम्बन्धी प्रावधान किये गये थे, परन्तु यह व्यवस्था विकेन्द्रित दण्ड व्यवस्था पर आधारित थी, अतः प्रभावी सिद्ध न हो सकी। संयुक्त राष्ट्र के अन्तर्गत अपेक्षाकृत केन्द्रीकृत व्यवस्था को अपनाया गया है, परन्तु यह व्यवस्था भी दोषमुक्त नहीं है। वास्तव में सामूहिक सुरक्षा के प्रभावी क्रियान्वयन के लिये जिन अपेक्षाओं का पूरा होना आवश्यक है, वे समुचित रूप से पूर्ण नहीं हुयी है, फलतः यह व्यवस्था अपने मूल रूप में लागू नहीं हो पायी है।

8.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. Claude, Inis. L., Power and International Relations, Random House, New York, 1962.
2. Claude, Inis. L., Swords into Plowsheares: The Problems and Progress of International Organisation, Random House, New York, 1971.
3. Goodrich, L.M. and Simons, A.P., The United Nations and the Maintenance of International Peace and Security.
4. Organski, AFK, World Politics, Knopf, New York, 1968.

8.10 सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. सामूहिक सुरक्षा की परिभाषा कीजिये।
2. संयुक्त राष्ट्र की सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था का मूल्यांकन कीजिये।
3. सामूहिक सुरक्षा और सामूहिक रक्षा में अन्तर स्पष्ट कीजिये।
4. "सामूहिक सुरक्षा को शक्ति सन्तुलन का एक परिशोधित संस्करण मानना चाहिये, न कि पूरी तरह से भिन्न, और उसका विकल्प।"

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. सामूहिक सुरक्षा का सार तत्त्व क्या है?
2. सामूहिक सुरक्षा की मान्यताओं पर प्रकाश डालिये।
3. संयुक्त राष्ट्र की सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था में केन्द्रीय भूमिका किसकी है?
4. सामूहिक सुरक्षा और शक्ति सन्तुलन में प्रमुख अन्तर क्या है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. सामूहिक सुरक्षा की प्रथम सांस्थानिक अभिव्यक्ति है :
   - (i) कंसर्ट ऑफ यूरोप
   - (ii) संयुक्त राष्ट्र
   - (iii) राष्ट्र संघ
   - (iv) नाटो
2. सामूहिक सुरक्षा का औचित्य किसके सन्दर्भ में है :
   - (i) विश्व सरकार
   - (ii) अन्तर्राष्ट्रीय संगठन
   - (iii) राष्ट्रीय सरकार
   - (iv) बहुराष्ट्रीय निगम
3. सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था के अन्तर्गत दो प्रकार के दंड सम्मिलित हैं :
   - (i) आर्थिक एवं सैनिक
   - (ii) राजनीतिक एवं आर्थिक
   - (iii) कूटनीतिक एवं सैनिक
   - (iv) असैनिक एवं सैनिक
4. सामूहिक सुरक्षा के लिये आवश्यक है :
   - (i) आंशिक निःशस्त्रीकरण
   - (ii) शस्त्रीकरण
   - (iii) शस्त्र नियन्त्रण
   - (iv) पूर्ण निःशस्त्रीकरण

8.11 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

1. (iii)
2. (ii)
3. (iv)
4. (i)

इकाई-9 निःशस्त्रीकरण और शस्त्र नियन्त्रण

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 शस्त्र स्पर्धा और उसके परिणाम

9.3 निःशस्त्रीकरण एवं शस्त्र नियन्त्रण

9.4 निःशस्त्रीकरण एवं शस्त्र नियन्त्रण समझौतों का इतिहास

9.5 संयुक्त राष्ट्र और निःशस्त्रीकरण

9.6 निःशस्त्रीकरण तथा शस्त्र नियन्त्रण समझौते

9.7 निःशस्त्रीकरण के मार्ग की बाधायें

9.8 सारांश

9.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

9.10 सम्बन्धित प्रश्न

9.11 प्रश्नोत्तर।

9.0 उद्देश्य

निःशस्त्रीकरण शस्त्र जनित भय और असुरक्षा से उत्पन्न समस्याओं को सम्बोधित करता है तथा शस्त्रों की कटौती और उन्मूलन के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, सुरक्षा एवं विकास की संभावनाओं को पुष्ट करता है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप :

- शस्त्र स्पर्द्धा के विभिन्न परिणामों एवं निःशस्त्रीकरण की आवश्यकता का उल्लेख कर सकेंगे।
- निःशस्त्रीकरण एवं शस्त्र नियन्त्रण की दिशा में हुये संगठनात्मक प्रयासों, निःशस्त्रीकरण के मार्ग की बाधाओं और उसकी भावी सम्भावनाओं की व्याख्या कर सकेंगे।

शस्त्रीकरण एवं शस्त्र स्पर्धा राज्यों के मध्य भय, अविश्वास, तनाव और असुरक्षा को बढ़ाते हैं, जिससे हिंसा का मार्ग प्रशस्त होता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को खतरा पहुँचता है। इसी के दृष्टिगत बल प्रयोग का परित्याग करके, निःशस्त्रीकरण, के माध्यम से शान्ति और सुरक्षा की खोज के विचार ने जन्म लिया। निःशस्त्रीकरण शस्त्र जनित भय और असुरक्षा, तथा शस्त्र स्पर्धा के दुष्परिणामों से उत्पन्न समस्याओं को सम्बोधित करता है तथा शस्त्रों की कटौती, परिसीमन और उन्मूलन के माध्यम अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, सुरक्षा, व्यवस्था एवं विकास की सम्भावनाओं को पुष्ट करता है। प्रस्तुत इकाई में शस्त्र स्पर्धा के विभिन्न परिणामों, निःशस्त्रीकरण की आवश्यकता,

निःशस्त्रीकरण एवं शस्त्र नियन्त्रण की दिशा में हुये संगठनात्मक प्रयासों, निःशस्त्रीकरण के मार्ग की बाधाओं तथा उसकी भावी सम्भावनाओं का अध्ययन किया गया है।

9.1 प्रस्तावना

सुरक्षा प्राप्ति, जो शान्ति का अवियोज्य तत्त्व है, सदा से मानव जाति की गहन महत्त्वाकांक्षा रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर केन्द्रीय सत्ता एवं केन्द्रीकृत बल के अभाव में विनाशक और अराजक प्रवृत्तियाँ सक्रिय हैं, फलतः राज्य अपनी सुरक्षा के प्रति विशेष रूप से चिन्ताग्रस्त और आशंकित होते हैं, तथा एक लम्बे अर्से से शस्त्रों के माध्यम से सुरक्षा प्राप्ति के लिये प्रयासरत रहे हैं। कई अवसरों पर उनका अस्तित्व और अतिजीविता इस बात पर निर्भर रहे हैं कि उनके पास रक्षा के उपयुक्त साधन हैं अथवा नहीं। तथापि शस्त्र, विशेष रूप से सामूहिक विनाश के शस्त्र, जिनमें परमाणु, जैविक और रासायनिक शस्त्र सम्मिलित हैं, मानव जाति को सुरक्षा या संरक्षण प्रदान करने से अधिक, उसके लिये गम्भीर खतरा बन चुके हैं। परमाणु शस्त्रों के प्रसार तथा परमाणु शस्त्र प्रौद्योगिकी के अधिकाधिक राज्यों में विस्तार के साथ-साथ जैविक और रासायनिक शस्त्रों का गैर-राज्य कर्त्ताओं द्वारा प्रयोग का बढ़ता खतरा अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के लिये चिन्ता और चिन्तन का विषय हैं। इसके अतिरिक्त छोटे और हल्के हथियारों का अवैध व्यापार, विभिन्न राज्यों में बिछी लाखों घातक बारूदी सुरंगें तथा गैर राज्य कर्त्ताओं, यथा, आतंकवादी संगठनों, नशीले पदार्थों के अवैध व्यापारिक गुटों तथा संगठित आपराधिक गिरोहों, की आधुनिक शस्त्र प्रौद्योगिकी तक सुलभ पहुँच, समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की महत्त्वपूर्ण समस्या है।

शस्त्र एवं शस्त्र प्रणालियों के संहारक और विनाशक प्रभाव के अतिरिक्त राज्यों के मध्य शस्त्र स्पर्धा के अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक परिणाम होते हैं, जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर दूरगामी प्रभाव डालते हैं तथा सम्बद्ध राज्यों के राजनीतिक, प्रौद्योगिकीय एवं औद्योगिक विकल्पों को प्रभावित करते हैं।

शस्त्र स्पर्धा युद्ध की प्रवृत्ति और मानसिकता को प्रोत्साहित करने का कारण मानी गयी है, अतः अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के हित में शास्त्रास्त्रों पर प्रभावी रोक लगाना अनिवार्य है। निःशस्त्रीकरण शस्त्रों के परिसीमन, कटौती, नियन्त्रण और उन्मूलन का विचार है, जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की विनाशक और अराजक प्रवृत्तियों को मर्यादित करके, राज्यों के मध्य शक्ति के परिसीमन में योगदान देता है।

9.2 शस्त्र स्पर्धा और उसके परिणाम

शस्त्र स्पर्धा का अभिप्राय दो या दो से अधिक देशों या उनके समूहों के द्वारा शस्त्रास्त्रों की प्राप्ति के लिये प्रतियोगिता या प्रतिस्पर्धा से है, जिसके अन्तर्गत वे शस्त्रों के उत्पादन, निर्माण, भण्डारण अथवा आयात में संलग्न होते हैं। यह स्पर्धा मुख्यतः प्रतिद्वन्द्वी या शत्रु राज्यों के बीच होती है, जो परस्पर अविश्वास, भय और असुरक्षा से ग्रस्त होते हैं। फलस्वरूप वे शस्त्रों के निर्माण और जमाव की प्रक्रिया तीव्र करते हैं और शस्त्रों की संख्या और स्तर, दोनों में, वृद्धि करने के लिये प्रयासरत होते हैं। यह पूरी प्रक्रिया, क्रिया और प्रतिक्रिया के नियम पर आधारित होती हैं, क्योंकि दूसरा

राज्य पहले राज्य की उपरोक्त क्रिया को अपनी सुरक्षा के लिये खतरा मानते हुये, प्रत्युत्तर में, शस्त्रों की बराबरी करने या उससे आगे निकलने की कोशिश में लग जाता है। इस प्रकार जब तक राज्यों में परस्पर अविश्वास और भय बना रहता है, उनके बीच शस्त्रों की होड़ और दौड़ चलती रहती है। ऐसा भी देखा जाता है कि कई बार कोई खतरा नहीं होता, लेकिन विभिन्न कारणों से खतरे का प्रक्षेपण किया जाता है। अमेरिका आदि विकसित देशों में विद्यमान सैनिक-औद्योगिक समूह, जो निर्णय-निर्धारण प्रक्रिया को प्रभावित करने की क्षमता रखते हैं, निहित स्वार्थों वश, शस्त्र निर्माण और तत्सम्बन्धी अनुसंधान पर अधिक से अधिक व्यय करने के लिये दबाव डालते हैं। बहुधा किसी क्षेत्र विशेष में बाह्य शक्तियाँ अपने सामरिक और आर्थिक हितों की पूर्ति के लिये शस्त्र स्पर्धा को प्रोत्साहन देती हैं, उदाहरणस्वरूप, पश्चिमी एशिया के देशों के शस्त्रीकरण में महाशक्तियों की भूमिका।

शस्त्र स्पर्धा दो प्रकार की होती हैं-मात्रात्मक और गुणात्मक। मात्रात्मक शस्त्र स्पर्धा के अन्तर्गत मूल शस्त्र समान रहते हैं तथा राज्यों में इस बात की होड़ होती है कि उनमें से कौन सर्वाधिक संख्या में उनका अर्जन करता है। गुणात्मक शस्त्र स्पर्धा, जिसे प्रौद्योगिकीय स्पर्धा भी कहा जाता है, राज्यों के बीच की वह प्रतियोगिता होती है, जिसमें प्रत्येक पक्ष नये और अधिक विनाशक क्षमता वाले शस्त्रों का उत्पादन करता है। इसमें शस्त्रों की संख्या के स्थान पर उनकी गुणवत्ता पर अधिक बल दिया जाता है, अर्थात अधिक शस्त्रों के बजाय बेहतर शस्त्रों को वरीयता प्रदान की जाती है। किसी नये शस्त्र की खोज, राज्यों के बीच शस्त्र स्पर्धा को नये सिरे से प्रारम्भ कर देती है।

विद्वानों में इस बात पर मतभेद हैं कि शस्त्र स्पर्धा से युद्ध की सम्भावना कम होती है या अधिक। परन्तु इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि शस्त्र स्पर्धा से राज्यों के बीच तनाव, भय, अविश्वास और असुरक्षा में वृद्धि होती है।

शस्त्र स्पर्धा एक विश्वव्यापी घटना है, विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में इसकी तीव्रता में अन्तर हो सकता है, परन्तु कोई भी क्षेत्र इससे अछूता नहीं है। शस्त्र स्पर्धा में हो रही वृद्धि में, तीव्र तकनीकी नवीकरण की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है। भौगोलिक, प्रौद्योगिकीय और आर्थिक दृष्टि से वर्तमान शस्त्र स्पर्धा के प्रसार और उसकी तीक्ष्णता की प्रवृत्ति सामाजिक एवं आर्थिक प्रगति के मार्ग की एक बड़ी बाधा है। अधिक सैन्य व्यय न केवल आर्थिक समस्याओं के समाधान हेतु आवश्यक संसाधनों का अपवर्तन करता है, बल्कि उन समस्याओं को और अधिक प्रचंड भी बनाता है। यह आर्थिक विघटन और राजनीतिक अस्थिरता के लिये उत्तरदायी हैं, जैसा कि भूतपूर्व सोवियत संघ के उदाहरण से स्पष्ट है।

शस्त्र स्पर्धा के आर्थिक मूल्य लागत तथा सामाजिक, राजनीतिक, सैनिक प्रभाव के दृष्टिगत उसे शान्ति, सुरक्षा और विकास के मार्ग का एक महत्त्वपूर्ण अवरोध कहा जा सकता है। शस्त्र स्पर्धा के दूरगामी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिणाम होते हैं, अतः यह आवश्यक है कि उसके अन्तर्निहित खतरों पर विचार किया जाये तथा इस भ्रान्ति को दूर किया जाये कि स्थायी शान्ति व सुरक्षा, तथा विकास का सह-अस्तित्व विनाश के साधनों के ढेर के साथ सम्भव है।

शस्त्रों पर होने वाला व्यय सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से बहुत महंगा सिद्ध होता है, क्योंकि यह उन विरल संसाधनों का अपव्यय है, जो सामाजिक एवं आर्थिक विकास के लिये अत्यावश्यक हैं। विश्व का कुल सैनिक खर्च गरीब राज्यों के सकल राष्ट्रीय उत्पाद का दो-तिहाई है। विनाश के उद्देश्यों के लिये यह विरल संसाधनों की भारी बर्बादी है। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात

यद्यपि बड़ी शक्तियों में परस्पर कोई युद्ध नहीं हुआ है, तथापि सैन्य व्यय में निरन्तर वृद्धि हुयी है और ऐसे शस्त्रों का उत्पादन किया गया है, जिनका भविष्य में प्रयोग किये जाने की कोई सम्भावना प्रतीत नहीं होती। यह विपुल धनराशि यदि विश्व के विकासशील और अल्प विकसित देशों के विकास पर व्यय की जाये तो विश्व में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो जायेगा। सैमूर मैलमैन तथा एमिटाई एटजियोनी ने इस सम्बन्ध में अपनी पुस्तकों में विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत किया है। गरीब और पिछड़े देश, जो औपनिवेशिक शासन से मुक्त होने के उपरान्त भी आर्थिक उपनिवेशवाद का शिकार रहे हैं तथा विकास की समस्या से ग्रस्त रहे हैं, वर्तमान परिस्थितियो में शस्त्रों पर असीमित व्यय करने के लिये बाध्य हैं, फलतः उनके आर्थिक विकास की प्रक्रिया का मंदन और विलम्बन हो जाता है, और लोक कल्याणकारी कार्यों की उपेक्षा होती है।

सैनिक क्षेत्र में खर्च होने वाले संसाधन राष्ट्रीय सरकारों के सामाजिक व्यय से कहीं अधिक होते हैं, फलस्वरूप स्वास्थ्य, चिकित्सा, तथा शिक्षा आदि महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में सार्वजनिक धन का आवंटन अपेक्षित रूप से नहीं हो पाता है। दुखद बात यह है कि कुपोषण, अकाल तथा निम्न खाद्य उत्पादन की समस्याओं से जूझ रहे राज्य भी सैनिक व्यय को वरीयता प्रदान करते हैं।

इसी प्रकार विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में बहुमूल्य संसाधनों और क्षमताओं का प्रयोग सैन्य उद्देश्यों के लिये किया जाता है, तथा ऐसे उपकरणों का उत्पादन किया जाता है, जिनका असैनिक क्षेत्र में कोई उपयोग नहीं होता है। वास्तव में समाज के सर्वाधिक योग्य व्यक्तियों, जिनमें शोधकर्त्ता, तकनीशियन और इंजीनियर सम्मिलित हैं, के एक बड़े हिस्से का सैन्य गतिविधियों में अवशोषण होता है।

पर्यावरण संरक्षण, जो विकास का अहम अंग है, को शस्त्रीकरण से अपार क्षति पहुँचने की सम्भावना होती है। सैन्य व्यय के परिणामस्वरूप पर्यावरण में हुयी क्षति को सुधारने तथा पर्यावरण के भावी अपक्षीणन को रोकने या कम करने के लिये आवश्यक वित्तीय और वैज्ञानिक संसाधनों का अपवर्तन होता है, तथा पर्यावरण संरक्षण की समस्या की उपेक्षा होती है।

इसी सन्दर्भ में शस्त्रों के अन्तरण का उल्लेख आवश्यक होगा, जिसमें शस्त्रों, सैन्य सामग्रियों और सेवाओं का अन्तर्राष्ट्रीय विक्रय सम्मिलित हैं। यह शस्त्र स्पर्धा का यह पक्ष है, जो सम्बद्ध राज्यों को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है। वे राज्य जो शस्त्रों का निर्माण स्वयं नहीं कर पाते हैं, अन्य राज्यों से उनका आयात करते हैं। परन्तु यह एक असमान विनिमय होता है, जो आयातक राज्य के लिये भुगतान सन्तुलन की समस्या पैदा करता है और निर्यातक राज्य को आर्थिक रूप से लाभान्वित करता है। जहाँ पर शस्त्र उपहारस्वरूप भेंट किये जाते हैं, वहां उनके धारण और प्रचालन की लागत प्राप्तकर्त्ता राज्य के जिम्मे आती है और उसके व्यय में बढ़ोत्तरी होती है। वास्तव में उपरोक्त प्रकार का व्यय अनुत्पादनकारी होता है, इससे राज्य के भीतर न तो खपत बढ़ती है और न ही किसी प्रकार का उत्पादन।

शस्त्र स्पर्धा के अन्तर्राष्ट्रीय परिणामों की भी चर्चा की जा सकती है। इसका सैनिक परिणाम यह है कि यदि इसे युद्ध का कारण न भी माना जाये, तब भी इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि यह युद्ध को भड़काता है, और साथ ही इसमें परमाणु संकट की सम्भावना सदैव विद्यमान रहती है। शस्त्र स्पर्धा का आर्थिक प्रभाव व्यापार, वित्तीय सहायता तथा राज्यों के बीच तकनीकी और वैज्ञानिक सहयोग तथा अन्य प्रकार के विनियमों पर देखा जा सकता है। राजनीतिक दृष्टि से

शस्त्रीकरण ऐसे वातावरण का निर्माण करता है, जिसमें सभी ओर सैन्य तत्परता होने के कारण साधारण संघर्ष भी प्रचंड रूप धारण करने की सम्भावना रखते हैं तथा सैन्य-रणनीतिक अनुचिन्तन राज्यों के परस्पर सम्बन्धों का निर्धारण करते हैं। शस्त्र स्पर्धा राष्ट्रीय, क्षेत्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा को कमजोर बनाती हैं, इससे युद्ध का अविरत खतरा बना रहता है और हिंसा को प्रोत्साहन मिलता है।

उपरोक्त चर्चा से स्पष्ट है कि शस्त्र स्पर्धा के परिणामों की विविधता केवल सुरक्षा के क्षेत्र तक सीमित नहीं है, बल्कि नागरिक जीवन के सभी पक्षों, यथा, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सैनिक क्षेत्रों में देखी जा सकती है।

9.3 निःशस्त्रीकरण एवं शस्त्र नियन्त्रण

शस्त्र स्पर्धा को युद्ध का कारण माना जाता है, अतः निःशस्त्रीकरण को शान्ति का साधन कहना अनुचित नहीं होगा। निःशस्त्रकीरण एवं अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के हित में शस्त्रास्त्रों पर प्रभावी रोक लगाना अनिवार्य है, क्योंकि जब तक राज्यों के मध्य शस्त्रों की होड़ चलती रहेगी, तब तक स्थायी शान्ति की स्थापना सम्भव नहीं।

निःशस्त्रीकरण शस्त्रों की सीमा निश्चित करने, उन पर नियन्त्रण करने तथा उन्हें घटाने का विचार है। इसका अभिप्राय विद्यमान सभी अथवा कुछ शस्त्रों को कम से कम करने अथवा नष्ट करने से है।

परम अर्थों में निःशस्त्रीकरण का आशय शस्त्रों के विश्वव्यापी विनाश तथा समस्त सशस्त्र बलों की व्यवस्था भंग से है। इसमें चिन्हित शस्त्रों या शस्त्र प्रणालियों की कटौती या उन्मूलन से लेकर शस्त्रागारों को विधिबहिष्कृत करने, तथा युद्ध के 'मानवीकरण' के हित में कुछ विशेष प्रकार के शस्त्रों पर प्रतिबन्ध के साथ-साथ, युद्ध के आकस्मिक प्रारम्भ की रोकथाम के लिये विशेष समझौतों का क्रियान्वयन सम्मिलित है।

निःशस्त्रीकरण एक ऐसी स्थिति की ओर इंगित करता है, जिसमें राज्य अपने विवादों के समाधान के लिये शस्त्रास्त्रों का अपनी इच्छा से परित्याग करते हैं। एक साध्य स्थिति के रूप में इसका उद्देश्य शस्त्ररहित विश्व की स्थापना करना और तत्पश्चात् पुनर्शस्त्रीकरण के रोकथाम की व्यवस्था करना है।

संक्षेप में, निःशस्त्रीकरण को ऐसी नीति के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जिसके अन्तर्गत दो या दो से अधिक राज्य परस्पर समझौते के आधार पर शस्त्रों के परिसीमन, नियन्त्रण अथवा उन्मूलन के लिये सहमत होते हैं।

वर्ष 1972 की एंटी बैलिस्टिक मिसाइल सन्धि, जिसके अन्तर्गत अमेरिका और भूतपूर्व सोवियत संघ ने ए0बी0एम0 व्यवस्था के विकास का परित्याग करने तथा विद्यमान व्यवस्था को आंशिक तौर पर विखंडित करने की प्रतिबद्धता व्यक्त की थी, निःशस्त्रीकरण का एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण कही जा सकती है।

निःशस्त्रीकरण का उद्देश्य राज्यों को पूर्णतः निःशस्त्र कर देना नहीं है। राज्यों के परस्पर

विरोधी हितों, असुरक्षा की भावना तथा शक्ति प्रतिस्पर्धा के दृष्टिगत यह न तो सम्भव है और न ही अनिवार्य, परन्तु फिर भी यह आवश्यक है कि कुछ प्रकार के शस्त्रों को समाप्त किया जाये, कुछ में कटौती करी जाये तथा अन्य की सीमा निश्चित की जाये ताकि शस्त्रीकरण पर प्रभावी रोक लग सके। मॉरगेन्थाऊ के अनुसार, "निःशस्त्रीकरण कुछ या सब शस्त्रों की कटौती या उन्हें समाप्त करना है, ताकि शस्त्रीकरण की दौड़ का अन्त हो।"

निःशस्त्रीकरण के अनेक प्रकार हैं। यह क्षेत्रीय या विश्वस्तरीय हो सकता है। सम्मिलित कर्ताओं की संख्या के आधार पर यह एकपक्षीय, द्विपक्षीय या बहुपक्षीय हो सकता है। निःशस्त्रीकरण पूर्ण भी हो सकता है और आंशिक भी। जहाँ पूर्ण निःशस्त्रीकरण का आशय समस्त प्रकार के शस्त्रों के लिये पूर्ण उपायों की व्यवस्था से है, वहां आंशिक निःशस्त्रीकरण का अभिप्राय विशेष प्रकार के शस्त्रों के लिये आंशिक उपाय करने या निर्दिष्ट भौगोलिक क्षेत्रों में व्यवस्था करने से है, यथा, परमाणु शस्त्र मुक्त क्षेत्र की स्थापना। निःशस्त्रीकरण का एक अन्य महत्त्वपूर्ण भेद सामान्य और स्थानीय निःशस्त्रीकरण में देखा जा सकता है। सामान्य निःशस्त्रीकरण का तात्पर्य ऐसे समझौतों से है जिसमें सभी सम्बन्धित राज्य भाग लें, उदाहरण स्वरूप 1922 का नौसैनिक शस्त्रीकरण परिसीमन का वाशिंगटन सम्मेलन या 1932 का विश्व निःशस्त्रीकरण सम्मेलन। स्थानीय निःशस्त्रीकरण का अभिप्राय सीमित संख्या में राज्यों की भागीदारी से है 1817 का अमेरिका और कनाडा के मध्य सम्पन्न रश-बागोट समझौता इसी श्रेणी में आता है। इसी प्रकार निःशस्त्रीकरण विशेष शस्त्र प्रणाली तक सीमित हो सकता है या फिर सभी प्रकार के शस्त्रों के लिये हो सकता है। पूर्वोक्त गुणात्मक निःशस्त्रीकरण और पश्चायुक्त मात्रात्मक निःशस्त्रीकरण कहलाता है।

व्यापक निःशस्त्रीकरण को पूर्ण या सम्पूर्ण निःशस्त्रीकरण कहते हैं। यह निःशस्त्रीकरण की सर्वाधिक व्यापक योजना है, जिसका आशय अन्ततोगत्वा ऐसी व्यवस्था की स्थापना करना है, जिसमें युद्ध करने के समस्त साधन ही समाप्त न कर दिये गये हों, बल्कि सेनाओं, सैनिक प्रशिक्षण केन्द्रों एवं सैन्य सामग्री निर्माण करने वाले कारखानों का भी कोई अस्तित्व न हो।

इसके अतिरिक्त अनिवार्य और ऐच्छिक निःशस्त्रीकरण में भी अन्तर किया जा सकता है। अनिवार्य निःशस्त्रीकरण युद्धोपरान्त विजयी राज्यों द्वारा पराजित राज्य या राज्यों पर लागू किया जाता है, उदाहरणस्वरूप, प्रथम और द्वितीय विश्व युद्ध के बाद मित्र-राज्यों द्वारा जर्मनी पर अथवा द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त जापान पर आरोपित किया गया। ऐच्छिक निःशस्त्रीकरण के अन्तर्गत राज्य स्वेच्छा से सन्धियों के माध्यम से निःशस्त्रीकरण को स्वीकार करते हैं, यथा, 1968 की परमाणु अप्रसार सन्धि।

निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी कोई भी चर्चा परम्परागत और परमाणु निःशस्त्रीकरण के मध्य अन्तर स्पष्ट किये बिना अधूरी होगी। इनके बीच अन्तर उस तर्काधार में निहित है, जो राजमर्मज्ञों को इन क्षेत्रों में निःशस्त्रीकरण के लिये अभिप्रेरित करते हैं। दूसरा अन्तर उन कारकों से उत्पन्न होता है, जो इस क्षेत्र में सफलता को सीमित करते हैं। परम्परागत शस्त्रों का निषेध या उन्मूलन अपेक्षाकृत कठिन है, क्योंकि राज्यों के मध्य संघर्ष अनिवार्य है, अतः राज्य, राजनीतिक शक्ति को प्रभावी बनाने के लिये सैन्य शक्ति पर बल देते आये हैं। राजनीतिक संघर्ष शस्त्र प्रतिस्पर्धा को प्रोत्साहन देता है। परम्परागत शस्त्र प्रणाली में लक्ष्यांक शस्त्रों की संख्या से अधिक होते हैं, जबकि परमाणु शस्त्रों की सीमित संख्या समूची पृथ्वी का अनेक बार विनाश करने में सक्षम होती है, अतः इसमें कटौती सम्भव

है। इसके अतिरिक्त परम्परागत शस्त्र युद्ध में प्रयोग किये जा सकते हैं,जबकि परमाणु शस्त्रों का प्रयोग अविवेकी माना जाता है।

निःशस्त्रीकरण और शस्त्र नियन्त्रण परस्पर-सम्बन्धित और पूरक होते हुये भी भिन्न अवधारणायें हैं। पूर्ण निःशस्त्रीकरण की सम्भावनायें इतनी सूक्ष्मतम हैं कि उसे काल्पनिक माना जाता है तथा शस्त्र नियन्त्रण को राज्य नीति का लक्ष्य स्वीकार किया जाता है।

निःशस्त्रीकरण और शस्त्र नियन्त्रण में महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि निःशस्त्रीकरण के समर्थक शस्त्रविहीन विश्व अथवा ऐसे विश्व की कल्पना करते हैं, जिसमें सैन्य बल प्रयोग की न्यूनतम सम्भावना हो। शस्त्र नियन्त्रण के पोषक अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में शस्त्र प्रणाली की भूमिका और उपादेयता को स्वीकार करते हैं। उनका मानना है कि शस्त्र एक निवारक के तौर पर तथा अवपीड़क राजनय के प्रभावी साधन के रूप में कार्य करते हैं, अतः वे वर्तमान ढाँचे के भीतर ही इस समस्या पर समाधान ढूंढते हैं।

निःशस्त्रीकरण केवल विद्यमान शस्त्रों के नियन्त्रण या उन्मूलन से सम्बन्ध रखता है, भावी हथियारों के उत्पादन से नहीं। परन्तु वास्तविकता यह है कि शस्त्र प्रौद्योगिकी के तीव्र विकास के फलस्वरूप शस्त्र बहुत शीघ्र अप्रचलित हो जाते हैं और उनसे उन्नत एवं परिष्कृत शस्त्रों का निर्माण होता जाता है। इन भावी शस्त्रों पर कैसे रोक लगायी जाये या किस प्रकार नियन्त्रण किया जाये, यह एक अहम प्रश्न है। जिस प्रक्रिया के माध्यम से भावी शस्त्रों के निर्माण पर रोक लगायी जाती है, वह शस्त्र नियन्त्रण कहलाती है। शस्त्र नियन्त्रण सैन्य क्षमता के अर्जन, प्रयोग तथा विस्तार पर प्रतिबन्ध को निर्दिष्ट करता है। इसका उद्देश्य भविष्य में शस्त्रों की परिमाणात्मक और गुणात्मक भरमार को रोकना और उसे नियन्त्रण में रखना है।

मॉगेन्थाऊ के शब्दों में, "निःशस्त्रीकरण का अर्थ शस्त्रों को कम करना या उन्हें नष्ट करना होता है, जबकि शस्त्र नियन्त्रण का सम्बन्ध सैन्य स्थिरता बनाने के लिये शस्त्रों की होड़ का नियन्त्रण करने से है।"

शस्त्र नियन्त्रण को दो वर्गों में बांटा जा सकता है, पहला, शस्त्र कटौती, और दूसरा, शस्त्र परिसीमन। शस्त्र कटौती का आशय सम्बद्ध राज्यों के मध्य परस्पर सहमति के आधार पर शस्त्रों की सीमा तय करने से है। इसे विश्वव्यापी या क्षेत्रीय स्तर पर लागू किया जा सकता है, यथा, 1817 का रश-बागोट समझौता, फिनलैंड द्वारा 1947 और ऑस्ट्रिया द्वारा 1955 में तटस्थीकरण की नीति और शस्त्रों पर नियन्त्रण की घोषणा, या 1967 का लेटिन अमेरिकी समझौता।

शस्त्र परिसीमन का अभिप्राय उन अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों से है, जिनका उद्देश्य युद्ध के समाघात को सीमित करना और उसके आकस्मिक प्रारम्भ को रोकना है। इसके अन्तर्गत संकट काल में नीति निर्माताओं के मध्य सतत सम्पर्क हेतु हॉटलाईन की व्यवस्था, विशिष्ट प्रकार के परमाणु परीक्षणों का अधिस्थगन, शस्त्रों की बिक्री और सैनिक प्रौद्योगिकी अन्तरण को रोकने सम्बन्धी समझौते सम्मिलित हैं।

शस्त्र नियन्त्रण केवल शस्त्र स्पर्धा का विनियमन है। वास्तव में यह शस्त्रों की दौड़ और होड़ में सम्मिलित दो या अधिक परस्पर-विरोधी गुटों के बीच उस सहमति को दर्शाता है, जिसके अन्तर्गत वे परस्पर स्पर्धा का, निर्धारित सीमाओं के भीतर अनुसरण करने के लिये प्रतिबद्ध होते हैं। दूसरे शब्दों में, यह एक ऐसी प्रतियोगिता है. जो नियन्त्रण के अधीन कार्य करती हैं।

मार्टिन वाइट के शब्दों में, "वास्तव में शस्त्र नियन्त्रण शस्त्र के प्रकारों और प्रयोगों में वृद्धि या पाबन्दी को सीमित करने का प्रयास है।"

9.4 निःशस्त्रीकरण एवं शस्त्र नियन्त्रण समझौतों का इतिहास

शान्ति अनुसंधान के इतिहास में निःशस्त्रीकरण प्रस्तावों को अपेक्षाकृत नूतन अध्याय कहा जा सकता है। वास्तव में निःशस्त्रीकरण आन्दोलन सही अर्थों में औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् अस्तित्व में आया, जब ऐसे जटिल शस्त्रों का निर्माण प्रारम्भ हुआ, जो मानव जाति के लिये गम्भीर चुनौती के रूप में उभरे और जिनके उन्मूलन को आवश्यक समझा गया।

शस्त्रों की कटौती के सम्बन्ध में 19वीं शताब्दी में कई महत्त्वपूर्ण संगठनात्मक प्रयास किये गये। इस क्षेत्र में पहला व्यवस्थित प्रयास रूस के ज़ार ने 1816 में ब्रिटिश सरकार के समक्ष रखा, जिसमें यूरोप में शस्त्रास्त्रों को सीमित करने का सुझाव दिया गया था। परन्तु 1817 में अमेरिका और कनाडा के बीच सम्पन्न रश-बागोट समझौते को 19वीं शताब्दी का सर्वाधिक सफल समझौता माना जाता है। 1899 और 1907 के हेग सम्मेलनों के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के द्वारा शस्त्रों को सीमित करने का पहला व्यवहारिक प्रयास किया गया, परन्तु उसका कोई सकारात्मक परिणाम नहीं हुआ। यद्यपि इन सम्मेलनों में युद्ध के संचालन तथा युद्ध की बर्बरता को कम करने से सम्बन्धित नियमों का निर्माण किया गया, तथापि निःशस्त्रीकरण के क्षेत्र में कोई ठोस उपलब्धि प्राप्त नहीं हो सकी।

प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् राष्ट्र संघ इस क्षेत्र में सक्रिय और प्रयासरत हुआ। इस युद्ध में हुये नरसंहार एवं विनाश के दुःखद अनुभव नें निःशस्त्रीकरण की आवश्यकता पर विशेष रूप से बल दिया। फलस्वरूप 1920 से 1939 तक राष्ट्र संघ के भीतर और बाहर इस दिशा में कई प्रयास किये गये। पेरिस शान्ति सम्मेलन (1919-1920) के दौरान निःशस्त्रीकरण का प्रश्न उठाया गया तथा इसके पहले चरण के अन्तर्गत प्रथम विश्व युद्ध के तीन पराजित राज्यों-जर्मनी, ऑस्ट्रिया तथा हंगरी की थल एवं जल सेनाओं पर प्रतिबन्ध लगाये गये। इसके अतिरिक्त राष्ट्र संघ संविदा, जो सम्मेलन में हस्ताक्षरित वर्साय सन्धि का अभिन्न अंग थी, की धारा 8 के अन्तर्गत निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में व्यवस्था की गयी तथा राष्ट्र संघ का यह दायित्व निर्धारित किया गया कि वह युद्ध के प्रभावी निवारक के रूप में निःशस्त्रीकरण की दिशा में प्रयत्नशील हो।

संविदा की धारा 8 में कहा गया था कि शान्ति की स्थापना के लिये राष्ट्रीय सुरक्षा के अनुकूल न्यूनतम बिन्दु तक राष्ट्रीय शस्त्रों में कमी करना आवश्यक है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये जनवरी 1920 में थल, जल एवं वायु सेना के विशेषज्ञों के एक स्थायी परामर्शदाता आयोग की स्थापना की गयी। आयोग ने अपने प्रतिवेदन में कहा कि तत्कालीन परिस्थितियों में शस्त्रों में कटौती उपयुक्त नहीं थी। तत्पश्चात् राष्ट्र संघ की सभा के सुझाव पर 1921 में एक अस्थायी मिश्रित आयोग की नियुक्ति की गयी, जिसमें सैनिक और असैनिक, दोनों प्रकार के विशेषज्ञ थे। आयोग द्वारा निःशस्त्रीकरण की दिशा में किये गये प्रयासों में 1923 की पारस्पिक सहायता की प्रारूप संधि तथा 1924 का जेनेवा प्रोटोकॉल सम्मिलित थे। परन्तु उपरोक्त प्रयास सफल सिद्ध नहीं हुये। 1925 में लोकर्नो संधियों के समपत्र होने के पश्चात निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में नयी आशा ने जन्म लिया। सभा की अनुशंसा

पर अस्थायी-मिश्रित आयोग को विघटित कर दिया गया तथा निःशस्त्रीकरम के सम्मेलन के प्रारम्भिक आयोग को गठित किया गया। इस आयोग को 'शस्त्रों की कटौती व परिमितता के लिये सम्मेलन की तैयारी' करने का कार्य सौंपा गया। पाँच वर्षों के निरन्तर प्रयास के बाद भी आयोग, निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी मतभेदों को नहीं सुव्यवस्थित सका तथा निशस्त्रीकरण के एक प्रारूप अभिसमय को पारित करके विघटित हो गया। उरोक्त अभिसमय 1932 के विश्व निःशस्त्रीकरण सम्मेलन के विचार विमर्श का आधार बना। यह सम्मेलन निःशस्त्रीकरण की दिशा में एक अति महत्वपूर्ण प्रयास था, परन्तु तत्कालीन परिस्थितियाँ इसके प्रतिकूल थीं, प्रतिभागी राज्यों में परस्पर अविश्वास और मतभेद, शस्त्र निर्माताओं के निहित स्वार्थों, क्रियात्मक कठिनाइयों और अन्ततः फ़ासीवाद, नाज़ीवाद एवं सैन्यवाद के उदय ने सम्मेलन की आशाओं पर पानी फेर दिया।

1920 के पश्चात् राष्ट्र संघ के बाहर भी कुछ मत्वपूर्ण सम्मेलनों का आयोजन किया गया, जिनमें निम्न उल्लेखनीय हैं- वांशिगटन सम्मेलन (1921-1922), जेनेवा सम्मेलन (1927), लंदन का प्रथम नौसैनिक सम्मेलन (1930) और द्वितीय सम्मेलन (1935-1936)

द्वितीय विश्व युद्ध की विभीषिका, अणुबम के अविष्कार, आणविक शस्त्रों के उत्पादन तथा हिरोशिमा और नागासाकी की घटनाओं ने निःशस्त्रीकरण को और अधिक प्रासंगिक बनाया। संयुक्त राष्ट्र चार्टर के निर्माण काल में निःशस्त्रीरण की मांग को दोहरया गया, फलस्वरूप चार्टर में निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी उपबन्धों की व्यवस्था की गयी तथा संयुक्त राष्ट्र निः शस्त्रीकरण की दिशा में विशेष रूप से सक्रिय और प्रयासरत हुआ। निःशस्त्रीकरण के क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्र की भूमिका की चर्चा अगले अध्याय में की जायेगी, परन्तु यहाँ पर यह स्पष्ट करना आवश्यक होगा कि संयुक्त राष्ट्र के साथ-साथ गुट-निरपेक्ष आन्दोलन ने भी निःशस्त्रीकरण की समस्या पर विचार-विमर्श के एक महत्वपूर्ण मंच के रूप में कार्य किया। इसके अतिरिक्त द्वितीय विश्व युद्धोत्तर काल में विभिन्न शान्ति आन्दोलनों और गैर-सरकारी संगठनों ने भी निःशस्त्रीकरण की आवश्यकता पर बल दिया।

यद्यपि उपरोक्त प्रयासों ने निःशस्त्रीकरण वार्ताओं के लिये अनुकूल वातावरण का निर्माण किया, तथापि शीत युद्ध की राजनीति ने बहुत शीघ्र ही इस वातावरण को नकारात्मक रूप से प्रभावित करना प्रारम्भ कर दिया तथा वार्ताओं पर शीत युद्ध संश्रय हावी हो गये। 1960 के दशक में जब तक सोवियत संघ ने अमेरिका के साथ परमाणु समता प्राप्त नहीं की थी, दोनों महाशक्तियाँ इस सम्बन्ध में अवास्तविक और कपटी रूख अपनाये हुये थी। इसके उपरान्त दोनों पक्ष निःशस्त्रीकरण और शस्त्र नियंत्रण वार्ताओं, विशेष रूप से परमाणु शस्त्र सम्बन्धी वार्ताओं, के प्रति गम्भीर हुये और उनके मध्य महत्वपूर्ण समझौते सम्पन्न हुये, जिनमें 1972 का 'साल्ट-I' समझौता उल्लेखनीय है।

द्वितीय शीत युद्धकाल (1979-89) में दोनो महाशक्तियाँ पुनः शस्त्र स्पर्धा में रत हुयीं, परन्तु यह अनुभव करती रही कि परमाणु शस्त्रों पर कोई समझौता होना चाहिये, जिससे उन्हें आर्थिक खर्च में राहत मिल सके। 1985 में सोवियत संघ में मिखाइल गोर्बाच्योव के सत्ता में आने पर न केवल दोनों महाशक्तियों के बीच निःशस्त्रीकरण की रूकी हुयी वार्तायें पुनः प्रारम्भ हुयीं, बल्कि नवींन समझौतों का मार्ग भी प्रशस्त हुआ। गोर्बाच्योव द्वारा शस्त्र नियंत्रण के मामले में किये गये अभूतपूर्व नेतृत्व तथा विश्वव्यापी प्रतिबद्धताओं से, एकपक्षीय वापसी की पहल ने अमेरिका को भी उपयुक्त प्रत्युत्तर देने के लिये बाध्य किया। इसके फलस्वरूप मध्यम दूरी प्रक्षेपास्त्र संधि (1987), वार्सा तथा नाटों के मध्य ऐतिहासकि संधि (1990), स्टार्ट प्रथम संधि (1991), स्टार्ट द्वितीय संधि (1993)

सम्पन्न हुयीं। इसके साथ ही वर्ष 1991 में अमेरिका द्वारा सामरिक हथियारों में कटौती की तथा सोवियत संघ द्वारा परमाणु शस्त्रों में कमी करने की घोषणा की गयी। अध्याय 3.6 में उपरोक्त सभी समझौतों की विस्तार से चर्चा की जायेगी।

9.5 संयुक्त राष्ट्र और निःशस्त्रीकरण

यद्यपि संयुक्त राष्ट्र चार्टर के उद्देश्यों एवं सिद्धान्तों में निःशस्त्रीकरण का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है, तथापि चार्टर की विभिन्न धाराओं के अन्तर्गत महासभा एवं सुरक्षा परिषद को इस सम्बन्ध में दायित्व सौंपा गया है। धारा 11 में कहा गया है: 'महासभा निःशस्त्रीकरण तथा शस्त्रों के अभियोजन सम्बन्धी सिद्धान्त सहित अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा के संधारण हेतु सहयोग के सामान्य सिद्धान्तों पर विचार विमर्श कर सकती है तथा सदस्यों या सुरक्षा परिषद या दोनों को ऐसे सिद्धान्तों के सन्दर्भ में अनुशंसा कर सकती है।'' धारा 26 के अन्तर्गत उल्लिखित है: ''अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा की स्थापना एवं संधारण को इस प्राकार प्रोत्साहन देने के लिये, जिससे कि विश्व के मानव एवं आर्थिक संसाधनों का शस्त्रास्त्रों की ओर कम से कम विपथन हो, सुरक्षा परिषद का यह दायित्व होगा कि वह धारा 47 में वर्णित सैनिक स्टाफ समिति की सहायता से ऐसी योजनाओं का निरूपण कर संयुक्त राष्ट्र के सदस्यों के समक्ष रखे, जिनसे शस्त्रों के नियमन की एक व्यवस्था की स्थापना हो सके।''

निःशस्त्रीकरण पर विचार करने वाला प्रमुख संगठन संयुक्त राष्ट्र की महासभा है। महासभा के निःशस्त्रीकरण से सम्बन्धित दो सहायक निकाय हैं। पहला निकाय है, निःशस्त्रीकरण एवं अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा समिति (प्रथम समिति) जो महासभा के नियमित अधिवेशन के बीच बैठक करती है तथा महासभा की विषय सूची के समस्त निःशस्त्रीकरण विषयों पर विचार विमर्श करती है। समिति के कार्य हैं-निःशस्त्रीकरण पर हुये महासभा के विशेष अधिवेशनों की अनुशंसाओं के कार्यान्वय की समीक्षा, परमाणु युद्ध रोकने सम्बन्धी विषयों पर विचार, परमाणु शस्त्र मुक्त क्षेत्र की स्थापना, सैनिक बजट का निर्माण, रासायनिक और जैविक शस्त्रों के उपयोग या उसकी धमकी के विरूद्ध परमाणु शस्त्र विहीन राज्यों की सुरक्षा की व्यवस्था, तथा पम्परागत निःशस्त्रीकरण हेतु अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन के निर्णयों का कार्यान्वयन। महासभा का दूसरा सहायक निकाय, निःशस्त्रीकरण आयोग कहलाता है। इसके द्वारा विशिष्ट विषयों पर ध्यान केन्द्रित कर विचार विमर्श किया जाता है। इसकी कार्यसूची में निम्न विषय सम्मिलित है: निःशस्त्रीकरण के व्यापक कार्यक्रम के तत्व, परमाणु निःशस्त्रीकरण, निःशस्त्रीकरण और विकास का सम्बन्ध, परम्परागत निःशस्त्रीकरण, विश्वास पैदा करने वाले उपाय, जांच के विषय, सैनिक व्यय में कटौती तथा दक्षिण अफ्रीका की परमाणु क्षमता का प्रश्न।

निःशस्त्रीकरण आयोग के अतिरिक्त महासभा की विभिन्न समितियाँ तथा कार्यकारी दल निःशस्त्रीकरण पर सक्रिय रूप से विचार करते हैं। इसके अतिरिक्त निःशस्त्रीकरण मामलों पर सलाहकार बोर्ड, अनुसंधान संस्थान तथा विशेषज्ञ अभिकरण भी कार्यरत हैं। संयुक्त राष्ट्र सचिवालय का अपना निःशस्त्रीकरण विभाग भी है, जो सैन्य विषयों पर संवाद, पारदर्शिता एवं विश्वास निर्माण को सशक्त बनाने तथा क्षेत्रीय निःशस्त्रीकरण प्रयासों को प्रोत्साहित करता है। किसी संघर्ष के बाद व्यवहारिक उपायों के विकास एवं कार्यान्वयन को समर्थन, जैसे लड़ाकू लोगों को शस्त्र विहीन करना एवं नागरिक समाज में पुनः सम्मिलित होने में साहयता देना आदि कार्य भी उपरोक्त विभाग द्वारा

किये जाते हैं।

चार्टर में निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में सीमित भूमिका के उपरान्त भी संयुक्त राष्ट्र द्वारा इस विषय को विशेष महत्व प्रदा किया गया है। इसी महत्व के दृष्टिगत संयुक्त राष्ट्र द्वारा 1970 एवं 1980 के दशकों को निःशस्त्रीकरण दशक घोषित किया गया। इसके अतिरिक्त महासभा द्वारा 1978, 1982 तथा 1988 में निःशस्त्रीकरण पर चर्चा करने के लिये विशेष अधिवेशन बुलाये गये। प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से संयुक्त राष्ट्र निरंतर इस दिशा में कार्य कर रहा है। परमाणु युग के आरम्भ होने के कुछ ही दिनों बाद संयुक्त राष्ट्र का गठन हुआ। जनवरी 1946 में पहले प्रस्ताव से ही संयुक्त राष्ट्र का उद्देश्य परमाणु शस्त्रों में कटौती एवं अन्ततः उनकी समाप्ति रहा है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये गत दशकों में अनेक उपाय अपनाये गये हैं। इनमें परमाणु शस्त्रों को नष्ट करना, उनके उत्पादन पर रोक लगाना, शस्त्र निर्माण में विखंडन सामग्री के उत्पादन की पूर्ण समाप्ति और परमाणु शस्त्र मुक्त क्षेत्रों की स्थापना सम्मिलित है। संयुक्त राष्ट्र ने परमाणु शस्त्रों को घटाने के साथ-साथ उनको पूर्णतः समाप्त करने के प्रस्तावों पर भी विचार किया है।

संयुक्त राष्ट्र के द्वारा रासायिक हथियारों के विनाश तथा जैविक हथियारों के उपयोग पर प्रतिबंध को शक्तिशाली बनाने के कार्य को उच्चतम प्राथमिकता दी गयी है, क्योंकि ये शस्त्र मानव जाति को गम्भीर खतरा पहुँचा सकते हैं और इस दृष्टि से सामूहिक विनाश के शस्त्र हैं।

संयुक्त राष्ट्र ने सैनिक या किसी दूसरे शत्रुतापूर्ण कार्य के लिये पर्यावरण परिवर्तन तकनीक के उपयोग पर रोक लगाने के लिये समझौता सम्पन्न करने की भी पहल की, जिसके परिणामस्वरूप 1977 में ''इनमोड'' पर हस्ताक्षर किये गये।

इसके अतिरिक्त संगठन रेडियोधर्मी सामग्री युक्त शस्त्रों, जिन्हें सामान्यतया विकिरण शस्त्र कहा जाता है, के उत्पादन, प्रयोग तथा भंडारण पर प्रतिबंध लगाने के सम्बन्ध में संधि तैयार करने पर भी विचार कर रहा है।

जहाँ तक परम्परागत शस्त्रों के उपयोग के नियमन का प्रश्न है, संयुक्त राष्ट्र द्वारा 1980 में इस संबंध में एक सम्मेलन बुलाया गया, जिसमें अत्यधिक हानिकारक अथवा बुरे प्रभाव वाले कतिपय परम्परागत शस्त्रों का उपयोग निषेध करने या उन पर प्रातिबन्ध लगाने पर एक समझौता किया गया, जो अमानवीय शस्त्र समझौता कहलाता है।

इसके अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्र हल्के एवं छोटे हथियारों के अस्थिरताकारी प्रसार तथा बारूदी सुरंगो की समस्या पर भी गम्भीरता से विचार कर रहा है। हल्के एवं छोटे हथियारों के अवैध व्यापर एवं उसके सभी पक्षों पर 2001 में संयुक्त राष्ट्र का सम्मेलन बुलाया गया तथा 1997 में भू-सुरंगो के उपयोग, बिक्री, जमाव, स्थानान्तरण तथा उत्पादन पर रोक लगाने के लिये कार्मिक विरोधी सुरंग (भूमि) संधि सम्पन्न हुयी। संगठन ने प्रक्षेपास्त्र तकनीक के विस्तार के विरूद्ध समझौता जन्य बहुपक्षीय नियमों की आवश्यकता पर विचार आरम्भ कर दिया है तथा साथ ही सूचना एवं दूर संचार तकनीकी के अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा पर पड़ सकने वाले प्रभाव को पता लगाने का कार्य किया जा रहा है।

शस्त्र हस्तांतरण में पारदर्शिता स्तर को बढ़ाने तथा सम्बद्ध राज्यों के मध्य विश्वास निर्माण एवं सुरक्षा में योगदान देने के लिये 1992 में संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा परम्परागत शस्त्रों का संयुक्त राष्ट्र रजिस्टर स्थापित किया गया। इसके अन्तर्गत राज्य सरकारें बड़ी शस्त्र प्रणालियों, जैसे, विमान, टैंक, लड़ाकू जहाज, तोपखाना, प्रक्षेपास्त्र में उनके अन्तरण के विषय में ऐच्छिक आधार पर सूचना

प्रदान करती है, जिसे प्रतिवर्ष संयुक्त राष्ट्र के दस्तावेज के रूप में प्रकाशित किया जाता है। सैन्य विषयों में पारदर्शिता प्रोत्साहित करनें के लिये 1980 से लागू एक अन्य वैश्विक प्रणाली. सैन्य व्ययों की मानकीकृत सूचना के निमित्त संयुक्त राष्ट्र प्रणाली है।

निःशस्त्रीकरण सूचना कार्यक्रम के अन्तर्गत संयुक्त राष्ट्र सूचना एवं दूर पहुँच वाली गतिविधियाँ सम्पन्न करता है। इनका उद्देश्य अतर्राष्ट्रीय समुदाय को सूचना देना, शिक्षित करना तथा शस्त्र नियंत्रण एवं निःशस्त्रीकरण के क्षेत्र में संयुक्तं राष्ट्र के उद्देश्यो के प्रति सार्वजनिक समझ एवं समर्थन पैदा करना है। इनमें सम्मिलित गतिविधियों में प्रमुख हैः प्रकाशन, संगोष्ठियाँ प्रदर्शनियाँ, एवं वेबसाइट।

9.6 निःशस्त्रीकरण तथा शस्त्र नियंत्रण समझौते

द्वितीय विश्व युद्धोत्तर काल में हुये निःशस्त्रीकरण एवं शस्त्र नियंत्रण के प्रमुख समझौतों को तीन वर्गो में बांटा जा सकता है। पहले वर्ग में वे समझौते आते हैं, जो संयुक्त राष्ट्र और राष्ट्रीय सरकारों के संयुक्त प्रयासों से सम्पन्न हुये। दूसरे वर्ग में महाशक्तियों के मध्य सम्पन्न प्रमुख द्विपक्षीय समझौते सम्मिलित हैं। तीसरे वर्ग में बहुपक्षीय समझौते आते हैं, जिन्हें उपरोक्त समझौतों के पूरक रूप में सम्पन्न किया गया।

संयुक्त राष्ट्र और राष्ट्र सरकारों द्वारा संयुक्त रूप से सम्पन्न समझौते

(i) **अंटार्कटिक संधिः** 1959: परमाणु शस्त्र मुक्त क्षेत्र की अवधारणा को व्यवहारिक रूप प्रदान करने वाली पहली संधि, जिसमें अंटार्कटिक (दक्षिण ध्रुव प्रदेश) महाद्वीप तथा दक्षिण अक्षांश के 60 अंश दक्षिण क्षेत्र में सैन्यीकरण तथा परमाणुकरण न होने देने की व्यवस्था की गयी। इस प्रदेश में किसी भी सैनिक अभ्यास, शस्त्र परीक्षण, सैनिक अड्डों के निर्माण तथा रेडियोंधर्मी कचरे को डालना वर्जित किया गया है। 1991 में मेड्रिड में हुये एक समझौते में संधि के हस्ताक्षरकर्ता राज्यों ने क्षेत्र के खनिज दोहन पर पचास वर्षों के लिये प्रतिबंध लगा दिया है, साथ ही महाद्वीप के असैन्यीकरण, सभी देशों के लिये वैज्ञानिक अनुसंधान करने के अधिकार तथा पर्यावरण के विश्लेषण के लिये एक प्रणाली की भी व्यवस्था की है।

(ii) **आंशिक परीक्षण प्रतिबन्ध संधि; 1963:** जैसा कि नाम से स्पष्ट है, यह संधि परमाणु परीक्षण की समस्या को सम्बोधित करती है। परमाणु परीक्षण समान्यतया नये परमाणु शस्त्रों के विकास, पुराने परमाणु शस्त्रों की विश्वसनीयता बनाये रखने, उनको आगे और अधिक परिष्कृत करने या ऐसे शस्त्रों के प्रसार के साथ जुड़ा हुआ है। यह संधि सोवियत संघ, अमेरिका और ब्रिटेन के मध्य 1963 में की गयी तथा इसके द्वारा भूगर्भ परीक्षणों को छोड़ कर वायुमंडल, बाहय अंतरिक्ष तथा पानी के नीचे परमाणु शस्त्र परीक्षण पर प्रतिबंध लगाया गया। संधि को इस अर्थ में महत्वपूर्ण कहा जा सकता है कि इसने भविष्य में एक व्यापक परमाणु अप्रसार संधि का मार्ग प्रशस्त किया। परन्तु यह दो दृष्टि से असफल सिद्ध हुयी। पहला, चीन और फ्रांस ने इस प्रकार हस्ताक्षर नहीं किये और वायुमंडल में परीक्षण करना जारी रखा। दूसरा, संधि ने भूगर्भ परीक्षण की अनुमति देकर परमाणु शस्त्रों के ऊर्ध्वगामी

प्रसार प्रोत्साहित किया।

(iii) **बाह्य आकाश संधि; 1967:** इस संधि में बाह्य आकाश में परमाणु शस्त्रों को स्थापित करने या परिक्रमा कराने पर प्रतिबन्ध है। यह सन्धि बाह्य आकाश के किसी भी भाग पर राष्ट्रीय सम्प्रभुता के दावे का निषेध करती है तथा चंद्रमा एवं आकाशीय पिंडों पर सैनिक अड्डे स्थापित करने की मनाही करती है। संधि के अनुसार बाह्य आकाश का प्रयोग वैज्ञानिक शोध और शान्तिपूर्ण उद्देश्यों के लिये किया जायेगा।

(iv) **लेटिन अमेरिकी परमाणु मुक्त क्षेत्र संधि (टलाटेलोलकोसंधि); 1967:** यह एक शस्त्र नियंत्रण सम्बन्धी समझौता है, जिसके अन्तर्गत लेटिन अमेरिकी क्षेत्र में परमाणु शस्त्र मुक्त क्षेत्र की स्थापना की गयी। संधिकर्ता राज्यों ने संधि में इस बात की प्रतिज्ञा की है कि वे अपनी राष्ट्रीय सीमाओं के भीतर न तो स्वयं किसी भी प्रकार के परमाणु शस्त्र का परीक्षण, उत्पादन या अधिग्रहण होने देंगे और न ही किसी बाह्य शक्ति को ऐसा करने या इन शस्त्रों को रखने या उपयोग करने की अनुमति देंगे। विश्व के किसी घनी आबादी वाले क्षेत्र में पहली बार एक परमाणु शस्त्र मुक्त क्षेत्र की स्थापना की गयी, जिसके द्वारा क्षेत्रीय शस्त्र नियंत्रण की दिशा में नयी शुरूआत हुयी। तब से आज तक इसी तरह के तीन अन्य क्षेत्र स्थापित किये जा चुके हैं-दक्षिणी प्रशांत में (रारोटोंगा संधि, 1985), दक्षिण पूर्व एशिया में (बैंकाक संधि, 1995) एवं अफ्रीका मे (पेलिन डाबा संधि, 1996)। मध्य एशिया, मध्य यूरोप तथा दक्षिण एशिया में भी इस प्रकार के क्षेत्रों की स्थापना प्रस्तावित है। मंगोलिया द्वारा अपने क्षेत्र को परमाणु शस्त्रों से मुक्त रखने की घोषणा को समर्थन देकर संयुक्त राष्ट्र ने परमाणु शस्त्र मुक्त देश की अवधारणा को स्वीकृति प्रदान की है।

(v) **परमाणु अप्रसार संधि (एन0पी0टी0); 1968:** यह एक बहुपक्षीय शस्त्र नियंत्रण समझौता है, जो 1970 में प्रभावी हुआ। यह परमाणु शस्त्रों के क्षैतिज प्रसार पर रोक लगाता है। संधि की मुख्य धाराओं के अनुसार परमाणु शस्त्र सम्पन्न राज्य इस बात के लिये प्रतिबद्ध हैं कि वे परमाणु शस्त्र या परमाणु विस्फोट यंत्र किसी को हस्तांतरित नहीं करेंगे तथा परमाणु शस्त्र विहीन राज्य इस बात के लिये वचनबद्ध हैं कि वे उपरोक्त शस्त्रों को प्राप्त नहीं करेंगे उनका निर्माण नहीं करेंगी और न अन्यथा उनका अभिग्रहण करेंगे। संधि का प्रधान उद्देश्य परमाणु प्रौद्योगिकी को शान्तिपूर्ण कार्यो के लिये उपलब्ध कराना है और इस दृष्टि से परमाणु शक्ति सुविधाओं के सम्बन्ध में यह संधि तकनीक हस्तांतरण को जारी रखने की अनुमति देती है।

आरम्भ में संधि को 25 वर्षों के लिये लागू किया गया था। 1995 में इस अवधि की समाप्ति पर एक समीक्षा समस्मेलन का न्यूयार्क में आयोजन किया गया, जिसमें संधि को अनिश्चित काल तक जारी रखने का निर्णय लिया गया। इस संधि को वैश्विक अप्रसार शासन की आधारशिला माना जाता है, परन्तु साथ ही यह आरोप भी लगाया गया है कि यह परमाणु राज्यों द्वारा परमाणु शस्त्रों के धारण को कानूनी मान्यता प्रदान करती है। परमाणु सम्पन्न और परमाणु विपन्न राज्यों के बीच भेदभाव, तथा दोषपूर्ण निरीक्षण प्रणाली ने संधि की विश्वसनीयता को क्षति पहुँचायी है।

(vi) **समुद्र तल संधि; 1971:** इस संधि के अतर्गत हस्ताक्षरकर्ता राज्यों के समुद्र तट की 12

मील बाह्य सीमा के बाहर किसी प्रकार के परमाणु शस्त्र या व्यापक विनाश के दूसरे शस्त्रों को स्थापित करने के लिए समुद्र तट, महासमुद्रीय तल तथा महासमुद्रीय अवमृदा का उपयोग करने पर प्रतिबन्ध लगाया गया है। संधि में इस प्रकार शस्त्रों में के भंडारण, परीक्षण या उपभोग के लिये किसी प्रकार की सुविधायें देने का भी निषेध किया गया है।

(vii) **जैविक शस्त्र अभिसमय; 1972:** संयुक्त राष्ट्र महासभा की निःशस्त्रीकरण समिति द्वारा तैयार किया गया यह अभिसमय जैव शस्त्रों के विकास, उत्पादन और भंडारण पर रोक लगता है तथा युद्ध में उपयोग आने वाले सभी जैव कारकों, विषैले पदार्थों, शस्त्रों, उपकरणों तथा वितरण साधनों को नष्ट करने पर बल देता है। कीटाणु शस्त्र समझौते के नाम से विख्यात यह पहला अन्तर्राष्ट्रीय समझौता है, जिसने शस्त्रों की सम्पूर्ण श्रेणियों पर प्रतिबंध लगा कर वास्तविक रूप से निःशस्त्रीकरण के लिये उपाय किये है, परन्तु इसके क्रियान्वयन के लिये किसी संगठनात्मक ढाँचे अथवा जांच प्रणाली का कोई प्रावधान नहीं है।

(viii) **पर्यावरण परिष्कार प्रौद्योगिकी के सैनिक उपयोग अथवा दुरूपयोग पर प्रतिबन्ध लगाने सम्बन्धी समझौता; 1977:** जेनेवा में निःशस्त्रीकरण समिति के सम्मेलन में किया गया समझौता, जो 'इनमोड समझौते' के नाम से भी जाना जाता है। इसमें सम्बन्धित पक्षों के लिये यह व्यवस्था की गयी है कि वे पर्यावरणीय परिवर्तन तकनीकी का उपयोग ऐसे सैनिक और अन्य शत्रुतापूर्ण कार्यों के लिये नहीं करेंगे, जो किसी अन्य राज्य को नष्ट करने, क्षति पहुँचाने या नुकसान पहुँचने के लिये हों और जिनके दीर्घकालिक, व्यापक या गम्भीर प्रभाव होंगे। संक्षेप में, यह समझौता युद्ध के साधन के रूप में पर्यावरण परिवर्तन तकनीकी के उपयोग का निषेध करता है।

(ix) **आकाशीय पिंड समझौता; 1979:** इस समझौते के अन्तर्गत चन्द्रमा और अन्य आकाशीय पिंडों पर राज्यों की गतिविधियों को प्रतिबंधित किया गया है।

(x) **अमावीय शस्त्र समझौता; 1980:** परम्परागत शस्त्रों के उपयोग को नियमित करने के लिये सम्पन्न इस समझौते में अत्यधिक हानिकारक अथवा बहुत बुरे प्रभाव वाले कुछ परम्परागत शस्त्रों के उपयोग पर प्रतिबंध लगाया गया है। तीन प्रोटोकॉल सहित इस समझौते में सैनिक कार्मिकों और विशेषकर असैनिक व्यक्तियों और असैनिक सम्पत्ति की रक्षा के लिये नियम बनाये गये। समझौते में मुख्यतः क्रूर और ऐसे अमानवीय परम्परागत शस्त्रों के उपयोग को, जो शरीर का विखंडन कर देते है, का निषेध किया गया है तथा आग लगाने वाले शस्त्रो, भूमि पर सुरंग बिछाने तथा छल बम के उपयोग को प्रतिबंधित किया गया है।

(xi) **रासायनिक शस्त्र अभिसमय; 1993:** जेनेवा प्रोटोकॉल द्वारा विषैली गैस वाले शस्त्रों पर प्रतिबन्ध लगाया गया था। 1993 में पेरिस में सम्पन्न उपरोक्त अभिसमय के 1997 में लागू होने के साथ, 1925 में प्रारम्भ हुयी प्रक्रिया पूर्ण हुयी। रासायनिक युद्ध पर नियंत्रण रखने वाली यह अब तक की सबसे व्यापक और महत्वाकांक्षी विश्व व्यवस्था है। इसमें रासायनिक शस्त्रों के विकास, निर्माण, भंडारण तथा प्रयोग पर पूर्ण प्रतिबंध लगाया गया है। हस्ताक्षरकर्ता राज्यों से यह अपेक्षा की गयी है कि वे एक से पंद्रह वर्षों के भीतर अपने रासायनिक शस्त्रों को नष्ट कर देंगे। समसझौते में न केवल युद्ध में काम आने वाले

रासायनों बल्कि उन माध्यमिक पदार्थों को भी सम्मिलित किया गया है, जो ऐसे रासायनों के विकास में सहायक हो सकते हैं। संधि के दायित्वों के अनुपालन के निरीक्षण के लिये कठोर अन्तर्राष्ट्रीय जांच तंत्र स्थापित किया गया है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये हेग में रासायनिक शस्त्रों के प्रतिबंध के निमित्त संगठन ने वर्ष 2000 तक 44 पक्ष राज्यों में कुल 850 रासायनिक शस्त्र उत्पादन सुविधाओं के निष्क्रिय कर दिये जाने की पुष्टि की।

(xii) व्यापक परमाणु परीक्षण प्रतिबंध संधि (सीटीबीटी); 1996: समस्त विश्व में किये जाने वाले परमाणु परीक्षणों पर रोक लगाने के उद्देश्य से महासभा के द्वारा 10 सितम्बर 1996 को पारित हुयी संधि। संधि को प्रभावी बानाने के लिये उन सभी 44 देशों को संधि पर हस्ताक्षर करना तथा अनुमोदित करना आवश्यक है, जिनके पास परमाणु रिएक्टर हैं। संधि सभी प्रकार के परमाणु शस्त्र परीक्षण विस्फोटों पर प्रतिबंध लगाती है। यह एक ऐसा लक्ष्य है जिसे मूलतः वर्ष 1954 में प्रस्तावित किया गया था तथा चार दशकों से उसे प्राप्त करने का प्रयास किया जा रहा था। संधि ने परमाणु परीक्षण विस्फोटों पर 1963 के आंशिक प्रतिबंध को बढ़ा दिया है। संधि का उल्लंघन रोकने के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय विश्लेषण प्रणाली स्थापित की जायेगी। 1,000 टन क्षमता वाले परम्परागत विस्फोटों से अधिक शक्तिशाली विस्फोट-भूमिगत, वायुमंडलीय या अन्तर्जलीय-का पता लगाने के लिये 20 स्टेशनों वाला एक नेटवर्क स्थापित किया जायेगा। संधि में परमाणु निःशस्त्रीकरण का कोई प्रावधान नहीं रखा गया है, यह केवल नये विस्फोट रोकने की बात करती है, नयी तकनीकी के विकास एवं नये परमाणु शस्त्रों के विषय में सर्वथा मौन है। संधि व्यापक नहीं है, यह मात्र परमाणु शस्त्र परीक्षण पर प्रतिबंध लगाती है, सदस्य राज्य कम्प्यूटर-अनुरूपित परीक्षण के माध्यम से अपनी शस्त्र प्रणाली को और अधिक परिष्कृत बना सकते हैं। निःसंदेह संधि के अन्तर्गत पाँच परमाणु शस्त्र सम्पन्न राज्यों को स्पष्ट लाभ की स्थिति में रखा गया है।

निःशस्त्रीकरण तथा शस्त्र नियंत्रण पर महाशक्तियों के मध्य सम्पन्न प्रमुख द्विपक्षीय समझौते

शीतयुद्ध काल और शीतयुद्धोत्तर काल में दोनों महाशक्तियों-अमेरिका और भूतपूर्व सोवियत संघ-के मध्य परस्पर सीधी, द्विपक्षीय वार्ता पर आधारित प्रमुख समझौतों का निम्न विवरण प्रस्तुत है:

(i) सामरिक शस्त्र परिसीमन वार्ता (साल्ट-I); 1972: सामरिक शस्त्रों के परिसीम के लिये अमेरिका और सोवियत संघ के मध्य हुयी द्विपक्षीय वार्ताओं को सामरिक शास्त्र परिसीमन वार्ताओं के नाम से जाना जाता है। इन वार्ताओं ने दो समझौतों को जन्म दिया-साल्ट-I और साल्ट II। दोनों का उद्देश्य परमाणु शस्त्रो की प्रतिस्पर्धा पर रोक लगाना था।

साल्ट-I का विकास महाशक्तियों के बीच 1969 में प्रारम्भ हुयी वार्ताओं के आधार पर हुआ, जो 1972 में सम्पन्न हुयी। इस समझौते में दो पृथक समझौते सम्मिलित थे-(अ) प्रक्षेपास्त्र विरोधी प्रणाली (ए0बी0एम0) का परिसीमन, तथा; (ब) सामरिक प्रहारक शस्त्र परिसीमन पर अन्तरिम समझौता। ए0बी0एम0 संधि की अवधि असीमित थी, जबकि समझौता केवल पाँच वर्षों के लिये प्रभावी था। एबीएम संधि में दोनों पक्षों ने समुद्र पर, वायुमंडल में, अंतरिक्ष में तथा चलते-

फिरते भूमि पर आधारित एबीएम प्रणालियों का विकास, परीक्षण और उन्हें उपयोग में न लाने का वचन दिया। अन्तरिम समझौते की शर्तों के अनुसार सम्बन्धित पक्षों ने भूमि-आधारित आईसी0बी0एमो का निर्माण प्रारम्भ न करने के लिये सहमति जतायी।

(ii) साल्ट II; 1979: 1977 में साल्ट-I की समाप्ति के बाद दोनों महाशक्तियों ने एक नये समझौते के लिये वार्तायें प्रारम्भ कीं। इन वार्ताओं के परिणामस्वरूप 1979 में विएना में साल्ट-II पर हस्ताक्षर किये गये। इस संधि के अन्तर्गत दोनों देशों ने दिसम्बर 1985 तक अन्तरमहाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों और पनडुब्बी से प्रक्षेपित किये जाने वाले प्रक्षेपास्त्रों की संख्या दो-दो हजार तक परिसीमित करने का लक्ष्य रखा। इसके अतिरिक्त दोनों पक्ष अत्यधिक अस्थिरता पैदा करे वाले सामरिक शस्त्रों को सीमित करने, अचानक आक्रमण के अवसर कम करने, जोखिम से उभारने वाले सामरिक हथियारों और उनमें गुणात्मक सुधारों को सीमित करे पर सहमत हो गयें। परन्तु अमेरिकी सीनेट द्वारा अनुमोदित होने से पूर्व ही 1979 में अफ़गानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप के कारण साल्ट-II संकटग्रस्त हो गयी तथा उसका कभी भी अनुमोदन नहीं हो पाया।

(iii) मध्यम दूरी परमाणु बल संधि/आर0एन0 एफ0 संधि; 1983: मध्यम दूरी के परमाणु प्रक्षेपास्त्रों को समाप्त करने के लिये अमेरिका और सोवियत संघ के मध्य 8 दिसम्बर 1987 को हस्ताक्षरित संधि, जिसे महाशक्तियों द्वारा परमाणु निःशस्त्रीकरण की दिशा में सर्वप्रथम प्रयास कहा जा सकता है। संधि के अनुसार दोनों पक्षों ने इस उत्तरदायित्व को ग्रहण किया कि वे अपनी भूमि से छोड़ी जाने वाली सभी मझौली दूरी और अल्प दूरी के प्रक्षेपास्त्रो, उनके लांचरों तथा अन्य समर्थन देने वाले उपकरण समाप्त कर देंगे। 1989 में वार्सा संधि की समाप्ति और सोवियत संघ के विघटन के पश्चात् आई0आर0ए0एफ0 संधि का सामरिक महत्व नगण्य हो गया है।

(iv) सामरिक शस्त्र कटौती वार्ता-I (स्टॉर्ट-I); 1991 : सामरिक परमाणु शस्त्रों में कटौती के सम्बन्ध में महाशक्तियों के बीच 1982 में वार्ता प्रारम्भ हुयी तथा 1991 में सम्पन्न हुयी। इसी वर्ष सामरिक शस्त्र कटौती संधि पर हस्ताक्षर किये गये। संधि के अनुसार प्रत्येक पक्ष अधिकतम 1,600 सामरिक परमाणु प्रक्षेपण वाहन अर्थत् आई0सी0बी0एम0 एस0एल0बी0एस0 और भारी बमवर्षक रख सकता है तथा अधिकतम 6,600 उत्तरदायी स्फोटक शीर्ष रख सकता है। यह संधि 15 वर्षों के लिये लागू की गयी है। इसके बाद दोनों पक्षों द्वारा परस्पर सहमति से इसे पाँच-पाँच वर्षों के लिये बढ़ाया जा सकता है।

(v) स्टार्ट-II; 1993: ``शताब्दी की संधि'' के नाम से विख्यात यह समझौता स्टार्ट-I का अगला चरण है। शीतयुद्धोत्तर काल में, जब परमाणु शस्त्र दोनों देशों, अमेरिका और रूस, के लिये समस्या बने गये हैं, तब वे उनमें कटौती चाहते हैं। इस संधि का उद्देश्यों दोनों देशों के परमाणु शस्त्रों में दो-तिहाई कटौती करना है तथा अपरमाणुकरण और अप्रसार पर बल देना है। संधि के अन्तर्गत यह प्रावधान किया गय है कि 1 जनवरी 2003 के बाद दोनों देश अधिकतम 3,500 स्फोटक शीर्ष रखेंगे, एम0आई0आर0बी0 स्फोटक शीर्ष वाले भूमि आधारित प्रक्षेपास्त्रों को पूर्णतः नष्ट कर देंगे, एस0एल0बी0एम0 की अधिकतम संख्या 1,750 कर दी जायेगी तथा मानवसिहत बमवर्षकों की संख्या में भारी कटौती की जायेगी। अमेरिका ने 1996 में और रूस ने 2000 में इस समझौते का अनुमोदन कर दिया तथा समझौते के क्रियान्वयन की सीमा वर्ष 2007 तक के लिये बढ़ा दी गयी है।

वर्तमान में स्टार्ट-III के लिये वार्तायें चल रही है, यदि ये सफल हो जाती हैं तो दोनों देशों के पास परमाणु स्फोटक शीर्षों की संख्या सिमट कर 2000 से 2,500 हो जायेगी।

बुहपक्षीय समझौते

संयुक्त राष्ट्र और राष्ट्रीय सरकारों के संयुक्त प्रयासों द्वारा सम्पन्न, तथा महाशक्तियों के बीच सम्पन्न निःशस्त्रीकरण एवं शस्त्र नियंत्रण समझौतों के पूरक रूप में कुछ बहुपक्षीय समझौतों पर भी हस्ताक्षर किये गये हैं। उदाहरण स्वरूप 'नाटों' एवं 'वार्सा संधि संगठन' के सदस्यों के मध्य 1973 में विएना में हुयी वार्ता, जिसके अन्तर्गत मध्य यूरोप में तनाव को कम करने हेतु, सेनाओं में पारस्परिक एवं संतुलित कटौती का उल्लेख किया गया।

इसके अतिरिक्त 'यूरोप में सुरक्षा और सहयोग सम्मेलन' के अन्तर्गत 1975 म सम्पन्न हेलसिंकी समझौता भी महत्वपूर्ण है, जिस पर 'नाटो' एवं 'वार्सा संधि संगठन' के सदस्य-राज्यों सहित, यूरोप के कुछ तटस्थ और निर्गुट राज्यों ने भी हस्ताक्षर किये। समझौते के अंतिम सूचना पत्र में विश्वास और सुरक्षा निर्माण उपायों के सिद्धान्त का सूत्रपात किया गया।

इसके अतिरिक्त 19 नवम्बर 1990 को पेरिस में 'वार्सा सन्धि संगठन' और नाटो' के सदस्य राज्यों ने एक ऐतिहासिक सन्धि पर हस्ताक्षर किये, जिसमें परम्परागत शस्त्रो की अधिकतम संख्या प्रत्येक के लिए नियत की गई। संधि के उल्लंघन को रोकने के लिए उसमें जाँच की भी व्यवस्था की गयी है। शीत युद्धोत्तर काल में इस सन्धि ने पूर्व प्रतिद्वन्दियो के बीच सद्भाव के नये युग सूत्रपात किया है।

9.7 निःशस्त्रीकरण के मार्ग की बाधायें

उपरोक्त चर्चा से स्पष्ट है कि निःशस्त्रीकरण की दिशा में अब तक अनेक प्रयास किये जा चुके है, परन्तु शस्त्र स्पर्धा, शस्त्रीकरण और शस्त्रों का निर्माण अभी तक रूका नहीं है। विश्व आज भी शस्त्रीकरण की समस्या से मुक्त नहीं हो पाया है, बल्कि शस्त्रों का प्रसार और उनकी संहार क्षमता में निरंतर वृद्धि हो रही है। यदि निःशस्त्रीकरण के मार्ग की प्रमुख बाधाओं पर विचार किया जाये, तो ज्ञात होता है, कि निःशस्त्रीकरण के प्रभावी रूप से लागू न हो पाने के पीछे राजनीतिक, आर्थिक एवं तकनीकी प्रकृति के कारण छिपे हैं।

राजनीतिक कारणों में राष्ट्रीय हित, राष्ट्रवाद और सम्प्रभुता का उलेख किया जा सकता है, जिनके परिणामस्वरूप राज्य, शस्त्रों के परिसीमन या उन्मूलन के लिये मनोवैज्ञानिक रूप से तत्पर नहीं हो पाते हैं। राज्य, शस्त्रों में अपनी सुरक्षा को ढूंढ़ते हैं और इस मान्यता का समर्थन करते हैं कि "अगर शान्ति चाहते हो तो युद्ध के लिये तैयार रहो।" राज्यों का मानना है कि युद्ध की रोकथाम के लिए शास्त्रों का होना आवश्यक है, न कि उनका नहीं होना। वस्तुततः निःशस्त्रीकरण राज्यों की असुरक्षा के भय को दूर किये बिना सम्भव नहीं और असुरक्षा की भावना तब तक दूर नहीं हो सकती, जब तक राजनीतिक समस्याओं का समाधान नहीं हो जाता।

राज्यों के बीच राजनीतिक संघर्ष एक अनिवार्य सत्य है। जब तक राजनीतिक समस्याओं का सन्तोषजनक हल नहीं हो पाता, राज्य परस्पर अविश्वास और सन्देह से ग्रस्त रहेंगे, विवादों के समाधान के लिये शस्त्रों के संचय को आवश्यक मानते रहेंगे, तथा निःशस्त्रीकरण, विशेष रूप से

परम्परागत निःशस्त्रीकरण के लिये सहमत नहीं हो पायेंगे। निःशस्त्रीकरण के मार्ग की एक बड़ी बाधा प्राथमिकता का प्रश्न है। राज्यों के समक्ष समस्या है कि वे किसे वरीयता प्रदान करें? निःशस्त्रीकरण पहले हो अथवा विवादों का समाधान?

इसी सन्दर्भ में विभिन्न राज्यों, विशेष रूप से, अमेरिका में विद्यमान सैन्य-राजनीतिक-आर्थिक समूहों का उल्लेख आवश्यक हो जाता है। ये वे शक्तिशाली गठबन्धन होते हैं, जो निहित स्वार्थ वश सैन्य सम्बन्धी अनुसंधानों और गतिविधियों पर व्यय के लिये दबाव डालते हैं। इनका साझा उद्देश्य वास्तविक सैन्य आवश्यकताओं पर विचार किये बिना सैनिक क्षेत्र का निरन्तर विस्तार करना है।

निःशस्त्रीकरण के मार्ग की आर्थिक बाधाओं में प्रमुख है, शस्त्र व्यापार से लाभान्वित होने वाले विभिन्न पक्षों का विरोध। शस्त्रों का व्यापार और अन्तरण अनेक विकसित देशों की अर्थव्यवस्था का आधारभूत स्तम्भ है। शस्त्रों की बिक्री से होने वाली आय उनकी राष्ट्रीय आय का बड़ा हिस्सा होती है। इन देशों में शस्त्रास्त्रों का निर्माण करने वाली कम्पनियों के स्वामी एवं हिस्सेदार, जिनकी राजनीति में सक्रिय भागीदारी होती है, निःशस्त्रीकरण विरोध इस आधार पर करते हैं कि ऐसा करने से उनके शस्त्र उद्योग बन्द हो जायेंगे, देश में बोरोजगारी बढ़ेगी तथा लोगों की क्रयशक्ति नष्ट हो जायेगी।

निःशस्त्रीकरण की तकनीकी बाधाओं में अनुपात की समस्या प्रमुख है। यह आवश्यक है कि शस्त्रों को आनुपातिक रूप से कम किया जाये, ऐसा न हो कि निःशस्त्रीकरण के उपरान्त शक्ति सम्पन्न राज्य निर्बल हो जायें और निर्बल राज्य शक्तिशाली। वास्तव में राज्य ऐसे निःशस्त्रीकरण प्रस्तावों का समर्थन करते हैं, जो उनकी शक्ति को प्रभावित किये बिना, दूसरों की शक्ति को क्षीण कर दें।

तकनीकी बाधाओं में निरीक्षण और सत्यापन भी महत्वपूर्ण है। राज्य शस्त्र सम्पन्न इसलिये होना चाहते है, क्योंकि वे परस्पर अविश्वास करते हैं। जब वे निःशस्त्रीकरण कार्यक्रमों को स्वीकार करते हैं, तब भी अविश्वास बना रहता है। वे अन्य राज्यों की निष्क्रियता का सकारात्मक प्रमाण चाहते हैं, तथा आश्वस्त होना चाहते हैं, कि अन्य राज्य नये शस्त्रों का उत्पादन नहीं कर रहें हैं और उनके इरादे नेक है। परन्तु निरीक्षण के आधार पर इस प्रकार के प्रमाण को जुटाना सरल कार्य नहीं होता है। किसी राज्य द्वारा शस्त्रों को नष्ट करने का प्रमाण प्राप्त किया जा सकता है, परन्तु उसकी शस्त्र निर्माण की क्षमता या सम्बन्धित प्रौद्योगिकी नष्ट हो गयी है, अथवा वह राज्य पुनः शस्त्र निर्माण की ओर प्रवृत्त नहीं है, ऐसा निश्चित तौर पर नहीं कहा जा सकता है।

निरीक्षण के साथ-साथ निःशस्त्रीकरण समझौतों को लागू करने की भी समस्या होती है। यदि निरीक्षण के दौरान यह पाया जाये कि समझौते का उल्लंघन हुआ है, तो एक अहम प्रश्न उठता है कि इस सम्बन्ध में क्या कार्यवाही की जायेगी और किसके द्वारा की जायेगी? विश्व सरकार और विश्व सैन्य बल के अभाव में निःशस्त्रीकरण समझौतों को लागू करने की कोई संतोषजनक दण्ड व्यवस्था नहीं है।

निःशस्त्रीकरण के मार्ग की बाधाओं और इससे जुड़ी समस्याओं को देखते हुये यह स्पष्ट होता है कि निःशस्त्रीकरण समझौतों को सम्पन्न करना और प्रभावी रूप से लागू करना कठिन कार्य है। यद्यपि निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी लगभग सभी प्रस्तावों का घोषित उद्देश्य सामान्य और समग्र

निःशस्त्रीकरण की व्यवस्था करना है, परन्तु ऐसा तब तक सम्भव नहीं होगा, जब तक शस्त्रों के अनुकल्प ढूंढ़ नहीं लिये जाते। अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन के शब्दों में: "विश्व में प्रतिपक्षी इसलिये संघर्षरत नहीं है, क्योंकि वे सशस्त्र हैं। वे सशस्त्र इसलिए है, क्योंकि वे संघर्षरत हैं और उन्होनें अभी तक अपने परस्पर-विरोधी राष्ट्रीय हितों का समाधान करने के लिये शान्तिपूर्ण तरीकों को नहीं सीखा है।"

9.8 सारांश

सम्प्रभु राज्य व्यवस्था में शक्ति के विकेन्द्रीकरण के फलस्वरूप राज्यों के ऊपर कोई नियंत्रणकारी केन्द्रीय सत्ता नहीं पायी जाती है, अतः राज्य अपने परस्पर-विरोधी हितों की पूर्ति के लिये अधिकाधिक शक्ति का अर्जन और संचय करना चाहते हैं तथा राजनीतिक शक्ति को प्रभावी बनाने के लिये सैन्य शक्ति को समुन्नत बनाने पर विशेष बल देते हैं। वे राष्ट्रीय सुरक्षा, राजनीतिक तनाव तथा परस्पर विवादों के सभाधान के लिये हिंसा के साधनों को उपयोगी और प्रभावी मानते हुये शस्त्रों के उत्पादन, निर्माण और भंडारण को वरीयता प्रदान करते हैं, जिससे शस्त्र प्रतिस्पर्धा का जन्म होता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में विनाशक और अराजक प्रवृत्तियाँ बलवान होती है। ये प्रवृत्तियाँ अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिये घातक सिद्ध होती है। इन प्रवृत्तियों के परिसीमन तथा शान्ति एवं सुरक्षा व्यवस्था को प्रभावी बनाने हेतु निःशस्त्रीकरण के विचार का जन्म हुआ। निःशस्त्रीकरण शान्ति की ऐसी स्थित को निर्दिष्ट करता है, जिसमें राज्य अपने विवादों के समाधान के लिये शस्त्रों का प्रयोग नहीं करते हैं। यह हथियारों की होड़ समाप्त करने के उद्देश्य से कुछ या सभी हथियारों को कम या नष्ट करने की प्रक्रिया है। निःशस्त्रीकरण विद्यमान शस्त्रों के नियंत्रण और उन्मूलन से सम्बन्ध रखता है, जबकि शस्त्र नियंत्रण भविष्य में शस्त्रों की परिमाणात्मक और गुणात्मक भरमार को रोकने से सम्बन्धित हैं। दोनों भिन्न अवधारणायें होने के उपरान्त भी परस्पर सम्बन्धित और एक दूसरे की पूरक हैं।

यद्यपि निःशस्त्रीकरण का इतिहास पुराना है, तथापि प्रथम और द्वितीय विश्व युद्ध की विभीषिका और त्रासदी के बाद इस दिशा में राष्ट्र संघ और संयुक्त राष्ट्र के अन्तर्गत विशेष संगठनात्मक प्रयास किये गये। द्वितीय विश्व युद्धोत्तर काल में संयुक्त राष्ट्र के तत्वावधान में, महाशक्तियों के बीच, तथा बहुपक्षीय आधार पर निःशस्त्रीकरण और शस्त्र नियंत्रण सम्बन्धी कई महत्वपूर्ण समझौते किये गये। ये परम्परागत और परमाणु शस्त्रों, दोनों, से सम्बद्ध समझौते थे तथा सामान्य, स्थानीय, मात्रात्मक, गुणात्मक आदि विविध प्रकार के थे। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि राज्यों के मध्य राजनीतिक तनावों के होते हुये परम्परागत निःशस्त्रीकरण सम्भव नहीं प्रतीत होता, फलस्वरूप परमाणु निःशस्त्रीकरण पर अधिक बल दिया जाता है। परमाणु शस्त्रों के विनाशकारी प्रभावों के दृष्टिगत राज्य परमाणु निःशस्त्रीकरण को महत्वपूर्ण मानते, परन्तु इस सम्बन्ध में परमाणु शस्त्र सम्पन्त्र और परमाणु शस्त्र विपन्न राज्यों के दृष्टिकोणों में भारी अन्तर पाया जाता है।

निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी प्रयास सराहनीय होने पर भी यथेष्ट नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय अतिजीविता की आवश्यकता तथा राष्ट्रीय सुरक्षा के प्राधिकार की असंगति ने इन प्रयासों को प्रभावित किया है। नवीन प्रौद्योगिकी ने शस्त्रास्त्रों की घातकता में वृद्धि की है। शस्त्रों का उत्पादन, परीक्षण, विकास,

प्रसार और प्रतिस्पर्धा आज भी जारी है। कुछ अपवादों को छोड़कर, निःशस्त्रीकरण पुराने अथवा अप्रचलित हथियारों पर ही लागू हुआ है।

परमाणु शस्त्रों के प्रसार, जैविक और रासायनिक शस्त्रों के प्रयोग का बढ़ता खतरा, हल्के व छोटे हथियारों का अवैध व्यापार, बारूदी सुरंगो की चुनौती तथा गैर-राज्य कर्ताओं की आधुनिक शस्त्र प्रौद्योगिकी तक सुलभ पहुँच एक विश्वव्यापी समस्या है। निःशस्त्रीकरण के मार्ग में राजनीतक, आर्थिक एवं तकनीकी प्रकृति की बाधायें हैं, इस सम्बन्ध में संस्थागत दोष, शास्त्रों का अन्तरण एवं उनका अवैध व्यापार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

यह सत्य है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था निःशस्त्रीकरण के अनुकूल नहीं है, परन्तु संयुक्त राष्ट्र व्यवस्था में भी इस दृष्टि से कुछ दोष विद्यमान हैं। राज्यों के भीतर हस्तक्षेप करके बाध्यकारी उपायों द्वारा निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी दायित्वों को लागू करना संयुक्त राष्ट्र के लिये सम्भव नहीं है और यदि निःशस्त्रीकरण हेतु हस्तक्षेप अनिवार्य हो जाये, तो उसके दुरूपयोग या राजनीतिकरण से इंकार नहीं किया जा सकता है। वर्ष 2003 में ईराक में अमेरिका की सैनिक कार्यवाही इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

9.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. Morgenthau, Hans. J., Politics Among Nations, The Struggle for Power and Peace, Kalyani Publications, New Delhi, 1991.
2. Backer, Charles, A. (ed.) Problem of World Disarmament, Houghton and Mifflin, Boston, 1963.
3. Beker,Avi, Disarmanent without Order: The Politics of Disarmament at the UN, Greenwood Press,West Port, 1985.
4. Myrdal, Alva, The Game of Disarmament, Pantheon Books, New York 1981.

9.10 सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. शस्त्र स्पर्धा क्या है? उसके विभिन्न परिणामों की चर्चा कीजिये।
2. निःशस्त्रीकरण एवं शस्त्र नियंत्रण को परिभाषित कीजिये तथा उनका अन्तर स्पष्ट कीजिये।
3. निःशस्त्रीकरण के क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्र की भूमिका का परीक्षण कीजिये।
4. निःशस्त्रीकरण के मार्ग की प्रमुख बाधाओं का उलेख कीजिये।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. निःशस्त्रीकरण और शस्त्र नियंत्रण में प्रमुख अन्तर क्या है?
2. गुणात्मक शस्त्र स्पर्धा का क्या तात्पर्य है?
3. परमाणु एवं परम्परागत निःशस्त्रीकरण में क्या भेद है?
4. 'स्टार्ट प्रथम' क्या है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. निःशस्त्रीकरण का सम्बन्ध हैः

   (i) भविष्य में हथियारों के विनियमन से

   (ii) विद्यमान शस्त्रों के उम्मूलन से

   (iii) शस्त्रों के आयात को रोकने से

   (iv) राज्यों को निःशस्त्र कर देने से

2. शस्त्र प्रतिस्पर्धा का अभिप्राय हैः

   (i) शस्त्र विक्रेताओं के बीच प्रतियोगिता

   (ii) शस्त्रों का अवैध व्यापार

   (iii) देशों या देश समूहों के बीच सैनिक होड़ की स्थिति

   (iv) देशों या देश समूहों के बीच आर्थिक होड़ की स्थिति

3. जैविक शस्त्र अमिसमय उल्लेखनीय उदाहरण हैः

   (i) शस्त्र नियंत्रण का

   (ii) निःशस्त्रीकरण का

   (iii) दोनों का

   (iv) किसी का नहीं।

4. निःशस्त्रीकरण की सर्वाधिक व्यापक योजना कहलाती हैः

   (i) सामान्य निःशस्त्रीकरण

   (ii) गुणात्मक निःशस्त्रीकरण

   (iii) बहुपक्षीय निःशस्त्रीकरण

   (iv) पूर्ण निःशस्त्रीकरण

9.11 प्रश्नोत्तर

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

1. (ii)
2. (iii)
3. (ii)
4. (iv)

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

MAPS-109
राजनीति विज्ञान
अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति

खण्ड

04

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रमुख आयाम

इकाई-10 — 5
शीत युद्ध

इकाई-11 — 14
तनाव शैथिल्य तथा नव शीत युद्ध

इकाई-12 — 29
गुट निरपेक्ष आन्दोलन तथा तीसरी दुनिया

इकाई-13 — 51
शीत युद्धोत्तर विश्व व्यवस्था

परामर्श-समिति

प्रो0 केदार नाथ सिंह यादव	कुलपति
डॉ0 हरीशचन्द्र जायसवाल	कार्यक्रम संयोजक
डॉ0 इति तिवारी	सहसंयोजक
श्री एम. एल. कनौजिया	कुलसचिव

विशेषज्ञ समिति (परिमार्जक)

1- प्रो0 एस. के. झा	पूर्व विभागाध्यक्ष, राजनीतिशास्त्र विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय

सम्पादक

प्रो0 एस. एम. सईद	अवकाश प्राप्त प्रोफेसर, लखनऊ विश्वविद्यालय

लेखक मंडल

1- प्रो0 नन्द लाल	प्रोफेसर काशी विद्यापीठ, काशी	–	3 इकाई
2- डॉ0 मनूका खन्ना	रीडर, लखनऊ विश्वविद्यालय,	–	3 इकाई
3- डॉ0 शशि शुक्ला	रीडर, लखनऊ विश्वविद्यालय	–	3 इकाई
4- प्रो0 बी. के. तिवारी	प्रोफेसर, लखनऊ विश्वविद्यालय	–	4 इकाई
5- डॉ0 कमल कुमार	रीडर, लखनऊ विश्वविद्यालय	–	4 इकाई

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, **प्रयागराज**

खण्ड–चार परिचय

इस खण्ड का उद्देश्य द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के मानचित्र पर उत्पन्न होने वाली घटनाओं का विवेचन करना है। यद्यपि दोनों ही विश्व युद्ध बीसवीं शताब्दी की घटनाएं हैं परन्तु द्वितीय विश्व युद्ध ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को एक नए धरातल पर प्रतिष्ठित कर दिया। द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त एक नयी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का अभ्युदय हुआ। इस व्यवस्था की पहचान विश्व के दो वैचारिक खेमों में बँटने से की जाती है। पहला खेमा पूँजीवादी विचारधारा का समर्थक था, और इसका नेतृत्व संयुक्त राज्य अमेरिका के हाथों में था जबकि दूसरा खेमा साम्यवादी विचारधारा का समर्थक था और इसका नेतृत्व सोवियत संघ के हाथों में था। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् जन्म लेने वाली व्यवस्था में दो महाशक्तियों क्रमशः संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ का प्रादुर्भाव हुआ। इन महाशक्तियों के मध्य वैचारिक वैषम्य के चलते विश्व राजनीति को अधिकाधिक अपने प्रभाव क्षेत्र के अधीनस्थ बनाने की लालसा ने महाशक्तियों के मध्य पारस्परिक अविश्वास को जन्म दिया। परिणामतः दोनों महाशक्तियों के मध्य आरोप और प्रत्यारोप की एक निरन्तर प्रक्रिया चलने लगी और महाशक्तियाँ शीतयुद्ध के दौर में प्रवेश कर गयीं। शीतयुद्ध के दौर ने सम्पूर्ण विश्व को अपनी चपेट में ले लिया। शीतयुद्ध का सीधा परिणाम महाशक्तियों के मध्य शस्त्रास्त्रों की होड़ के रूप में देखा जा सकता है। शीतयुद्ध के इस दौर में कई बार ऐसी विस्फोटक परिस्थितियाँ भी जन्मीं जब विश्व एक तीसरे महायुद्ध की कगार पर पहुँचता दिखा। इसी दौर में कहीं न कहीं महाशक्तियों को यह एहसास भी हो रहा था कि यह युद्ध शायद जीता नहीं जा सकता। अतः हितों के संघर्षों के रहते भी पारस्परिक सहयोग और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति का विचार महाशक्तियों को उनके मध्य अपने तनावों को शिथिल करने हेतु प्रेरित करता रहा। साठ के दशक की कुछ घटनाएं इस हेतु महत्त्वपूर्ण रहीं और सत्तर के दशक की शुरुआत तनाव शैथिल्य के रूप में हुई। यद्यपि तनाव शैथिल्य का यह दौर एक ही दशक का रहा और कतिपय घटनाओं के चलते इस दशक के अन्त में ही एक नवीन शीतयुद्ध का बीजारोपण हो गया। इसकी विवेचना हम क्रमशः **प्रथम** व **द्वितीय** इकाइयों के अन्तर्गत करेंगे।

द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति ने साम्राज्यवादी उपनिवेशों की राजनीतिक स्वतन्त्रताओं की बहाली में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया। परिणामस्वरूप युद्ध के पश्चात् एशिया अफ्रीका तथा लातिन अमेरिका में बहुत से नए स्वतन्त्र राज्यों का अभ्युदय हुआ, ज्ञातव्य हो कि ये राज्य एक लम्बे समय से अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता हेतु संघर्ष कर रहे थे। इन राज्यों के लिए अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता को बनाए रखना एक बड़ी चुनौती थी अतः शीतयुद्ध की गुटीय राजनीति से अपने आप को असंलग्न रखना इन राज्यों ने अपनी अन्तर्राष्ट्रीय नीति का एक सिद्धान्त चुना और इससे गुटनिरपेक्षता के विचार तथा गुटनिरपेक्ष आन्दोलन ने जन्म लिया। ये राज्य परस्पर बहुत सी समानताएं रखते थे और इन सबके मूलभूत उद्देश्यों में एक समानता भी थी अतः इन्हें तीसरी दुनिया के राज्यों के रूप में जाना गया। इस खण्ड की **तीसरी इकाई** में हम इसी प्रसंग की विवेचना करेंगे।

1980 के दशक के अन्तिम वर्षों में विश्व में होने वाले घटनाचक्रों, विशेषकर पूर्वी यूरोप में होने वाली घटनाएं, साम्यवादी व्यवस्थाओं के ध्वस्तीकरण में परिणत हो गयीं। पोलैंड रूमानिया से होते हुए सोवियत संघ के विखंडन तथा जर्मनी के एकीकरण ने साम्यवादी व्यवस्था तन्त्र को ध्वस्त कर दिया और बीसवीं सदी के अन्तिम दशक के आते-आते विश्व एक नए राजनीतिक परिदृश्य

में प्रवेश कर गया। संभवतः विचारधाराओं के संघर्ष को परिणति उदारवादी विचारधारा की विजय के रूप में हुई। सोवियत संघ के विखंडन के परिणामस्वरूप विश्व में एक ही महाशक्ति बची रही। अतः विश्व व्यवस्था एक ध्रुवीय व्यवस्था के रूप में उत्पन्न हुई।शीतयुद्ध की समाप्ति और एक नयी विश्व व्यवस्था, जिसकी विशेषता उदारीकरण, वैश्वीकरण आदि है आज की विश्व व्यवस्था का एक यथार्थ दिखायी पड़ता है। **इकाई-4** के अन्तर्गत यही विवेचित किया जाएगा।

इकाई-10 शीतयुद्ध

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 शीत युद्ध की उत्पत्ति एवम् कारण

10.3 शीत युद्ध की प्रगति

10.4 सारांश

10.5 सन्दर्भ ग्रन्थ

10.6 सम्बन्धित प्रश्न

10.7 प्रश्नोत्तर

10.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप

- शीत युद्ध की उत्पत्ति एवम् कारणों की विवेचना कर सकेंगे।
- द्वितीय विश्व युद्धोपरान्त महाशक्तियों के मध्य शीतयुद्ध को प्रगति तथा विस्तार को घटनाओं के क्रम में उल्लेखित कर सकेंगे।
- शीत युद्ध के परिणामों की पहचान कर सकेंगे

10.1 प्रस्तावना

द्वितीय विश्वयुद्ध, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों दोनों ही विषयों के ऐतिहासिक विवेचन में एक महत्त्वपूर्ण मील का पत्थर है। वस्तुतः यह कहना एक यथार्थ है कि बीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध द्वितीय विश्वयुद्ध के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था, जिसे शीतयुद्ध की व्यवस्था के नाम से जाना जाता है, का ही परिचय कराता है। शीतयुद्ध शब्दावली का प्रथम प्रयोग द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के समय अमेरिकी विदेश सचिव बर्नार्ड बेरुच के द्वारा किया गया। इस शब्दावली को लोकप्रिय बनाने का श्रेय वाल्टर लिपमान को जाता है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के समय संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत संघ 'मित्र राष्ट्रों' के रूप में 'धुरी राष्ट्रों' के विरुद्ध युद्धरत् थे। विश्वयुद्ध की समाप्ति के पश्चात् एक नवीन अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के रूप में 'संयुक्त राष्ट्र' को संगठित किया गया। विश्व युद्ध की समाप्ति संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत संघ के दो महाशक्तियों के रूप में प्रादुर्भाव के रूप में हुई। यह एक विडम्बना ही कही जाएगी कि इन दो महाशक्तियों के मध्य युद्धकालीन सहयोग युद्धोपरान्त विलुप्त होने लगा।

शीतयुद्ध का आशय एक तनावयुक्त स्थिति से है। यह न तो एक युद्ध-स्थिति का परिचायक है और न ही शान्ति की स्थिति का। इसे एक 'असहज शान्ति की स्थिति' कहा जा सकता है। वस्तुतः

शीतयुद्ध का बीजारोपण तो 1917 में रूस में जारशाही के खिलाफ साम्यवादी क्रान्ति की सफलता में ही हो चुका था। यह तो एक परिस्थितिजन्य स्थिति थी कि तीव्र वैचारिक विरोधों के रहते हुए भी दोनों महाशक्तियाँ द्वितीय विश्वयुद्ध में एक समान शत्रु के विरुद्ध लड़ रही थीं किन्तु शत्रु का पराभव महाशक्तियों के मध्य एकता का कारक नहीं बन सका।

शीतयुद्ध एक ऐसी स्थिति को वर्णित करता है जहाँ युद्ध लड़ा नहीं जाता पर युद्धरूपी उन्माद बना रहता है इसीलिए जवाहरलाल नेहरू शीतयुद्ध को मस्तिष्कों में लड़ा जाने वाला युद्ध, स्नायुयुद्ध अथवा प्रचार-युद्ध के रूप में अभिव्यक्त करते थे। शीतयुद्ध एक तीव्र, अस्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति को दर्शाता है। यह प्रतिस्पर्द्धा राजनीतिक, आर्थिक, वैचारिक तथा सैन्य सभी क्षेत्रों में दिखायी पड़ती है। एक अवधारणा के रूप में शीतयुद्ध एक सतत् संघर्ष का परिचायक है जो परस्पर विरोधी पक्षकारों के मध्य उनके तनावों, संघर्षों तथा विवादों को राजनीतिक एवं मनोवैज्ञानिक युद्धों से निरन्तरता प्रदान करता है, पर पक्षकार कभी भी प्रत्यक्ष सैन्य संघर्ष में नहीं लिप्त रहते। सारांश में शीतयुद्ध की अभिव्यक्ति जैसाकि दुनिया ने इसको अनुभव किया है दो विचारधाराओं (पूंजीवाद और साम्यवाद), दो व्यवस्थाओं (बुर्जुआलोकतन्त्र और सर्वहारा के अधिनायकवाद), दो खेमों, दो राज्यों (संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ) के मध्य प्रतिस्पर्द्धा एवं टकराव के दौर के रूप में होती है।

10.2 शीतयुद्ध की उत्पत्ति एवं कारण

शीतयुद्ध की उत्पत्ति तथा कारण को कई तरह से दर्शाया जा सकता है। बेरुच द्वारा प्रयुक्त 'शीतयुद्ध' की शब्दावली का प्रयोग ब्रिटिश प्रधानमन्त्री चर्चिल के बहुचर्चित 'फुल्टन भाषण' (1945) में एक बार फिर किया गया जिसमें उन्होंने कहा कि हम एक शीतयुद्ध के मध्य रह रहे हैं। फासीवादी शक्तियों के विरुद्ध युद्ध की जीत पाश्चात्य जगत के रास्तों की साम्यवाद के विरूद्ध शत्रुता को समाप्त करने में असफल रही और साम्यवाद के बढ़ते प्रभाव की आशंका से वे निरन्तर भयभीत बने रहे। पूर्वी यूरोप के राज्यों में साम्यवादी प्रभुत्व की सरकारों का अभ्युदय पश्चिम के राष्ट्रों के लिए असहनीय था और इसकी अभिव्यक्ति 1945 में संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति ट्रूमैन की घोषणा में स्पष्ट दिखायी पड़ती है। इस घोषणा से यह कहा गया कि यह संयुक्त राज्य अमेरिका के हित में है कि अमेरिका उन राष्ट्रों की सहायता करे जो साम्यवादी खतरे के शिकार हो सकते हैं। स्पष्ट है कि साम्यवाद के प्रति अविश्वास शीतयुद्ध की उत्पत्ति का महत्त्वपूर्ण कारक है। जाहिर है कि ऐसे अविश्वास का प्रतिवाद साम्यवादी जगत की ओर से होना ही था। फलतः महाशक्तियाँ पारस्परिक भय और अविश्वास के एक वातावरण में प्रवेश कर गयीं। संयुक्त राज्य अमेरिका अब अपनी पूर्व की 'पृथकतावादी नीति' से बाहर निकल आया तथा 'मार्शल योजना' (1947) जो कि यूरोप के पुनर्निर्माण की योजना थी, शीतयुद्ध की एक कड़ी बनी। सोवियत संघ द्वारा प्रतिक्रिया स्वरूप पूर्वी यूरोप के सोवियतीकरण का प्रयास शुरू कर दिया गया और उसने मार्शल योजना का जवाब मोले...व द्वारा कोमिकॉन (COMECON) अर्थात् 'पारस्परिक आर्थिक सहायता' के रूप में दिया।

यद्यपि शीतयुद्ध को द्वितीय विश्वयुद्ध के एक परिणाम के रूप में देखा जाता है पर इसे ऐतिहासिक सन्दर्भ में सोवियत संघ तथा पाश्चात्य देशों के मध्य मतभेदों के रूप में युद्ध-पूर्व भी देखा जा सकता है। यह कहना असंगत न होगा कि रूस में 1917 की बोल्शेविक क्रान्ति के बाद ही शीतयुद्ध प्रारम्भ हो चुका था। पाश्चात्द शक्तियों की सोवियत संघ के प्रति शत्रुता की उत्पत्ति रूस में क्रान्ति के पश्चात् उत्पन्न सरकार को तत्काल मान्यता का न देना था। संयुक्त राज्य अमेरिका ने तो सोवियत संघ की सरकार को 1933 में मान्यता प्रदान की। सोवियत संघ, राष्ट्र संघ की सदस्यता 1934 में ही प्राप्त कर सका। द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व सोवियत संघ पाश्चात्य जगत से कोई भी

सहयोग प्राप्त नहीं कर पा रहा था। सोवियत संघ, ब्रिटेन तथा फ्रांस द्वारा अपनायी जाने वाली जर्मनी के प्रति तुष्टिकरण की नीति पर अपनी आपत्तियाँ दर्शाता रहा क्योंकि उसे यह आशंका थी कि ऐसा तुष्टिकरण उसके खिलाफ एक शक्तिशाली जर्मनी को निर्मित करने के उद्देश्य से प्रेरित है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि द्वितीय विश्वयुद्ध में जर्मनी (धुरी राष्ट्रों) के विरुद्ध सोवियत संघ तथा अन्य पाश्चात्य शक्तियों को एक असहज एवं विलक्षण समझौता करना पड़ा पर युद्ध की समाप्ति के साथ ही यह समझौता छिन्न-भिन्न हो गया और इनके मध्य पूर्व से चला आ रहा अविश्वास एवं आशंका पुनः दिखने लगीं और यहीं से शीतयुद्ध का जन्म हुआ।

शीतयुद्ध के तात्कालिक कारणों को निम्नवत दर्शाया जा सकता है–

(i) पूर्वी यूरोप का सोवियतीकरण : संभवतः यह पश्चिमी देशों और सोवियत संघ के मध्य दरार पैदा करने का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारक था। सोवियत संघ द्वारा याल्टा तथा बाल्कान समझौतों का सम्मान नहीं किया गया। याल्टा में यह तय हुआ था कि पूर्वी और मध्य यूरोप में स्वतन्त्र निर्वाचन कराके प्रजातान्त्रिक सरकारें स्थापित की जाएँ पर सोवियत संघ द्वारा युद्धोपरान्त पोलैंड में साम्यवादी शासन स्थापित कर दिया। इसी इसी तरह बाल्कान समझौते में यह स्वीकार किया गया था कि बुल्गारिया और रोमानिया पर सोवियत-प्रभाव रहेगा और यूनान के ऊपर ब्रिटेन का जबकि हंगरी और यूगोस्लाविया दोनों ही के संयुक्त प्रभाव में रहेंगे। परन्तु युद्धोपरान्त रूसी-हस्तक्षेप से सम्पूर्ण बाल्कान क्षेत्र में साम्यवादियों द्वारा समर्थित सरकारें स्थापित की गयीं 1947 तक सम्पूर्ण पूर्वी यूरोप में जनवादी जनतन्त्र (People's Democracy) कायम हो गया। सोवियत संघ द्वारा इसी उद्देश्य से यूनान में साम्यवादी गुरिल्ला भी भेज दिए। यूरोप में सोवियत संघ के बढ़ते प्रभाव को रोकने की जिम्मेदारी पश्चिमी राष्ट्रों ने अपने ऊपर ली।

(ii) रूस द्वारा ईरान से अपनी फौजें वापस लेने से इन्कार : युद्धकाल में मित्र राष्ट्रों की सेनाओं द्वारा ईरान को हथिया लिया गया पर उत्तरी ईरान में सोवियत संघ का प्रभुत्व बना रहा। 1942 के समझौते में यह तय हुआ था कि जर्मनी के आत्मसमर्पण के छह माह बाद मित्र राष्ट्र ईरान से अपनी सेनाओं की वापसी कर लेंगे परन्तु सोवियत संघ ने उत्तरी ईरान में एक विद्रोह को उत्पन्न करवा दिया तथा ईरान को एक समझौता करके बाध्य किया कि 25 वर्षों तक उसके तेल-संसाधनों पर सोवियत संघ का अधिकार बना रहे साथ ही उसने अपनी सेनाएं भी ईरान से वापस नहीं कीं जैसाकि ब्रिटेन और अमेरिका ने किया था। सोवियत संघ द्वारा संयुक्त राष्ट्र के हस्तक्षेप के उपरान्त ही अपनी सेनाएं ईरान से वापस की गयीं।

(iii) यूनान तथा टर्की पर सोवियत संघ का दबाव : ब्रिटेन द्वारा 1944 में यूनान को नाजी शासन से स्वतन्त्र कराया गया। उसी वर्ष एक समझौते द्वारा यूनान में ब्रिटेन के अधिकार क्षेत्र को स्वीकार कर लिया गया था और यूनान से जर्मन सेनाओं के जाने के बाद ब्रिटिश सेनाओं ने प्रवेश कर लिया। 1945 के चुनाव में यूनान में राजतन्त्रवादियों की विजय हुईं परन्तु सोवियत संघ की प्रेरणा से कम्युनिस्ट छापामार इसको उखाड़ फेंकने के लिए तैयार हो गए और इन्हें बुल्गारिया, अल्बानिया तथा यूगोस्लाविया से सहायता मिलने लगी।' ब्रिटेन तथा यूनान की सरकार ने अमेरिका से मदद मांगी और तभी यूनान को सोवियत प्रभाव से मुक्त किया जा सका।

इसी तरह सोवियत संघ द्वारा टर्की के ऊपर इस आशय से दबाव डाला जाने लगा कि टर्की सोवियत संघ को कुछ भू-प्रदेश तथा बास्कोरस की खाड़ी में एक नाविक अड्डा बनाने का अधिकार दे।

बाद में अमेरिका द्वारा ट्रूमैन सिद्धान्त के तहत हस्तक्षेप किया गया और टर्की से सोवियत संघ की वापसी हुई।

(iv) जर्मनी से सम्बन्धित प्रश्न : निस्सन्देह सोवियत संघ, जहाँ तक युद्ध क्षति का प्रश्न

है, सबसे अधिक आक्रान्त रहा इसीलिए स्टालिन द्वारा याल्टा में 10 हजार मिलियन डॉलर की क्षतिपूर्ति की मांग जर्मनी से की गयी थी। युद्धोपरान्त सोवियत संघ ने जर्मनी के उद्योगों को ध्वस्त कर दिया तथा जर्मनी से महंगी औद्योगिक मशीनों को रूस भिजवा दिया। पोटसडैम सम्मेलन में यह सहमति हुई थी कि जर्मनी की जनता को उसके मूलभूत मौलिक अधिकारों से वंचित नहीं किया जाएगा पर सोवियत संघ ने अपने अधिकार-क्षेत्र वाले जर्मनी में एक बड़ी संख्या में नागरिकों को बन्दी बना लिया। यही नहीं सोवियत-प्रभाव क्षेत्र के जर्मनवासियों को पश्चिमी प्रभाव क्षेत्र के जर्मनवासियों से अलग कर दिया। वास्तव में जर्मनी के सम्बन्ध में सोवियत संघ द्वारा सारे समझौतों का उल्लंन किया गया और अन्ततः जर्मनी का विभाजन भी करवा दिया।

(v) बर्लिन के प्रश्न पर मतभेद : सोवियत संघ द्वारा बर्लिन की नाकेबन्दी 'लन्दन प्रोटोकाल' (1948) का उल्लंघन था। पश्चिमी देशों ने इस नाकेबन्दी की कार्यवाही को शान्ति के लिए घातक मानते हुए सुरक्षा परिषद में इसकी शिकायत दर्ज करवायी।

(vi) सोवियत संघ द्वारा वीटो का बार-बार प्रयोग : सोवियत संघ संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् में अपनी वीटो शक्ति का बार-बार प्रयोग करके इसके कार्यों में बार-बार बाधा डालता रहा। वास्तव में सोवियत संघ के विचार में संयुक्त राष्ट्र एक विश्व संस्था न होकर अमेरिका के विदेश विभाग का एक अंग थी इसीलिए सुरक्षा परिषद् में वह प्रत्येक प्रस्ताव को अपने विरुद्ध एक षड्यन्त्र मानता था और अपनी वीटो शक्ति से उसे निरस्त करवा देता था। इसी वजह से पश्चिमी देश यह मानने लगे कि सोवियत संघ विश्व शान्ति हेतु संयुक्त राष्ट्र के प्रयासों में सबसे बड़ी बाधा है।

(vii) अमेरिका तथा कनाडा में साम्यवादी गतिविधियाँ : अमेरिका को यह आशंका थी कि अमेरिका तथा कनाडा में होने वाली प्रत्येक साम्यवादी गतिविधि सोवियत संघ के इशारे से चलती है अतः वह सोवियत संघ के प्रति सदैव सशंकित बना रहा।

उपर्युक्त कारण पश्चिमी देशों द्वारा सोवियत संघ के विरुद्ध बतायी गयी आपत्तियाँ थीं जो सोवियत संघ के विरुद्ध पश्चिमी देशों के अविश्वास अतः शीतयुद्ध के तात्कालिक कारण रहे।

ऐसी ही आपत्तियाँ सोवियत संघ के द्वारा पश्चिमी देशों के प्रति भी अभिव्यक्त की गयी थीं जो सोवियत संघ के अविश्वास का कारण बनीं फलस्वरूप इन्हें भी शीतयुद्ध की उत्पत्ति के तात्कालिक कारणों के रूप में देखा जा सकता है इन्हें निम्नवत् रखा जा सकता है।

(i) युद्ध के उपरान्त जिन शान्ति समझौतों को किया गया था उनके बारे में दोनों पक्षों के मध्य गम्भीर मतभेद थे। जाहिर है कि इन मतभेदों के रहते शान्ति-प्रक्रिया स्थापित करना एक जटिल कार्य था। सोवियत संघ को पश्चिमी देशों की नीतियों के बारे में बहुत सी आशंकाएं थीं और ये दोनों पक्षों के मध्य विवादित मुद्दों के रूप में प्रकट हुईं।

(ii) सोवियत संघ की सबसे बड़ी शिकायत इस बात को लेकर थी कि पश्चिमी देशों ने जर्मनी के विरुद्ध दूसरे मोर्चे को खोलने में जान-बूझ कर देरी की।

(iii) सोवियत संघ को इस बात पर भी आपत्ति थी कि पश्चिमी देश फासीवादी इटली के प्रति एक उदारनीति को अपना रहे हैं।

(iv) सोवियत संघ यह आरोप लगाने लगा कि पश्चिमी देश सोवियत संघ को जो आर्थिक सहायता दे रहे हैं वह अपर्याप्त थी। युद्ध के दौरान अमेरिका द्वारा 'लैंड-लीज' समझौते के तहत् जो सहायता दी जा रही थी वह जर्मनी के आत्मसमर्पण करने के साथ ही समाप्त कर दी। इसके साथ ही सोवियत संघ के आर्थिक सहायता (6 बिलियन डॉलर कर्ज) की माँग को ठुकरा दिया।

(v) सोवियत संघ को सदैव ही यह शिकायत बनी रही कि अमेरिका ने अणुबम के प्रयोग को उससे छिपाया। सोवियत संघ की यह मान्यता थी कि पश्चिमी राष्ट्र अमेरिका द्वारा युद्ध में इस

बम के प्रयोग के बारे में पहले से जानते थे।

(vi) सोवियत संघ की शिकायत पश्चिमी देशों के प्रति यह थी कि उनका नेतृत्व तथा उसके अखबार एक सतत् सोवियत-विरोधी अभियान में संलग्न थे। सोवियत संघ ने अनेक पश्चिमी देशों के निर्णयों के विरोध में अपनी आपत्तियाँ दर्ज भी करायीं उदाहरण के लिए चर्चिल के फुल्टन भाषण, राष्ट्रपति ट्रूमैन की घोषणा तथा अमेरिका द्वारा अपनायी गयी मार्शल योजना।

उपर्युक्त परिस्थितियों के चलते दोनों ही खेमों के मध्य पारस्परिक अविश्वास तीव्र हो चला था। सोवियत संघ संयुक्त राज्य अमेरिका में साम्यवादी गतिविधियों को प्रोत्साहित कर रहा था। सार रूप में यह कहा जा सकता है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त सोवियत संघ द्वारा पूर्वी यूरोप में अपनी स्थिति को मजबूत करने के प्रयास तथा पश्चिमी देशों द्वारा साम्यवादी प्रसार को रोकने के प्रयास ही शीतयुद्ध की उत्पत्ति के कारण बने। आने वाले समय में इन्हीं के परिणामस्वरूप दोनों खेमों के द्वारा अपनायी जाने वाली नीतियाँ क्रमशः एक-दूसरे के विरुद्ध क्रिया-प्रतिक्रिया स्वरूप शीतयुद्ध की प्रक्रिया को बढ़ाती रहीं।

10.3 शीतयुद्ध की प्रगति

शीतयुद्ध की प्रगति को इसके विस्तार के सन्दर्भ में सुविधा की दृष्टि से निम्नांकित चरणों में विवेचित किया जा सकता है (1) पहला चरण 1917 से 1945 (2) दूसरा चरण 1946 से 1953 (3) तीसरा चरण 1953 से 1958 (4) चौथा चरण 1959 से 1962 (5) पांचवां चरण 1963 से 1979 (6) छठवां चरण 1980 से 1989

(1) शीतयुद्ध का पहला चरण (1917-1945) : बहुत से विद्वानों का यह मानना है कि शीतयुद्ध का प्रारम्भ 1917 में बोल्शेविक क्रान्ति के साथ ही हो गया था। रूस में साम्यवादी राज्य की स्थापना पूंजीवादी राज्यों के लिए चिन्ता का विषय थी। इस क्रान्ति ने राज्य शक्ति के एक नए स्वरूप तथा सामाजिक आर्थिक विकास के एक नए कार्यक्रम को स्पष्ट किया। यद्यपि शीतयुद्ध शब्दावली अभी प्रयुक्त नहीं की गयी थी पर दो वैचारिक पक्ष प्रकट होने लगे। इस दौर में वैचारिक मतभेद उग्र रूप में इसलिए प्रकट नहीं हो पाए क्योंकि सोवियत संघ एक बड़ी शक्ति के रूप में अभी तक नहीं उभर पाया था पर यह एक सत्य है कि पश्चिमी जगत के देश विशेषकर ब्रिटेन और अमेरिका ने साम्यवादी विचारधारा को पसन्द नहीं किया। यह बात इस तथ्य से भी स्पष्ट होती है कि रूस में साम्यवादी सरकार की स्थापना को ब्रिटेन ने 1924 में और अमेरिका ने 1933 में मान्यता प्रदान की।

शीतयुद्ध के एक प्रमुख अध्येता फ्लेमिंग के अनुसार प्रथम चरण में शीतयुद्ध को जन्म देने वाली प्रमुख घटनाएं इस प्रकार हैं–

द्वितीय मोर्चे का प्रश्न, सोवियत सेनाओं द्वारा पूर्वी यूरोप पर अधिकार; जर्मनी के आत्मसमर्पण समझौतों पर पश्चिमी देशों का रूस से मतभेद; अमेरिका द्वारा हिरोशिमा व नागासाकी पर परमाणु बम का प्रयोग; ब्रिटिश विदेश मन्त्री बेविन तथा अमेरिकी विदेश सचिव फर्निश की पूर्वी यूरोप में स्वतन्त्र चुनाव कराने की कूटनीतिक चेष्टा आदि।

(2) शीतयुद्ध का दूसरा चरण (1946-1953) : वास्तव में शीतयुद्ध के विस्तार का यह चरण अपने असली रूप में सामने आया। इस काल में अमेरिका द्वारा साम्यवाद को घेर कर उसके विस्तार को प्रत्येक स्तर पर प्रतिरोध करने की नीति अपनायी गयी। इसी काल में शीतयुद्ध में वृद्धि के लिए उत्तरदायी निम्नलिखित घटनाएं महत्त्वपूर्ण रहीं–

(i) जर्मनी शीतयुद्ध का केन्द्र बन गया।

(ii) बर्लिन का प्रश्न और बर्लिन की नाकाबन्दी (1948)

(iii) नाटो की स्थापना (4 अप्रैल 1949)।

(iv) जर्मनी का विभाजन–21 सितम्बर, 1949 को जर्मनी के संघीय गणराज्य के रूप में पश्चिमी जर्मनी का राज्य बना और 7 अक्टूबर 1949 को जर्मन जनवादी गणतन्त्र के नाम से पूर्वी जर्मनी के पृथक राज्य की स्थापना हुई।

(v) साम्यवादी चीन का अभ्युदय (1949)–यद्यपि साम्यवादी चीन का अभ्युदय शीतयुद्ध के संघर्ष से पृथक एक घटना थी पर आगामी वर्षों में शीतयुद्ध की प्रगति इस घटना से अछूती नहीं रही।

(vi) कोरिया का संकट (1950) जिसने एक बार फिर दो महाशक्तियों को शीतयुद्ध के उष्ण वातावरण में ला खड़ा किया।

(vii) जापान के साथ अमेरिका की शान्ति सन्धि (1951)–यह घटना भी शीतयुद्ध के विस्तार में महत्त्वपूर्ण रही।

(3) **शीतयुद्ध का तीसरा चरण (1953 से 1958) :** 1953 में स्टालिन की मृत्यु हो गयी। स्टालिन को शीतयुद्ध का एक महत्त्वपूर्ण नायक माना जा सकता है। स्टालिन के युग में साम्यदाद और पूँजीवाद के मध्य किसी समझौते की उम्मीद करना व्यर्थ था। पश्चिमी देशों के राजनेता उसको शान्ति बहाली हेतु एक अवरोधक के रूप में देखते थे। स्टालिन के उत्तराधिकारी खुश्चेव ने शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व की नीति का विचार दिया। स्पष्ट है कि यह साम्यवादी विचारधारा में एक महत्त्वपूर्ण संशोधन था क्योंकि इसकी मान्यता पूंजीवादी के साथ शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व को स्वीकार करती थी अतः महाशक्तियों के मध्य इस चरण में शान्ति की सम्भावना को देखा जाने लगा परन्तु इस चरण में शीतयुद्ध के दो नए केन्द्र क्रमशः हिन्द चीन (विएतनाम, लाओस और कम्बोडिया) तथा पश्चिमी एशिया में बन गए। स्पष्ट है कि शीतयुद्ध की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अब यूरोप से एशिया महाद्वीप में प्रवेश कर गयी। शीतयुद्ध के इस चरण में महाशक्तियों द्वारा प्रायोजित सैन्य संगठन - सीटो (साउथ ईस्ट एशिया ट्रीटी ऑर्गनाइजेशन) (1954), सेंटों (सेंट्रल ट्रीटी ऑर्गनाइजेशन 1955) जिसे बगदाद समझौता भी कहा जाता है तथा वारसा समझौता (1955) अस्तित्व में आए।

इस चरण में महाशक्तियों के मध्य आणविक अस्त्रों की दौड़ भी प्रारम्भ हो गयी (ज्ञात हो कि सोवियत संघ, ब्रिटेन और फ्रांस ने इसी काल में अणु शस्त्रों का परीक्षण एवं निर्माण प्रारम्भ किया)। इस चरण में हिन्द चीन क्षेत्र गृहयुद्ध की चपेट में आ गया। 1956 में हंगरी में सोवियत संघ का हस्तक्षेप तथा 1956 में ही स्वेज का संकट इस चरण की दो अन्य महत्त्वपूर्ण घटनाएँ थीं। इन घटनाओं को भी शीतयुद्ध के विस्तार से जोड़कर ही देखा जा सकता है। इस काल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना थी- जून 1957 में अमेरिकी राष्ट्रपति की घोषणा जिसे 'आइजनहावर सिद्धान्त' के नाम से जाना जाता है। इस सिद्धान्त में यह कहा गया कि अमेरिका, साम्यवादी गुलामी से घिरी हुई जनता द्वारा अपनी स्वतन्त्रता के संघर्ष में, सहायता करेगा। अमेरिकी राष्ट्रपति ने सीनेट से अपने लिए इस अधिकार को भी संस्तुति करवा ली की अमेरिकी राष्ट्रपति मध्यपूर्व के किसी भी देश में साम्यवादी आक्रमण को रोकने के लिए अमेरिकी सेना को भेज सकता है। इस चरण में महाशक्तियों के बीच मध्य पूर्व की कुछ घटनाएं शीतयुद्ध के विस्तार का आधार बनीं।

(4) **शीतयुद्ध का चौथा चरण (1959-1962) :** वर्ष 1959 के सितम्बर माह में खुश्चेव ने अमेरिका की यात्रा की। इस यात्रा ने महाशक्तियों के मध्य परस्पर सौहार्द्र तथा प्रेम के वातावरण को जन्म दिया। खुश्चेव और आइजनहावर के मध्य की वार्ता कैम्प डेविड में की गयी।

जहाँ खुश्चेव ने आइजनहावर को सोवियत संघ की यात्रा करने का निमन्त्रण दिया। इस सौहार्द्र को 'कैम्प डेविड भावना' का नाम दिया गया और यह कहा गया कि दोनों देश अन्तर्राष्ट्रीय तनावों को दूर करने हेतु सम्मिलित प्रयास करेंगे ताकि विश्व शान्ति की नींव सुदृढ़ हो। इस अवसर पर मई-जून (1969) में प्रस्तावित 'पेरिस शिखर वार्ता' हेतु भी सहमति बनी।

1 मई 1960 को अमेरिकी जासूसी विमान 'यू-2' सोवियत सीमा में जासूसी करते हुए पकड़ा गया। यह विमान अनेक जासूसी उपकरणों तथा यन्त्रों से लैस था। विमान चालक ने यह स्वीकार किया कि उसे सोवियत संघ के आकाश में सैनिक निरीक्षण तथा सैनिक अड्डों की सूचना एकत्रित करने के लिए भेजा गया था। राष्ट्रपति आइजनहावर के वक्तव्य जिसमें उन्होंने सोवियत संघ मे सामरिक गतिविधियों के गुप्त रहने और अमेरिका द्वारा ऐसी जासूसी कार्यवाहियों को जायज ठहराने की बात कही गयी, से यह बात और अधिक बढ़ गयी। जवाब में खुश्चेव द्वारा इसे सोवियत संघ का घोर अपमान तथा एक अत्यन्त उत्तेजनात्मक कार्य बताया। सोवियत संघ द्वारा इस प्रश्न को संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद में उठाया गया। इस घटना ने पेरिस की शिखर वार्ता' की सफलता पर प्रश्न चिह्न लगा दिया।

पेरिस की शिखर वार्ता 'यू-2 कांड' की काली छाया से घिरी रही। यद्यपि खुश्चेव द्वारा यह आश्वासन दिया गया था कि वह इस प्रश्न को पेरिस शिखर वार्ता में नहीं उठाएंगे पर पेरिस पहुँच कर उन्होंने अमेरिका के राष्ट्रपति के साथ हाथ न मिलाकर अपना विरोध जता दिया और यह मांग की कि अमेरिका को इस घटना के लिए क्षमा याचना करनी चाहिए। इन परिस्थितियों में यह सम्मेलन कोई निर्णय नहीं ले पाया और शीतयुद्ध जारी रहा।

1961 में बर्लिन की दीवार का मामला और उसके अगले वर्ष क्यूबा का मिसाइल-संकट शीतयुद्ध को दोनों महाशक्तियों के बीच एक प्रत्यक्ष युद्ध की ओर ले जाता प्रतीत हुआ। यह संयोग ही था कि महाशक्तियों के बीच अकस्मात् जन्मी बुद्धिमत्ता से यह संकट टल गया।

क्यूबा का संकट महाशक्तियों के बीच शीतयुद्ध के संकट को जताने हेतु एक नयी चेतना जाग्रत करने में कामयाब रहा। यह चेतना उन्हें शीतयुद्ध की भयावहता को किसी खतरनाक गर्म-युद्ध से बचाने के लिए परस्पर सम्पर्क तथा नियमित प्रत्यक्ष संचार की अनिवार्यता को महसूस कराने हेतु पर्याप्त थी। परिणामस्वरूप 1963 में मास्को और वाशिंगटन के बीच हॉट-लाइन के जरिए सीधा सम्पर्क स्थापित करने का समझौता हुआ। ऐसा समझौता इस उद्देश्य से किया गया कि किसी द्विपक्षीय संकट के दौरान महाशक्तियों के बीच गलतफहमियों के कारण टकराव को टाला जा सके। इसी वर्ष 5 अगस्त 1963 को मास्को में 'आंशिक परमाणु परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि' पर रूस, अमेरिका और ब्रिटेन ने हस्ताक्षर किए। इस सन्धि द्वारा वायुमंडल, बाह्य अन्तरिक्ष और समुद्र के भीतर परमाणु परीक्षणों को प्रतिबन्धित किया गया।

(5) शीतयुद्ध का पाँचवां चरण (1963-1970) : इस चरण में ऐसी उम्मीद बलवती हुई कि महाशक्तियाँ शान्तिपूर्ण तथा सहयोगी सम्बन्ध बनाने का प्रयास करेंगी परन्तु महाशक्तियों के सम्बन्ध शीतयुद्ध की प्रतिच्छाया से पूर्णतः स्वतंत्र नहीं रह सके। कभी-कभी तो महाशक्तियों का आचरण परिपक्वतापूर्ण दिखा पर कभी-कभी उनके संबंध शीतयुद्ध की भावना के अनुरूप ही रहे। वियतनाम, दक्षिण एशिया, मध्य-पूर्व, संयुक्त राष्ट्र तथा बर्लिन संकट के अनुभव इस बात की पुष्टि करते हैं। इस दौर में राष्ट्रपति कैनेडी की मृत्यु तथा खुश्चेव के सत्ता से अपदस्थ होने के कारण महाशक्तियों में नेतृत्व परिवर्तन हो चुका था।

1964 में अमेरिकी राष्ट्रपति जानसन द्वारा वियतनाम में सैन्य कार्रवाई में वृद्धि तथा बमबारी का निर्णय सोवियत संघ द्वारा विरोध का कारण बना। 1965 के भारत-पाक युद्ध में दोनों महाशक्तियों की सहानुभूतियाँ अलग-अलग पक्ष के साथ दिखीं। युद्धोपरान्त ताशकन्द समझौते में

सोवियत संघ की मध्यस्थता अमेरिका को नागवार गुजरी।

1967 में अरब इसराइल युद्ध के दौरान रूस का अरब राष्ट्रों को खुला समर्थन मिला क्योंकि वह पाश्चात्य देशों की इसराइल समर्थक नीतियों का विरोध करता था। यह युद्ध महाशक्तियों को शीतयुद्ध की प्रभाव क्षेत्र कायम करने की प्रतिस्पर्द्धा की ओर ले गया। शीतयुद्ध के तनाव को कम करने हेतु सोवियत संघ के प्रधानमंत्री और अमेरिकी राष्ट्रपति के मध्य ग्लासगो में 23 से 26 जून 1967 में शिखर वार्ता हुई जहाँ वियतनाम तथा मध्य पूर्व पर चर्चा हुई। साथ ही चीन द्वारा हाइड्रोजन बम का परीक्षण कर लिए जाने से उसकी बढ़ती परमाणु क्षमता भी चर्चा का विषय रही। इस सम्मेलन ने महाशक्तियों को अपने पारस्परिक संबंधों की समस्याओं के संबंध में एक बेहतर सूझबूझ कायम करने में मदद की। 1968 में परमाणु अप्रसार संधि पर हस्ताक्षर हो जाना महाशक्तियों के बीच अधिकाधिक सम्पर्कों की प्रक्रिया में एक कारण बना। अमेरिका द्वारा वियतनाम में बमबारी बंद करने का निर्णय भी तनाव को कम करने में सहायक रहा। परन्तु 1968 में सोवियत संघ का चेकोस्लाविया में हस्तक्षेप और 1969 में बर्लिन की नाकेबंदी द्वारा शीतयुद्ध संघर्ष एक बार फिर तीव्र हो उठा। बर्लिन का यह संकट शीतयुद्धीय तनावों का एक बड़ा स्रोत बना। पश्चिम जर्मनी की सरकार द्वारा अपने चांसलर के चुनाव हेतु पश्चिमी बर्लिन के स्थान का चयन के निर्णय को सोवियत संघ तथा पूर्वी जर्मनी की सरकारों द्वारा इस उद्देश्य से विरोध किया गया कि ऐसा कोई कदम इस बात को दर्शाएगा कि बर्लिन पश्चिम जर्मनी का ही एक भाग है, और इसलिए यह पोटसडैम समझौते का उल्लंघन है। पश्चिम जर्मनी की इस जिद कि वह निर्वाचन पश्चिम बर्लिन में ही करवाएगा के विरोध में पूर्व जर्मनी ने बर्लिन की नाकेबन्दी कर दी तब पश्चिम जर्मनी ने निर्वाचक मंण्डल के सदस्यों को हवाई जहाज द्वारा पश्चिम बर्लिन में उतारकर शान्तिपूर्ण चुनाव सम्पन्न कराया। सोवियत संघ तथा पूर्व जर्मनी ने इसके बाद कोई पहल नहीं की।

10.4 सारांश

उपर्युक्त घटनाक्रम जहां शीतयुद्ध के विकास क्रम को दर्शाते हैं वहीं इस बात के भी प्रमाण देते हैं कि शीतयुद्ध की तीव्रता के बावजूद महाशक्तियों के बीच इस बात की आवश्यकता भी अनुभव की जा रही थी कि शीतयुद्ध से किसी पक्ष को जीत हासिल नहीं हो सकती, अतः शीतयुद्ध के तनावों को कम करने के प्रयास किए जाने चाहिए। 1960 के दशक में इस दिशा में कुछ पहल प्रारम्भ हो चुकी थी। 1970 के दशक को तनाव शैथिल्य का दशक कहा जाता है। इसका विवेचन हम अगली इकाई में करेंगे।

10.5 सन्दर्भ ग्रन्थ

डी0एफ0 फ्लेमिंग : दि कोल्ड वार एंण्ड इट्स ओरिजिन्स इवान लुआर्ड : दि कोल्ड वार : अ रिअप्रेसल

एन्द्रे फोन्टेन : द हिस्ट्री ऑफ कोल्ड वार : फ्रोम द कोरियन वार टु प्रेसेन्ट

एच0एल0 ट्रफॉउजे : द कोल्ड वार : ए बुक ऑफ डाक्यूमेन्ट्स लाइन चेंज के0 सुब्रहमण्यम : दि सेकंड कोल्ड वार फ्रेड0 हैलीडे : दि मेकिंग ऑफ दि सेकिन्ड कोल्ड वार

एम0एस0 अगवानी (संपा0) दितान्त पर्सपेक्टिव्स एंड रिपरकशन्स

(1) शीतयुद्ध से क्या अभिप्राय है?

(2) शीतयुद्ध का प्रारम्भ कब से हुआ?

(3) शीत युद्ध किन-किन विचारधाराओं के मध्य संघर्ष था?

(4) द्विध्रुवीय राजनीति का क्या अर्थ है?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(1) शीत युद्ध की प्रकृति तथा विस्तार का संक्षिप्त विवेचन कीजिए

(2) शीत युद्ध क्या है? अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को शीत युद्ध ने किस तरह प्रभावित किया?

(3) शीत युद्ध के प्रमुख कारणों को सविस्तार समझाइये।

10.6 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. फुल्टन भाषण को किससे सम्बन्धित माना जाता है?

   (a) शीतयुद्ध (b) द्वितीय विश्वयुद्ध

   (c) गुट निरपेक्षता (d) उपरोक्त कोई नहीं

2. बर्लिन की नाकेबन्दी किस देश ने की थी,

   (a) पश्चिमी जर्मनी (b) संयुक्त राज्य अमेरिका

   (c) सोवियत संघ (d) फ्रांस

3. शीत युद्ध का परिणाम हुआ :

   (a) एक ध्रुवीय विश्व व्यवस्था (b) द्विध्रुवीय विश्व व्यवस्था

   (c) बहुध्रुवीय विश्व व्यवस्था (iv) उपर्युक्त कोई नहीं।

4. नाटो सन्धि का निर्माण कब हुआ?

(a) 1946 (b) 1948 (c) 1949 (d) 1955

10.7 प्रश्नोत्तर

1. (a)

2. (c)

3. (b)

4. (c)

इकाई-11 तनाव शैथिल्य तथा नव शीत युद्ध

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 तनाव शैथिल्य : अर्थ एवम् परिभाषा

11.3 तनाव शैथिल्य के कारण

11.4 तनाव शैथिल्य के विकास के विभिन्न चरण

11.5 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर तनाव शैथिल्य का प्रभाव

11.6 नव शीत युद्ध

11.7 नव शीत युद्ध का अर्थ

11.8 पुराने तथा नए शीत युद्ध में अन्तर

11.9 नव शीत युद्ध काल की प्रमुख घटनायें

11.10 नव शीत युद्ध के परिणाम

11.11 सारांश

11.12 सन्दर्भ ग्रन्थ

11.13 सम्बन्धित प्रश्न

11:14 प्रश्नोत्तर

11.0 उद्देश्य

- इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप :
- तनाव शैथिल्य के अर्थ एवम् कारणों की जानकारी कर सकेंगे।
- तनाव शैथिल्य के विकास क्रम को समझ सकेंगे
- अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर तनाव शैथिल्य के परिणामों की विवेचना कर सकेंगे।
- तनाव शैथिल्य की प्रक्रिया क्यों थम गईं, किस तरह एक नए शीत युद्ध का प्रारम्भ हुआ तथा नव शीत युद्ध क्या है, इन प्रश्नों को समझ सकेंगे।
- नव शीतयुद्ध तथा पुराने शीत युद्ध के मध्य अन्तर कर सकेंगे
- नव शीत युद्ध को प्रमुख घटनाओं को विवेचित कर सकेंगे
- नव शीत युद्ध के परिणामों को विश्लेषित कर सकेंगे।

11.1 प्रस्तावना

1960 के दशक में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रति महाशक्तियों के दृष्टिकोण में एक बदलाव दृष्टिगोचर होने लगा। यह बदलाव महाशक्तियों के मध्य पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा, वैमनस्य तथा

अविश्वास के स्थान पर सामंज्जस्य, शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व तथा परस्पर विश्वास की ओर प्रवर्तित दिखायी देने लगा। महाशक्तियों में परस्पर विचार-विमर्श और मैत्रीपूर्ण सहयोग की आकांक्षाएँ दिखायी देने लगीं। महाशक्तियों के सम्बन्धों के मध्य जन्मे इस बदलाव को तनाव शैथिल्य अथवा दितान्त (Detente) के नाम से जाना जाता है।

दुर्भाग्य से यह दौर एक ही दशक का रहा क्योंकि 1979 में अफगानिस्तान में सोवियत संघ के हस्तक्षेप के साथ एक बार पुनः महाशक्तियाँ पारस्परिक अविश्वास के दौर में प्रवेश गयीं फलस्वरूप अगला दशक महाशक्तियों के बीच नवीन शीतयुद्ध के दौर के रूप में जाना जाता है।

11.2 तनाव शैथिल्य : अर्थ एवं परिभाषा

फ्रांसीसी भाषा के शब्द दितान्त का अर्थ 'तनाव में शिथिलता' से है। ऑक्सफोर्ड शब्दकोश ने इसे दो राज्यों के मध्य तनावपूर्ण सम्बन्धों की समाप्ति के रूप में परिभाषित किया है। तनाव शैथिल्य को विभिन्न विद्वान अपने-अपने तरीके से परिभाषित करते हैं और सभी परिभाषाओं को देखने के उपरान्त ऐसा प्रतीत होता है कि वे इसके अर्थ के बजाय इसे उस प्रक्रिया की अभिव्यक्ति अथवा प्रवृत्ति बताते हैं जो महाशक्तियों के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों के एक दौर में दिखायी पड़ती है।

जार्ज ऐराबाटोव ने इसे "अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों की नयी वास्तविकताओं से समझौता" कहकर वर्णित किया।

जफर इमाम इसे शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के रूप में अभिव्यक्त करते हैं। डॉ0 ए0पी0 राणा इसे एक प्रक्रिया या प्रवृत्ति बताते हैं जिसमें एक समय पर दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ-सहयोग और प्रतिद्वन्द्विता - पायी जाती हैं। महाशक्तियों के इस सहयोगी - प्रतिद्वन्द्वी व्यवहार को उन्होंने कालूपीटिव का नाम दिया है। उनके अनुसार ऐसा व्यवहार चार परिस्थितियों में अभिव्यक्त किया जा सकता है - किसी संकट की घड़ी में; विश्व में यथास्थिति बनाए रखने हेतु; आर्थिक सहयोग के उद्देश्य से तथा शस्त्र नियन्त्रण के प्रबन्धन में। **हेनरी किसिन्जर** के अनुसार "परमाणु युग में सैनिक शक्ति तथा राजनीतिक दृष्टि से व्यावहारिक शक्ति के मध्य की असंगति तनाव शैथिल्य है।" स्पष्ट है कि यह अभिव्यक्ति तनाव शैथिल्य को पारस्परिक परमाणविक सर्वनाश के आतंक से मुक्ति के रूप में की गयी।

तनाव शैथिल्य की परिभाषा तथा अर्थ के बारे में विद्वानों के मध्य एक असमंजस्य की स्थिति दिखायी पड़ती है। इस असमंजस की स्थिति की अभिव्यंक्ति, 'इर्लिंग ब्जोल' के इन शब्दों में हुई - 'कभी-कभी इसे नीति के रूप में तो कभी इसका प्रयोग पूर्व तथा पश्चिम में सोचे जाने वाले मौजूदा सम्बन्धों के विवेचन के रूप में प्रयोग किया जाता है। कभी क्यूबाई मिसाइल संकट को एक निर्णायक मोड़ माना जाता है जिससे आंशिक परमाणु परीक्षण सन्धि तथा परमाणु अप्रसार सन्धि का मार्ग प्रशस्त हुआ तो कभी खुश्चेव के शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के सिद्धान्त की वकालत के रूप में देखा जाता है।

तनाव शैथिल्य के बारे में स्वयं महाशक्तियों के मध्य इसके किसी निश्चित अर्थ की स्वीकृति को नहीं देखा जा सकता। इसका उदाहरण क्रमशः हेनरी किसिन्जर और ब्रेझनेव के वक्तव्यों में देखा जा सकता है। किसिन्जर द्वारा 28 दिसम्बर 1973 को एक पत्रकार सम्मेलन में कहा गया कि हम नहीं कहते हैं कि दितान्त घरेलू व्यवस्थाओं की अनुकूलता पर आधारित है। हमारी मान्यता है कि सोवियत संघ तथा चीन के मूल्य और विचारधाराएं हमारी विरोधी तथा कभी-कभी हमसे शत्रुतापूर्ण हैं। हम यह नहीं कहते कि हमारे राष्ट्रीय हित एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं पर हम यह जरूर कहेंगे कि यह पूर्वकाल की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण में एक मूलभूत परिवर्तन है। किसिन्जर ने आगे

भी कहा कि आचरण के नियम तथा आपसी हितों के सम्बन्धों की स्थापना के लिए एक जाग्रत प्रयास किया गया है। इसके साथ ही अधिकारियों के मध्य प्रत्येक स्तर पर संचार सम्बन्ध है, जो संकट की घड़ियों में संभावित दुर्घटना या भूल-चूक को कम कर दे।

ब्रेझनेव ने 1973 में ही घोषणा की कि 'दो देशों में बढ़ता तनाव शैथिल्य अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की एक नयी व्यवस्था नियत करता है जो कि संप्रभुता तथा आन्तरिक मामलों में अहस्तक्षेप के सिद्धान्तों पर ईमानदारी और निरन्तरता को एक साथ पालन करने साथ ही सन्धि-समझौतों को बिना किसी धोखे और पैंतरेबाजी के दृढ़ता-पूर्वक क्रियान्वयन कराना है।' एक अन्य घोषणा में उन्होंने कहा कि 'अब हम अपनी नीति के नवीन उद्देश्यों तथा नवीन दिशा-निर्देशों की अवधारंणा के लिए कार्यरत हैं। इस दिशा में आगे बढ़ते हुए हमारे प्रमुख ध्येय शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अति आवश्यक नियम के रूप में अधिक प्रभावशाली ढंग से प्राप्त कर सकें।'

प्रो0 एम0एस0 अगवानी की पुस्तक 'देता पर्सपेक्टिवस एंड रिपरकसंस' के प्राक्कथन में तनाव शैथिल्य को इस रूप में व्याख्यायित किया गया है: ''1960 के बाद महाशक्तियों के सम्बन्ध एक ही दिशा में बहने लगे हैं। समय की गति के साथ-साथ शीतयुद्ध के नकारात्मक रवैये और स्थितियाँ दोनों पक्षों में आपसी बातचीत, समायोजन तथा सह-अस्तित्व की ओर उन्मुख होने लगे। वैचारिक मतभेद आज भी बने हुए हैं परन्तु वे अब राजनीतिक तथा आर्थिक अन्तःक्रिया में बाधा पैदा नहीं करते यद्यपि शस्त्रों की होड़ पूर्णतया समाप्त नहीं हुई है, तथापि यह खेल समझौतावादी संयम के साथ खेला जाने लगा है। सैनिक गठबन्धनों का अन्त नहीं हुआ है पर उन्होंने अपनी मौलिकता तथा एकरूपता खो दी है। इन सबके ऊपर परमाणु-विनाश का दुःस्वप्न अब पहले की तरह आतंकित नहीं करता। सोवियत संघ तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के मध्य सम्बन्धों में होने वाले इस बदलाव को तनाव शैथिल्य नाम दिया गया है।''

दितान्त की उपर्युक्त अभिव्यक्तियाँ इसकी प्रमुख विशेषताओं की ओर इशारा करती हैं जिन्हें निम्नवत् रखा जा सकता है।

(a) यह एक प्रक्रिया है।

(b) इस प्रक्रिया के अन्तर्गत महाशक्तियों के मध्य तनाव को कम किया जाता है।

(c) यह प्रक्रिया महाशक्तियों के मध्य शीतयुद्धीय तनावों को उनके विभिन्न क्षेत्रों - राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, प्रौद्योगिक, वैचारिक आदि में सहयोग द्वारा कम करने का प्रयास करती है।

(d) दितान्त का यह अर्थ कदापि नहीं है कि महाशक्तियों के वैचारिक या अन्य मतभेद पूर्णतः समाप्त हो गए हैं परन्तु इसकी यह विशेषता अवश्य है कि वैचारिक मतभेदों तथा शक्ति संघर्ष की प्रतियोगिता के रहते हुए भी उनमें विभिन्न क्षेत्रों में सहयोग किसी बाधा को उत्पन्न नहीं होने देते।

11.3 तनाव शैथिल्य के कारण

महाशक्तियों के मध्य तनाव में शिथिलता की आवश्यकता के अनेक कारण हैं पर इनमें से निम्नलिखित घटनाओं को दितान्त के कारणों के रूप में चिन्हित किया जा सकता है :

1. क्यूबा का मिसाइल संकट (1962) : इस घटना के परिणामस्वरूप महाशक्तियों ने एक दूसरे को एक गर्मयुद्ध की रणभूमि में आमने-सामने पाया। युद्ध तो टल गया पर महाशक्तियों को यह एहसास अवश्य हो गया कि शीतयुद्ध के क्षेत्र को सीमित करने हेतु सहयोगी व मित्रवत् सम्बन्ध

विकसित करना आवश्यक है।

2. परमाणु युद्ध का भय : दूसरे विश्वयुद्ध के बाद अमेरिका का परमाणु एकाधिकार लगभग एक दशक तक रहा। 1953 में सोवियत संघ ने अमेरिका से परमाणु क्षेत्र में बराबरी हासिल कर ली। अगले एक दशक में ब्रिटेन और फ्रांस के अतिरिक्त चीन भी एक परमाणु शक्ति बन गया। अमेरिका तथा सोवियत संघ के बीच इस क्षेत्र में प्रतिस्पर्द्धा से अब अणु शस्त्रों के विकास के क्षेत्र में जिस दौड़ का प्रारम्भ हुआ इससे परमाणु युद्ध का भय गहराने लगा। अतः इसकी आशंका के रहते शीतयुद्धीय तनावों में शिथिलता अनिवार्य हो गयी। इसी का परिणाम था कि 1963 और 1968 में क्रमशः आंशिक अणु परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि और परमाणु अप्रसार सन्धि पर महाशक्तियों ने हस्ताक्षर किए।

3. स्टालिन के उपरान्त सोवियत संघ द्वारा शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति का समर्थन–यह एक बड़ा वैचारिक बदलाव था क्योंकि स्टालिन को प्रायः शीतयुद्ध का एक बड़ा रणबाँकुरा, समझा जाता था और उसका यह विश्वास था कि पूंजीवाद तथा साम्यवाद में किसी प्रकार का सहयोग संभव नहीं है। स्टालिन के बाद ख्रुश्चेव और उसके बाद के सोवियत नेतृत्व की मान्यता शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की रही। इस मामले में चीन का नेतृत्व स्टालिन के विचार का अनुगामी था और इसी कारण सोवियत संघ और चीन के मध्य परस्पर अविश्वास के एक युग का सूत्रपात हुआ जिसकी परिणति 1969 में दोनों के मध्य प्रत्यक्ष सैन्य संघर्ष में हुई। यह बात भी गौरतलब है कि 1969 के उपरान्त ही चीन के प्रति अमेरिकी नीति में एक बदलाव का स्वर दृष्टिगोचर होने लगा। यह कहा जा सकता है कि अमेरिका सोवियत संघ तथा चीन दोनों के साथ तनाव को शिथिल करने की ओर उन्मुख हुआ। दूसरी ओर सोवियत संघ की चीन से बढ़ती दूरी ने उसे अमेरिका के साथ तनाव शैथिल्य की दिशा में आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित किया।

4. सैनिक गुटबाजी की निरर्थकता का एहसास : शीतयुद्ध के उन्मादी दौर में जन्मे सैन्य गुट जैसे वारसा, नाटो, सीटो तथा सेन्टो कुछ समय तक तो प्रभावशाली रहे पर कालान्तर में ये अप्रभावी होने लगे। सीटो तथा सेन्टो तो विघटित ही हो गए और नाटो तथा वारसा में भी सदस्यों की सोच के मध्य विरोध के स्वर दिखाई पड़ने लगे। उदाहरण के लिए विली ब्रांट (प0 जर्मनी के चांसलर) अमेरिका की इच्छा के विरुद्ध पूर्वी तथा पश्चिमी यूरोप की एकतता की बात करने लगे तो फ्रांस के राष्ट्रपति डि गॉल ने भी समस्त यूरोपीय देशों में सहयोग पर बल देने की बात की। दूसरी ओर वारसा सन्धि में शामिल रोमानिया द्वारा इसके सैनिक बजट को बढाए जाने की सोवियत संघ की पहल का विरोध किया।

5. विश्व राजनीति में सोवियत गुट की बढ़ती महत्ता : साठ के दशक के उत्तरार्द्ध में सोवियत संघ तथा उसके गुट का प्रभाव विश्व राजनीति में बढ़ने लगा। इसके परिणामस्वरूप संयुक्त राज्य अमेरिका ने तनाव शैथिल्य के महत्त्व को अनुभव करना शुरू किया।

6. अमेरिका की वियतनाम युद्ध में असफलता : वियतनाम का युद्ध अमेरिका के लिए गले की हड्डी साबित हुआ। यह भी अमेरिकी नीति निर्माताओं को इस बात के लिए प्रेरित करने में एक कारक बना कि तनाव में शिथिलता ही अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में एक सही या उचित विकल्प है।

7. सैनिक शक्ति की विफलता तथा आर्थिक सहायता की निरर्थकता : दोनों महाशक्तियाँ शीतयुद्ध में अपने-अपने प्रभाव क्षेत्रों को जमाने के लिए सैनिक अड्डे स्थापित कर चुकी थीं। कालान्तर में महाशक्तियों द्वारा कई राज्यों में सैनिक हस्तक्षेप भी किए गए। अपने-अपने प्रभाव क्षेत्रों को तीसरी दुनिया में बढ़ाने की नीयत से इस दुनिया के राष्ट्रों को आर्थिक सहायता का लालच देकर या आर्थिक सहायता देकर अपने प्रभाव क्षेत्रों में लाया भी गया परन्तु ऐसी सभी कार्रवाइयों का

विश्व जनमत द्वारा विरोध ही हुआ और महाशक्तियों को यह अनुभूती हुई कि इन कार्यवाइयों से उनके हित नहीं सध सकते।

8. गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की भूमिका : गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की प्रगति तथा सफलता ने भी महाशक्तियों को यह एहसास कराया कि गुटीय राजनीति तथा गुटीय संघर्ष संभवतः उनके हितों की रक्षा नहीं कर सकते अतः वे मित्रता और सहयोग के विकास हेतु प्रोत्साहित हुए।

9. संयुक्त राष्ट्र की महत्त्वपूर्ण भूमिका : महाशक्तियों को एक-दूसरे के नजदीक लाने में संयुक्त राष्ट्र की भूमिका की अनदेखी नहीं की जा सकती। संयुक्त राष्ट्र के शान्ति प्रयासों द्वारा अनेक बार अन्तर्राष्ट्रीय संकटों को टालने में मदद मिली। यह महाशक्तियों के बीच संवाद का मंच बना जहां महाशक्तियों ने एक दूसरे के पक्ष के बारे में एक समझ विकसित की और प्रत्यक्ष टकराव से बचते रहे।

2.4 तनाव शैथिल्य के विकास के विभिन्न चरण : तनाव शैथिल्य की प्रक्रिया के आरम्भ होने के समय के बारे में विद्वानों में आम सहमति नहीं है। कुछ नेता कैनेडी - ख़ुश्चेव के दौर का जिक्र करते हैं तो दूसरे पर्यवेक्षक निक्सन-ब्रेझनेव के दौर का; हकीकत यह है कि शीतयुद्ध के चलते इसमें शिथिलता की प्रक्रिया भी दिखायी देने लगी थी। निम्नलिखित कालखंडों में तनाव शैथिल्य के इतिहास को दर्शाया जा सकता है।

(a) 1953 से 1955 का कालखंड : डा0 पुष्पेश पन्त ने इस दौर को महाशक्तियों के बीच आंशिक सहयोग के रूप में दर्शाया है। इसके प्रमुख संकेत वे निम्नलिखित घटनाओं में दर्शाते हैं–

1. 1953 में कोरिया युद्ध की समाप्ति की घोषणा
2. 1955 में आस्ट्रिया के साथ शान्ति सन्धि
3. 1955 में पैकेज डील समझौता - इस समझौते के तहत 16 राष्ट्र (चार पश्चिम समर्थित, चार सोवियत समर्थित और आठ गुटनिरपेक्ष राष्ट्र) संयुक्त राष्ट्र के सदस्य बनाए गए।

(b) 1956 से 1962 का कालखंड : इस कालखंड में दो महत्त्वपूर्ण घटनाओं को शामिल किया जा सकता है

1. 1959 में ख़ुश्चेव की अमेरिका की यात्रा और
2. 1960 में पेरिस का शिखर सम्मेलन

(c) 1963 से 1969 का कालखंड : इस कालखंड में महाशक्तियों के बीच आपसी प्रतिद्वन्द्विता के बावजूद शान्ति व मैत्री प्रयासों हेतु उठाए गए निम्नलिखित कदम तनाव शैथिल्य हेतु महत्त्वपूर्ण हैं :

1. 1963 का हाटलाइन समझौता,
2. 1963 की आंशिक परमाणु परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि, तथा
3. 1968 में परमाणु प्रसार प्रतिबन्ध सन्धि।

(d) 1970 से 1979 का कालखंड : वस्तुतः इस कालखंड को ही तनाव शैथिल्य का वास्तविक दौर कहा जा सकता है जब महाशक्तियों ने अपने आपसी सम्बन्धों को सुधारने हेतु तथा विश्व की अनेक ज्वलन्त समस्याओं का समाधान करने हेतु कई ठोस प्रयास किए। इस कालखंड की प्रमुख घटनाएं निम्नलिखित हैं :

1. मास्को-बोन समझौता (1970) : इस समझौते द्वारा सोवियत संघ तथा प0 जर्मनी दो बातों पर सहमत हुए-प्रथम यह कि ये दोनों राष्ट्र एक-दूसरे के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग नहीं करेंगे और द्वितीय यह कि पूर्वी और पश्चिमी जर्मनी के बीच मौजूदा सीमाओं सहित यूरोप की मौजूदा राष्ट्रीय सीमाओं को दोनों ने स्वीकार किया। स्मरणीय है कि जर्मनी तथा उसके विभाजन का प्रश्न

महाशक्तियों के बीच शीत युद्ध का एक बड़ा मसला था।

2. कोरिया का समझौता (1971, 1972 तथा 1973) : कोरिया, शीतयुद्ध के दौरान महाशक्तियों के बीच प्रतिद्वन्द्विता का क्षेत्र बन चुका था। इसका विभाजन वैचारिक धरातल पर हुआ। इसके विभाजन से उत्पन्न समस्याएँ जटिल थीं। 1971 में उत्तर तथा दक्षिण कोरिया की रेडक्रास सोसाइटी की बैठक में यह तय किया गया कि कोरियावासियों के एक करोड़ बिछड़े हुए परिवार एवं मित्रजनों की अदला-बदली की जाए। 1972 में दोनों कोरियाई राज्यों ने आपसी समझौते से यह तय किया कि वे एक-दूसरे को कमजोर करने का कोई प्रयास नहीं करेंगे। इसके साथ ही कोरिया के एकीकरण को सम्पन्न करने के लिए एक समन्वय समिति भी गठित की गयी। 1973 में दोनों देशों के बीच पारस्परिक सहयोग स्थापित करने के उद्देश्य एक आयोग बनाया गया। इस आयोग द्वारा दोनों के बीच सैनिक तनाव कम करने हेतु अनेक सुझाव दिए गए।

3. बर्लिन समझौता (1971) : बर्लिन का प्रश्न शीतयुद्ध के बाद एक जटिल प्रश्न था। 1971 में अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस तथा सोवियत संघ के बीच पश्चिम बर्लिन के बारे में एक समझौते द्वारा यह तय हुआ कि पश्चिम बर्लिन के लोग पूर्वी बर्लिन जा सकते हैं। इसके साथ ही एक अन्य समझौते से यह भी तय हुआ कि बर्लिन तक और बर्लिन से असैनिक आयात हो सकेगा; संघीय जर्मनी के साथ पश्चिम बर्लिन के सम्बन्ध क्या होंगे; बर्लिन के पूर्व और पश्चिम क्षेत्रों का पूर्वी जर्मनी के साथ संचार सम्बन्ध तथा बर्लिन का विदेशों में प्रतिनिधित्व।

4. पूर्वी तथा पश्चिम बर्लिन के बीच समझौता (1972) : शीतयुद्ध के दौरान जर्मनी के विभाजन की आड़ में महाशक्तियाँ शक्ति संघर्ष का खेल खेलती रहीं पर दोनों जर्मनियों के बीच इस समझौते द्वारा एक दूसरे के अस्तित्व को स्वीकार कर लिया गया। साथ ही एक दूसरे को मानवीय क्षेत्रों में सहयोग करने का वचन भी दिया गया। दोनों ने यह भी वादा किया कि वे एक-दूसरे के खिलाफ बल प्रयोग नहीं करेंगे। इस समझौते ने जर्मनी को शीतयुद्ध क्षेत्र से मुक्त कर दिया और दोनों जर्मनी स्वतन्त्र सम्प्रभु राष्ट्रों के रूप में संयुक्त राष्ट्र में शामिल हो गये।

5. मास्को शिखर वार्ता तथा सामरिक शस्त्र परिसीमन सन्धि (SALT) : (1972) :22 मई 1972 को राष्ट्रपति निक्सन मास्को पहुँचे। सात दिनों की उनकी यह सद्भावना यात्रा किसी अमेरिकी राष्ट्रपति की पहली सोवियत यात्रा थी। इस दौरान उन्होंने घोषणा की कि दोनों राष्ट्र अपने विवादास्पद प्रश्नों का निर्णय संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अनुरूप युद्ध के बजाय शान्तिपूर्ण वार्ता से करेंगे। इस ऐतिहासिक, शिखर वार्ता के उपरान्त दोनों महाशक्तियों ने संयुक्त वक्तव्य में जिन बातों पर जोर दिया वे उन दोनों राज्यों के बीच सम्बन्धों के मौलिक सिद्धान्तों की ही घोषणा की अभिव्यक्ति थी। जिन बातों पर जोर दिया गया वे निम्नलिखित थीं :

(a) आणविक आयुधों को सीमित करना–यह SALT-1 समझौता के नाम से जाना जाता है इसके अन्तर्गत दो समझौते किए गए पहला प्रक्षेपास्त्र विरोधी शस्त्रों को सीमित करने सम्बन्धी सन्धि (Treaty on the Limitation of Anti Ballistic Missile System) और दूसरा सामरिक आक्रामक शस्त्रों के परिसीमन सम्बन्धी कुछ उपायों पर समझौता। पहला समझौता अनिश्चित काल के लिए किया गया था और दूसरा पांच वर्षों के लिए।

(b) व्यापारिक और आर्थिक सम्बन्ध–दोनों देशों ने इन सम्बन्धों को बढ़ाने के उद्देश्य से एक संयुक्त व्यापारिक आयोग बनाने का निश्चय किया।

(c) समुद्री मामलों के सम्बन्ध में समझौता–यह समझौता समुद्र तथा आकाश में दोनों देशों के जहाजों तथा विमानों की भीषण दुर्घटनाओं को रोकने के उद्देश्य से किया गया।

(d) विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में सहयोग–इस उद्देश्य से भी एक संयुक्त आयोग बनाने का निश्चय किया गया। अन्तरिक्ष में दुर्घटनाओं को रोकने और अन्तरिक्ष में शान्तिपूर्ण अनुसंधान हेतु मिलजुलकर काम करने की व्यवस्था पर सहमति हुई तथा विश्व के सम्पूर्ण मानव समाज के स्वास्थ्य की समस्याओं के निवारण हेतु अनुसंधान कार्यों में सहयोग का निश्चय किया गया।

मास्को वार्ता के इन समझौतों को स्वयं राष्ट्रपति निक्सन ने ऐतिहासिक तथा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बताया। हेनरी किसिन्जर ने इसे सामरिक शस्त्रों को सीमित करने की दिशा में एक अपरिहार्य उपलब्धि कहा। निस्सन्देह यह शिखर वार्ता शीतयुद्ध की समाप्ति का संकेत करती थी। इसके द्वारा शस्त्रों की होड़ सीमित करने की सम्भावना बढ़ी। यूरोप में तनावों में शिथिलता आने लगी और पूर्व तथा पश्चिम के बीच सौहार्द्र बढ़ने लगे।

6. अमेरिका-सोवियत संघ आर्थिक सहयोग : मास्को सम्मेलन में सोवियत संघ-अमेरिका संयुक्त आर्थिक आयोग पर जो सहमति हुई थी उसी क्रम में दोनों देशों ने अक्टूबर 1972 में तीन वर्षीय समुद्री समझौते पर हस्ताक्षर किए तथा 18 अक्टूबर को सोवियत संघ को सर्वाधिक वरीयता प्राप्त राष्ट्र (M.F.N.) का दर्जा दिया गया। सोवियत संघ द्वारा द्वितीय विश्व युद्ध के दौर में लिए गए ऋणों के भुगतान का भी वादा किया गया। आर्थिक सहयोग की यह प्रक्रिया अगले वर्ष तक जारी रही।

7. ब्रेझनेव की अमेरिका-यात्रा (1973) : 17 जून, 1973 को सोवियत राष्ट्रपति ब्रेझनेव अमेरिका की यात्रा पर गए। इस यात्रा के दौरान दोनों महाशक्तियों के बीच परस्पर तकनीकी सहयोग से सम्बन्धित विषयों पर विचार-विमर्श हुआ और अनेक व्यापारिक प्रश्नों पर भी आदान-प्रदान हेतु सहमति हुई। सबसे महत्त्वपूर्ण सहमति 'संयुक्त अन्तरिक्ष कार्यक्रम' को 1975 से लागू करने के उद्देश्य से हुई। इस यात्रा की कुछ और महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ भी रहीं, जैसे दोनों देशों ने 1974 तक परमाणु आयुधों के निर्माण पर स्थायी रोक लगा देने और परमाणु शक्ति के शान्तिपूर्ण उपयोग में सहयोग करने का वचन दिया, विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में सहयोग के वादे किए गए जिससे आर्थिक व व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ाने का मार्ग प्रशस्त हुआ तथा यह भी संकल्प किया गया कि कोई भी राष्ट्र परमाणु युद्ध नहीं करेगा और न ही एक दूसरे अथवा उनके साथियों को युद्ध की धमकी देगा।

8. निक्सन की सोवियत यात्रा (1974) : तीन वर्षों में महाशक्तियों के बीच यह तीसरा शिखर सम्मेलन था। इस सम्मेलन की उपलब्धियाँ यह रहीं कि महाशक्तियों ने जवाबी प्रक्षेपास्त्र प्रणालियों तथा आक्रामक परमाणु अस्त्रों को और अधिक सीमित करने तथा भूमिगत परमाणु परीक्षणों पर प्रतिबन्ध लगाने से सम्बन्धित समझौतों पर हस्ताक्षर किए। एक दस वर्षीय व्यापार समझौता भी सम्पन्न हुआ जिसके तहत यह तय किया गया कि दोनों राष्ट्र अपनी आर्थिक संस्थाओं के बारे में जानकारी का परस्पर आदान-प्रदान करेंगे।

9. हेलसिंकी सम्मेलन (1973) तथा हेलसिंकी समझौता (1975) : यूरोपीय सुरक्षा सम्मेलन के नाम से मशहूर यह सम्मेलन हेलसिंकी में 1973 में प्रारम्भ हुआ। इसकी वार्ता का दौर जेनेवा में जारी रहा तथा 1975 में हेलसिंकी में द्वितीय सम्मेलन में किए गए समझौतों के साथ इसका समापन हुआ। इस सम्मेलन से जन्मी 'हेलसिंकी-भावना' यूरोप में तनाव शैथिल्य स्थापित करने में महत्त्वपूर्ण रहीं। इस सम्मेलन में 35 राष्ट्रों ने सहभाग किया और अल्बानियाँ को छोड़कर यूरोप के सभी राष्ट्र तथा अमेरिका और कनाडा ने इस बात पर सहमति जतायी कि वे सभी बिना किसी भेदभाव के पारस्परिक सहयोग को बढ़ाने हेतु कार्य करेंगे, एक दूसरे की संप्रभुता, सम्प्रभु अधिकारों और क्षेत्रीय अखंडता का सम्मान करेंगे, झगड़ों का शान्तिपूर्ण समाधान करने का प्रयास करेंगे, एक दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे तथा एक दूसरे पर विश्वास करेंगे। यह समझौता यूरोप में तनाव शैथिल्य की स्थापना की दिशा में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साबित हुआ। अमेरिका तथा सोवियत संघ द्वारा इस समझौते के प्रति वचनबद्धता पर अपनी सहमति जतायी गयी।

10. कम्बोडिया और वियतनाम के युद्ध की समाप्ति (1975) : शीतयुद्ध के दौर में दक्षिण पूर्व एशिया भी इसका एक केन्द्र बना। 1975 में कम्बोडिया (कम्पूरिया) में गृहयुद्ध की समाप्ति तथा इसी वर्ष वियतनाम के युद की समाप्ति और वियतनाम के एकीकरण ने इस क्षेत्र में तनाव में शिथिलता का मार्ग प्रशस्त किया।

11. ब्लाडीबोस्टक शिखर सम्मेलन (1974) : यद्यपि 1974 में राष्ट्रपति निक्सन को त्याग-पत्र देना पड़ा था पर उनके उत्तराधिकारी फोर्ड ने तनाव शैथिल्य की प्रक्रिया को शिखर सम्मेलन की कूटनीति द्वारा तेज करने की नीति को जारी रखा गया। ब्लाडीबोस्टक सम्मेलन में फोर्ड तथा ब्रेझनेव द्वारा सामरिक अस्त्र परिसीमन समझौता-2 (SALT-2) की रूपरेखा तैयार की गयी। यह भी कहा गया कि 1975 में ब्रेझनेव की प्रस्तावित अमेरिका-यात्रा के दौरान इस समझौते पर हस्ताक्षर हो जाएंगे तथा यह समझौता-SALT-1 की समाप्ति के बाद लागू हो जाएगा। SALT-2 का समझौता 1979 में राष्ट्रपति कार्टर तथा ब्रेझनेव के द्वारा हस्ताक्षरित किया गया परन्तु अमेरिकी सीनेट द्वारा इसका अनुमोदन करने से इंकार कर दिया गया। इसी वर्ष अफ़गानिस्तान में सोवियत संघ के हस्तक्षेप ने महाशक्तियों को एक दूसरे शीतयुद्ध के दौर में धकेल दिया।

11.5 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर तनाव शैथिल्य का प्रभाव :

शीतयुद्ध के दौर में न सच्ची शान्ति थी न वास्तविक युद्ध की स्थिति। तनाव शैथिल्य के दौर ने इस स्थिति को स्थायी नहीं रहने दिया। तनाव शैथिल्य की प्रक्रिया के साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिदृश्य में जो बदलाव दिखायी पड़ते हैं वे उसके प्रभाव को ही दर्शाते हैं। इन प्रभावों को निम्नलिखित बिन्दुओं में दर्शाया जा सकता है :

1. अन्तर्राष्ट्रीय तनावों में कमी आयी तथा महाशक्तियों के मध्य सहयोग और मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का विकास प्रारम्भ हुआ।
2. यूरोप का विभाजन क्रमशः पूर्व तथा पश्चिम के रूप में अब वास्तविक नहीं लगने लगा साथ ही यूरोपीय देशों के व्यापार और सांस्कृतिक आदान-प्रदान में वृद्धि हुई। तनाव शैथिल्य के युग में ही यूरोपीय एकता के प्रयास तेजी से आगे बढ़ने लगे।
3. विश्व को तीसरे महायुद्ध के भय से मुक्ति मिली।
4. महाशक्तियों ने शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के सिद्धान्त स्वीकार कर लिए।
5. निःशस्त्रीकरण तथा परमाणु शस्त्रों के परिसीमन लिए मार्ग प्रशस्त हुआ।
6. महाशक्तियों के बीच वैज्ञानिक प्रौद्योगिक, आर्थिक तथा व्यापारिक सहयोग का मार्ग प्रशस्त हुआ।
7. संयुक्त राष्ट्र के मंच पर महाशक्तियों की खींचतान में कमी आयी और यह संगठन अब कहीं अधिक प्रभावशाली रूप से कार्य करने में सक्षम हुआ।
8. द्विध्रुवीय गुटबन्दी में लिप्त राष्ट्रों को अपने स्वतन्त्र निर्णय लेने की स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। इसी काल में ऐसे कई राष्ट्र गुटनिरपेक्ष आन्दोलन में शामिल हुए।
9. तनाव शैथिल्य ने तीसरी दुनिया की एकता के लिए भी मार्ग प्रशस्त किया। यह बात इस सन्दर्भ में अधिक महत्त्वपूर्ण है कि महाशक्तियों की बढ़ती नजदीकी ने उन्हें नयी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था से सम्बन्धित अनेक मुद्दों पर तीसरी दुनिया की माँगों के विरुद्ध कर दिया। उत्तर-दक्षिण वार्ता से किन्हीं अपेक्षित परिणामों के न मिलने की वजह से अब दक्षिण-दक्षिण संवाद की मांग बलवती होने लगी जिससे तीसरी दुनिया के देश परस्पर नजदीक आए।
10. मानवाधिकार आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ।
11. गुटनिरपेक्षता की प्रासंगिकता पर प्रश्नचिन्ह : तनाव शैथिल्य ने एक ऐसे माहौल को जन्म दिया जहाँ कुछ लोग यह मानने लगे कि गुटनिरपेक्षता अब अप्रासंगिक हो गयी है पर दूसरे लोग इसे इस रूप में दर्शाते हैं कि गुटनिरपेक्ष राष्ट्र अब महाशक्तियों के अविश्वास तथा सन्देह का शिकार नहीं बनते।

तनाव शैथिल्य की प्रक्रिया आलोचनाओं से परे नहीं हैं। इसकी आलोचनाओं को निम्नलिखित बिन्दुओं में रखा जा सकता है

1. यह शक्ति सन्तुलन की यथास्थिति को बनाए रखने का ही एक परिष्कृत रूप साबित हुआ। शीतयुद्ध के दौरान महाशक्तियों द्वारा स्थापित प्रभाव क्षेत्रों को महाशक्तियों ने एक दूसरे के आधिपत्य क्षेत्रों के रूप में मान्यता दी।
2. तनाव शैथिल्य यूरोप तक ही सीमित रहा। तीसरी दुनिया में शान्ति तथा सुरक्षा की स्थापना और तीसरी दुनिया की भागीदारी की उपेक्षा ने विश्व को महाशक्तियाँ बनाम तीसरी दुनिया के रूप में परिवर्तित कर दिया।
3. तनाव शैथिल्य स्थायी विश्व शान्ति हेतु कोई ठोस प्रयास नहीं कर पाया। यह बात इस कारण भी उचित लगती है कि महाशक्तियों ने जो समझौते किए वे दीर्घकालिक नहीं थे साथ ही इन समझौतों को विश्व शान्ति की व्यापकता के सन्दर्भ में भी नहीं देखा जा सकता।
4. तनाव शैथिल्य से विश्व पूर्णतः तनाव युक्त नहीं हो पाया। इस सन्दर्भ में पश्चिम एशिया क्षेत्र का उदाहरण दिया जा सकता है।

संक्षेप में तनाव शैथिल्य को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के एक अन्तराल के रूप में ही देखा जा सकता है न कि एक युग के रूप में। इस सन्दर्भ में श्रीमती इन्दिरा गाँधी द्वारा की गयी टिप्पणी बहुत ही सार्थक थी कि 'दितान्त को सिर्फ यूरोप तक सीमित नहीं रखा जाना चाहिए बल्कि उसका विश्व के सभी भागों में प्रसार होना चाहिए।'

11.6 नव शीतयुद्ध

तनाव शैथिल्य की प्रक्रिया जिसका सूत्रपात क्यूबा मिसाइल संकट से देखा जा सकता है वह अगले दशक में भी जारी रही परन्तु 1979 में दो ऐसी घटनाएँ हुईं जो तनाव शैथिल्य की भावना के लिए घातक साबित हुई। इनमें से पहली घटना ईरान में शाह का पतन और दूसरी घटना अफगानिस्तान में सोवियत संघ के सैनिक हस्तक्षेप की थी। यों भी 1970 के दशक में महाशक्तियों द्वारा की गयी कुछ ऐसी कार्रवाइयाँ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के पर्यवेक्षकों को यह सोचने के लिए मजबूर कर रही थीं कि क्या किसी दूसरे शीतयुद्ध की तैयारी तो नहीं हो रही है? डिएगो गार्सिया में अमेरिकी सैनिक अड्डे की स्थापना और पश्चिम एशिया क्षेत्र में 'तुरन्त तैनाती दस्ते' की योजना के परिणाम दूरगामी हुए। निकारागुआ और अल सल्वाडोर में मार्क्सवादी व सोवियत संघ की पक्षधर सरकारों का आविर्भाव भी इसका कारण बना। नए शीतयुद्ध के बीज तनाव शैथिल्य में ढूंढ पाना मुश्किल कार्य नहीं है। नए शीतयुद्ध के उद्भव एवं अमेरिकी राष्ट्रपति कार्टर के कार्यकाल में मानवाधिकारों की रक्षा को विदेश नीति का एक मुख्य मुद्दा बनाना भी एक महत्त्वपूर्ण कारण बना। यह बात गौरतलब है कि मानवाधिकारों के हनन के प्रश्न पर अमेरिकी नीति जहाँ सोवियत संघ तथा साम्यवादी शासनों को प्रमुख लक्ष्य बनाती है वहीं अपने मित्र राष्ट्रों की तरफ से आँख मूंद लेती है। तनाव शैथिल्य के दौर में ही बड़े पैमाने पर सैनिक खर्च होते रहे। इनके साथ ही व्यक्तित्वों की टकराहट और सैद्धान्तिक विवाद क्रमशः दो व्यवस्थाओं के बुनियादी विरोध को समाप्त न कर पाए और एक नए शीतयुद्ध के रूप में प्रकट हुए। नए शीतयुद्ध का दौर लगभग एक दशक का रहा और पूर्वी यूरोप में साम्यवादी व्यवस्थाओं के अवसान के साथ ही इसका भी समापन हो गया।

11.7 नव शीतयुद्ध का अर्थ

नया शीतयुद्ध नया अथवा द्वितीय विश्वयुद्ध है या शीतयुद्ध का ही एक और चरण; यह प्रश्न विद्वानों के मध्य एक वाद-विवाद का प्रश्न बना। फ्रेड हेलीडे तथा के0 सुब्रह्मण्यम जैसे विश्लेषकों ने इस बात पर सशक्त तर्क पेश किए कि इन दो शीतयुद्धों की प्रकृति में एक मूलभूत अन्तर है। सुब्रह्मण्यम के विचार से पहले शीतयुद्ध के दौर में सोवियत संघ की नौसेना की पहुंच विश्व व्यापी नहीं थी तथा यह भी कि नवोदित विकासशील देशों ने द्वितीय विश्व युद्ध के दौर में अपने प्राकृतिक संसाधनों पर कानूनी और राजनीतिक स्वामित्व हासिल कर लिया था। इसके अलावा इन्हें सोवियत टेक्नॉलाजी भी सुलभ हो चुकी थी। यही नहीं सुब्रह्मण्यम की मान्यता है कि जहाँ पहले शीतयुद्ध में महाशक्तियों के सन्धि-मित्र अपने-अपने खेमों के अनुशासित अनुचर बने रहे वहीं दूसरे शीतयुद्ध के काल में उनके आचरण में स्वाधीनता दिखायी पड़ने लगी और यह द्विध्रुवीय विश्व को विसंगत सिद्ध कर देती है। पहले शीतयुद्ध के दौर में गुटनिरपेक्षता का आविर्भाव होता है और उसकी एक रचनात्मक-सार्थक भूमिका को देखा जा सकता है जबकि दूसरे शीतयुद्ध काल में इस आन्दोलन में बदले हुए अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य के सन्दर्भ में दरारों को देख पाना कठिन नहीं है। एक और महत्त्वपूर्ण अन्तर यह भी कि पहले शीतयुद्ध-काल में अन्तर्राष्ट्रीय संकट का केन्द्र यूरोप था जबकि दूसरे शीतयुद्ध-काल में अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों के लगभग सभी मौके एशिया, अफ्रीका या लैटिन अमेरिका में ही दिखायी देते हैं। सुब्रह्मण्यम यह भी मानते हैं कि जापान तथा जर्मनी के आर्थिक महाशक्ति के रूप में उभरने के कारण भी दूसरे शीतयुद्ध की जटिलताएँ पहले शीतयुद्ध से भिन्न थीं।

फ्रेड हालीडे भी अपनी पुस्तक 'दि मेकिंग ऑफ दि सेकेंड कोल्ड वार' में इन बातों की पुष्टि करते हैं और इनसे अलग कुछ अन्य तर्कों के माध्यम से यह दर्शाते हैं कि दोनों शीतयुद्ध एक दूसरे से भिन्न हैं। उन्होंने सैद्धान्तिक या वैचारिक पक्ष के आधार पर यह दर्शाया है कि यह प्रथम शीतयुद्ध में जितना महत्त्वपूर्ण था उतना दूसरे शीतयुद्ध में नहीं। उन्होंने दूसरे शीतयुद्ध के दौर में महाशक्तियों के दंगल को तीसरी दुनिया में अधिपत्य जमाने हेतु जोर आजमाइश बताया है।

जार्ज गिल्डर ने अपनी पुस्तक 'वेल्थ एंड पावर्टी' में दूसरे शीतयुद्ध का प्रमुख कारण और इसकी प्रकृति के प्रमुख तत्त्व के रूप में 'साम्यवादी सपने के समाप्त होने' को माना है। हेकिट ने इससे भिन्न यह मत प्रकट किया है कि 'दूसरा शीतयुद्ध पारम्परिक दक्षिणपंथी विचारधारा का पुनर्पोषण नहीं बल्कि नव अनुदारवाद का बलवान होना है।' इस विचार से कार्ल केसर ने अपनी पुस्तक 'वेस्टर्न सिक्योरिटी हवाट हैज चेन्ज्ड् एण्ड हवाट शुड बी इन' में इस मत से अपनी सहमति जतायी है। फ्रेड हेलीडे इन सारे सन्दर्भों को उद्धृत करते हुए यह लिखते हैं कि 'मार्ग्रेट थ्रेचर का ब्रिटेन हो या रोनाल्ड रीगन का अमेरिका, प्रतिपक्षी को पीछे धकेलने वाली मानसिक प्रतिबद्धता पूर्ववत ही बनी हुई है। उन्हीं के अनुसार 'द्वितीय विश्वयुद्ध न तो एक दुर्घटना थी और न ही किसी सोचे-समझे षड्यन्त्र की उत्पत्ति। यह उन दीर्घकालीन निर्णयों को प्रतिबिम्बित करता है जो ऐसे सत्तासीन व्यक्तियों द्वारा लिए गए जिनका विश्व की घटनाओं के ऊपर सीमित नियन्त्रण था। यह ऐसे व्यक्तियों का एक बदलते अन्तर्राष्ट्रीय परिवेश हेतु ऐसा जवाब था जो इस नेतृत्व द्वारा अपने आधिपत्य की व्यवस्था के समक्ष उत्पन्न नयी चुनौतियों तथा विरोधी खेमे के साथ विश्व व्यापी संघर्ष में नए अवसरों के सन्दर्भ में दिया गया था।''

11.8 पुराने तथा नए शीतयुद्ध में अन्तर

इन दो शीतयुद्धों के मध्य अन्तर को दो स्थितियों के अन्तर के सन्दर्भ में निम्नांकित बिन्दुओं में रखा जा सकता है :

1. **विचारधारा :** पहला शीतयुद्ध मूलरूप से दो पृथक्-पृथक् विचारधाराओं की सैद्धान्तिक

कलह से प्रेरित रहा। पहले शीतयुद्ध का लक्ष्य साम्यवाद का अवरोध था जबकि दूसरे शीतयुद्ध को सोवियत संघ की बढ़ती शक्ति और प्रभाव के अवरोध के रूप में देखा जा सकता है। यही वजह है कि दूसरे शीतयुद्ध के मुख्य कर्ता मात्र महाशक्तियाँ न होकर पाँचों बड़ी शक्तियाँ हो गयीं।

2. **प्रतिस्पर्द्धा का नया क्षेत्र अथवा संघर्ष स्थलों का स्थानान्तरण :** पहले शीतयुद्ध का प्रमुख केन्द्र यूरोप ही रहा भले ही कुछ अन्य क्षेत्र भी समय-समय पर चर्चित रहे। सैनिक संगठनों में भी नाटो और वारसा सर्वाधिक चर्चित रहे। दूसरे शीतयुद्ध काल में फारस की खाड़ी पश्चिम एशिया, हिन्द महासागर, दक्षिण पूर्वी एशिया, अफगानिस्तान, ईरान-ईराक, अंगोला, इथियोपिया, सोमालिया, मोजम्बिक,अल सल्वाडोर जैसे अनेक क्षेत्र निरन्तर संघर्ष के केन्द्र बने।

3. **नए शीतयुद्ध काल में सैनिक संगठनों का अवमूल्यन :** पहले शीतयुद्ध काल में महाशक्तियों ने आपसी टकराहट को बुनियादी मानते हुए सैनिक संगठनों को आवश्यक समझा। पर धीरे-धीरे सैनिक संगठनों की सार्थकता कम होती चली गयी। पूर्व तथा पश्चिम के खेमों में पहली जैसी एकता भी नहीं बच पायी। अतः खेमों के नेतृत्वकर्त्ताओं की भूमिका में अन्तर दिखा।

4. **विश्व का द्विध्रुवीय से बहुध्रुवीय बन जाना :** प्रथम शीतयुद्ध के काल में विश्व राजनीति का द्विध्रुवीय विभाजन हो चुका था यह इसी दौर में इन दो ध्रुवों के राष्ट्रों द्वारा अपने आर्थिक पुनर्निर्माण तथा सामाजिक सुस्थिरता को हासिल कर लेने के बाद यह आकांक्षा जागने लगी कि उन्हें अपनी प्रतिष्ठा को हासिल करना चाहिए। यही कारण था कि फ्रांस, जर्मनी, जापान, चीन व ब्रिटेन, महाशक्तियों की संरक्षककर्त्ता की भूमिका के अधीनस्थ रहने को तैयार नहीं थे। साम्यवाद के राष्ट्रीय संस्करणों की उत्पत्ति के साथ साम्यवादी खेमे में सोवियत संघ के वर्चस्व की भी समाप्ति भी परिलक्षित होने लगी परिणामस्वरूप कठोर द्विध्रुवीय विश्व का विचार समाप्त हो गया।

5. **गुटनिरपेक्ष आन्दोलन :** पहला शीतयुद्ध गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के अभ्युदय का महत्त्वपूर्ण प्रेरक रहा और इस क्षमता में वह महाशक्तियों के मध्य भी एक सेतुबन्ध का कार्य कर सकता था पर दूसरे शीतयुद्ध के दौर में गुटनिरपेक्ष राष्ट्रो में पहले जैसी एकता नहीं रह पायी थी तथा आन्दोलन के सिद्धान्तों के साथ बहुत से समझौते स्वयं आन्दोलन के सदस्य राष्ट्रों ने कर लिए। अतः इस आन्दोलन की सार्थकता पर प्रश्नचिन्ह लगना प्रारम्भ हो गया।

6. **दूसरे शीतयुद्ध के दौर में महाशक्तियों की सामर्थ्य में असमानता तथा असन्तुलन :** पहले शीतयुद्ध के दौर में अमेरिका की सामर्थ्य निर्विवाद श्रेष्ठ थी पर दूसरे शीतयुद्ध के दौड़ में महाशक्तियों के बीच ऐसा असन्तुलन नहीं रहा। सुब्रह्मण्यम् ने अपनी पुस्तक 'दि सेकंड कोल्ड वार' में लिखा भी है कि ''द्वितीय विश्वयुद्ध एक उच्च तकनीक की शस्त्रास्त्र प्रतिस्पर्द्धा तथा विकासशील राष्ट्रों में हस्तक्षेप तथा उन पर दबावों के माध्यम से लड़ा गया। महाशक्तियाँ किसी प्रत्यक्ष संघर्ष से तो बची रहीं पर अप्रत्यक्ष युद्ध में संलग्न रहीं।

7. पहला शीतयुद्ध सोवियत संघ की मजबूरी था जबकि दूसरा शीतयुद्ध अमेरिका की मजबूरी। पहले शीतयुद्ध को स्टालिन की आक्रमक नीतियों का परिणाम कहा जा सकता है क्योंकि स्टालिन की नीति अमेरिका के समकक्ष महाशक्ति के रूप में सोवियत संघ को प्रतिष्ठित करने की थी। ऐसी नीति का अनुसरण पाश्चात्य जगत के सोवियत संघ को घेरने की नीतियों के विरोध के फलस्वरूप भी हुआ। दूसरे शीतयुद्ध के काल में अमेरिका की अपनी कुछ विवशताएँ उत्पन्न हो चुकी थीं। उसे फ्रांस, जर्मनी और जापान से आर्थिक क्षेत्र में प्रतिद्वन्द्विता का सामना करना पड़ रहा था। ऐसे में शस्त्रों का निर्यात एक ऐसा क्षेत्र था

जहां उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं था। शस्त्र-उद्योग के विकास का एक महत्त्वपूर्ण कारण भी था क्योंकि यह उसकी आर्थिक स्थिति में सुधार हेतु आवश्यक था।

इस उद्देश्य से अमेरिका नाटो के सैनिक बजट में वृद्धि भी चाहता था, मित्र राष्ट्रों का शस्त्रीकरण चाहता था तथा तीसरी दुनिया में शस्त्रों के लिए बाजार की तलाश कर रहा था।

11.9 नव शीतयुद्ध काल की प्रमुख घटनाएँ

यों तो अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप से नव शीतयुद्ध का प्रारम्भ माना जा सकता है पर राष्ट्रपति कार्टर के सलाहकार ब्रेझेन्स्की ने अपनी पुस्तक 'पावर एंड प्रिंसिपल्स' में 1978 में इथियोपिया में सोवियत संघ द्वारा क्यूबाई सैनिकों को भेजे जाने की प्रतिक्रिया स्वरूप अमेरिका की ओर से 'बैरियर टास्क फोर्स' भेजने की बात का जिक्र किया है तथा यह स्वीकार किया है कि अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप ने साल्ट वार्ता के ताबूत में अन्तिम कील का काम किया। अमेरिका द्वारा सोवियत शक्ति के प्रसार को रोकने के लिए क्रमशः खाड़ी सिद्धान्त, द्रुतगामी परिनियोजित सेना और सीमित परमाणु आक्रमण का सिद्धान्त का निर्माण किया जाना नव शीतयुद्ध के आरम्भिक चरण की प्रमुख घटनाएँ थीं।

नव शीतयुद्ध काल की प्रमुख घटनाओं का संक्षिप्त विवेचन निम्नवत् है।

1. **अफगानिस्तान का संकट :** अफगानिस्तान को यद्यपि सोवियत प्रभाव क्षेत्र का राज्य समझा जाता था परन्तु 1978 तक इसकी छवि एक गुट निरपेक्ष राष्ट्र के रूप में स्थापित हो चुकी थी। महाशक्तियाँ के मध्य अफगानिस्तान को अपने सैनिक खेमों में न लाने के बारे में एक सहमति थी परन्तु 1978-79 के मध्य की घटनाओं तथा सोवियत संघ द्वारा इसके आन्तरिक मामले में सैनिक हस्तक्षेप के एक पक्षीय निर्णय ने इस सन्तुलन को बिगाड़ दिया और अफगानिस्तान नए शीतयुद्ध का स्थल बन गया।

2. **कम्पूचिया का संकट :** अफगानिस्तान की ही तरह और लगभग उसी समय कम्चूरिया में पोल पोट के बर्बर शासन से वियतनामी सेना ने जब कम्पूचिया को मुक्त कराया तो यह भी नए शीतयुद्ध के संकट को बढ़ाने वाली घटना थी क्योंकि यह हिन्दचीन (लाओस, कम्चूरिया और वियतनाम) में वियतनामी प्रभुत्व की घोषणा थी जिसे सोवियत संघ का समर्थन प्राप्त था।

3. **ईरान-इराक युद्ध :** नए शीतयुद्ध के काल में पश्चिम एशिया में ईरान-इराक युद्ध एक संकट का कारण बना जहाँ पुराने शीत युद्ध काल में पश्चिम एशिया के संकट की पहचान इसराइल बनाम अरब राष्ट्र के रूप में की जाती थी और महाशक्तियों का समर्थन क्रमशः उन दो गुटों को था; ईरान-इराक युद्ध में महाशक्तियाँ इन दो राष्ट्रों में से किसी एक के पक्ष में नहीं थी पर इस क्षेत्र में एक लम्बी अवधि तक चले युद्ध के व्यापारियों के लिए इसे एक नया बाजार बना दिया। ध्यान रहे कि ये दोनों ही तेल उत्पादक राष्ट्र हैं। युद्ध के चलते तेल की कीमतों में बढ़ोत्तरी स्वाभाविक थी जिसका खामियाजा तीसरी दुनिया के राष्ट्रों को भुगतना पड़ा। गुटनिरपेक्ष आन्दोलन इस युद्ध को समाप्त कर पाने में पूर्णतः विफल रहा। यद्यपि 1988 में इन राष्ट्रों के मध्य युद्ध विराम अवश्य हुआ पर इसके बाद का इतिहास इस बात का गवाह है कि इस क्षेत्र से वास्तविक शान्ति बहुत दूर चली गयी है।

4. **दक्षिण कोरियाई यात्री विमान का प्रश्न:** 1983 में दक्षिण कोरियाई नागरिक विमान जिसमें 269 यात्री सवार थे, न्यूयार्क से सियोल की सामान्य उड़ान पर था जब यह सोवियत संघ के नभ क्षेत्र से गुजर रहा था तो सोवियत संघ ने उसे गिरा दिया। इस घटना में सभी यात्री मारे गए। सोवियत संघ ने यह कह कर अपना पक्ष रखा कि विमान की बनावट

अमेरिकी जासूसी विमान से मिलती थी और यह बिना बस्तियाँ जलाए उड़ रहा था इसलिए एक जासूसी विमान के धोखे में इसे गिराया गया। सोवियत कार्रवाई की निन्दा संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् ने भी की। इस मामले ने और भी तूल पकड़ा जब संयुक्त राष्ट्र महासभा के अधिवेशन में भाग लेने के लिए सोवियत विदेश मन्त्री के विमान के लिए अमेरिका से सुरक्षा की मांग की गयी जिसे उसने ठुकरा दिया। इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप सोवियत संघ की सरकार ने अमेरिका से संयुक्त राष्ट्र के मुख्यालय को हटाने की माँग की।

5. **ग्रेनेडा में अमेरिकी हस्तक्षेप :** 1983 में अमेरिका ने ग्रेनेडा में सैनिक हस्तक्षेप किया और यह कहा कि यह कार्रवाई संभावित सोवियत क्यूबाई सैनिक जमाव को रोकने तथा ग्रेनेडा में स्थित 1000 अमेरिकी नागरिकों की सुरक्षा हेतु की गयी।

6. **मध्य अमेरिका का संकट :** मध्य अमेरिकी भूभाग जिसमें अल सल्वाडोर, निकारागुआ, होण्डुरास, पनामा, कोलम्बिया आदि राष्ट्र शामिल हैं, मुनरो सिद्धान्त की घोषणा से ही अमेरिकी वर्चस्व के अधीन समझा जाता रहा है। इन राष्ट्रों में प्रथम शीतयुद्ध के वर्षों में सैनिक सरकारें रहीं और वे अमेरिकी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के हितों का पोषण करती रहीं। धीरे-धीरे ये सैनिक शासक विलासी होने लगे और अल सल्वाडोर तथा निकारागुआ जैसे देशों में मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित छापामारों द्वारा अपदस्थ कर दिए गए। अमेरिका इसे सोवियत रणनीति का सुनियोजित प्रयास मानकर इन सरकारों को अपदस्थ करने हेतु षड्यन्त्रकारी तरीके से नए प्रतिक्रियावादी तत्त्वों (कोंतराओं) को मदद करने लगा इस कारण यह क्षेत्र नए शीतयुद्ध का कारण बना।

7. **स्टार वार्स :** नव शीतयुद्ध को तेज करने में स्टार वार्स या अन्तरिक्ष युद्ध कार्यक्रम उल्लेखनीय है। अमेरिका द्वारा चलायी गयी इस परियोजना के परिणामस्वरूप शस्त्रास्त्रों की एक नयी दौड़ शुरू हुई। इससे निःशस्त्रीकरण वार्ताएँ प्रभावित हुईं साथ ही इससे सोवियत अर्थव्यवस्था बुरी तरह प्रभावित हुई। इससे शीतयुद्ध की मानसिकता और प्रबल हुई।

इसके अतिरिक्त नव शीतयुद्ध की ज्वाला को तेज करने में अमेरिका की पश्चिमी यूरोप में मध्यम दूरी के प्रक्षेपास्त्र स्थापित करने की योजना महत्त्वपूर्ण रही। सोवियत संघ द्वारा इसका विरोध करने पर एक सामूहिक वार्ता का प्रस्ताव किया गया पर यह वार्ता विफल रही तथा कई पश्चिमी यूरोपीय देशों में ऐसे प्रक्षेपास्त्र स्थापित कर दिए गए परिणामस्वरूप सोवियत संघ ने जेनेवा वार्ता का बहिष्कार कर दिया। इसके अतिरिक्त लीबिया में अमेरिकी कार्रवाई की सोवियत रूस ने निन्दा की। 1986 में सोवियत संघ ने स्टार वार्स की जवाबी कार्रवाई प्रारम्भ कर दी। इन सब कार्रवाइयों का सम्मिलित परिणाम यह हुआ कि तनाव शैथिल्य की क्षति हुई और सोवियत संघ के प्रति अविश्वास की अमेरिका की राष्ट्रीय नीति की पुनरावृत्ति हुई। 1988 में रीगन-गोर्वाच्योव के मध्य शिखर वार्ता जो 'स्टार्ट सन्धि' के बारे में होनी थी उस पर कोई प्रगति नहीं हो पायी। यह मामला तब और भी बिगड़ गया जब रीगन ने मास्को में रूसी असन्तुष्टों से मुलाकात की तथा मानव अधिकारों का प्रश्न उठाया। इसका विरोध करते हुए गोर्वाच्योव ने इसे सोवियत संघ के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप कहा।

11.10 नव शीत युद्ध के परिणाम :

नव शीतयुद्ध के परिणाम व्यापक रहे। स्पष्ट है कि अमेरिका में कार्टर तथा रीगन द्वारा अपनायी गयी उग्र नीतियाँ निश्चित उद्देश्यों से बनायी गयीं थीं और ये उद्देश्य क्रमशः सोवियत शक्ति तथा प्रभाव के विस्तार को रोकना, अफगानिस्तान को सोवियत संघ का वियतनाम बना देने, अमेरिकी शक्ति की विश्वसनीयता को स्थापित करने तथा शस्त्र बेच कर अमेरिकी अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करने

से सम्बन्धित थी। इन सबके परिणाम क्रमशः तनाव शैथिल्य के क्षय, निःशस्त्रीकरण के क्षय, तनाव-क्षेत्रों के स्थानान्तरण, गुटनिरपेक्षता के अवमूल्यन, महाशक्तियों के तेवरों में आक्रामकता, सार्वभौम रूप से स्थानीय (राष्ट्रीय) संकटों में जटिलताओं तथा संयुक्त राष्ट्र की प्रतिष्ठा में कमी के रूप में परिलक्षित हुए। 1980 के दशक के अन्तिम वर्षों में अफगानिस्तान संकट के समाधान ईरान-इराक युद्ध विराम, पूर्वी यूरोप में साम्यवाद विरोध लहर, जर्मनी के एकीकरण और उसके कुछ समय बाद सोवियत संघ के विखंडन (1991 में) के साथ ही शीतयुद्ध (नया व पुराना दोनों) ने अपनी प्रासंगिकता खो दी। अगले दशक का प्रारम्भ शीतयुद्ध की औपचारिक अलविदा से हुआ और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक नयी विश्व व्यवस्था के दौर में प्रवेश कर गयी।

11.11 सारांश

द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त महाशक्तियों के मध्य पारस्परिक अविश्वास तथा भय से उत्पन्न शीतयुद्ध की औपचारिक समाप्ति एक महाशक्ति सोवियत संघ के विघटन के उपरान्त पिछली शताब्दि के अन्तिम दशक के प्रारम्भ के साथ हो गई थी। इस तरह शीत युद्ध की कालावधि लगभग 45 वर्षों की मानी जाती है, परन्तु शीत युद्ध इस कालावधि में विभिन्न चरणों से होकर गुजरा, शीतयुद्ध जब अपने तीव्रतम रूप में था, महाशक्तियों को यह प्रतीत होने लगा था कि इसे जीता नहीं जा सकता, शीतयुद्ध ने महाशक्तियों के मध्य परमाणु अस्त्रों की एक ऐसी प्रतिस्पर्द्धा को जन्म दिया जो विश्व भर में विनाश का तांडव करने हेतु पर्याप्त थे, अतः ऐसे तनावों को शिथिल करने को आवश्यकता की दुहाई न सिर्फ महाशक्तियों बल्कि गुटनिरपेक्ष आन्दोलन तथा संयुक्त राष्ट्र के माध्यम से दी जाती रही। 1960 से प्रारम्भ होने वाले दशक की अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं ने इस प्रक्रिया को ऐसे आयाम प्रदान किये जिनके चलते 1970 के दशक ने तनाव शैथिल्य का सम्बन्धों में जिन रुझानों का आविर्भाव हुआ उसके परिणामस्वरूप महाशक्तियों के मध्य एक नये संवाद के चलते पारस्परिक तथा वैश्विक तनावों में शिथिलता दिखाई पड़ी तथा ऐसे समझौते भी हुए जिनके चलते तनाव शैथिल्य को गति मिली, परन्तु इसी दशक के अन्तिम वर्षों के कतिपय ऐसी घटनाऐं घटित हुई जिन्होंने महाशक्तियों के मध्य जन्में विश्वास को पारस्परिक अविश्वास में परिणत कर दिया तथा शीत युद्ध की ज्वाला पुनः धधक पड़ी इस नये परिदृश्य ने नये शीतयुद्ध को जन्म दिया जिसके कई नये आयाम प्रकट हुए तथा एक पूर्ण दशक (1979-1989) नए अथवा द्वितीय शीतयुद्ध के नाम से जाना गया, इसी अन्तिम दौर में साम्यवादी जगत में होने वाली हलचल तथा अन्ततः साम्यवादी व्यवस्थाओं का पतन और सोवियत संघ का विखंडन महाशक्तियों के मध्य वैचारिक संघर्ष की समाप्ति हेतु पर्याप्त था अतः औपचारिक रूप में शीत युद्ध की समाप्ति की घोषणा कर दी गई।

11.12 सन्दर्भ ग्रन्थ

ए0पी0 राना : दितान्त एंड नान अलाइमेंट

आर0के0 जैन : दितान्त इन यूरोप : इम्पिलीकेशन्स फॉर एशिया

रिक्खी जैपाल : नॉन अलाइनमेंट, ओरिजिन, ग्रोथ एंड पोटेंशियल फॉर वर्ल्ड पीस

एम0एस0 राजन : गुट निरपेक्षता आन्दोलन एवं संभावनाऐं

रिचर्ड जैक्सन : दि नान अलाइंड, दि यू.एन. ऐंड दि सुपर पावर्स

एम0एस0 राजन : स्टुडीज ऑन नॉन अलाइनमेंट एण्ड दि नॉन अलाइंड मूवमेंट

पीटर विलेट्स : दि नान अलाइंड मूवमेंट : दि ओरिजिन ऑफ द थर्ड वर्ल्ड अलाइन्स

महेन्द्र कुमार : थियोरिटिकल एसपेक्ट्स ऑफ इन्टरनेशनल पोलिटिक्स

लघु उत्तरीय प्रश्न

(i) दितान्त से क्या अभिप्राय है?

(ii) दितान्त के व्यवहार को दर्शाने वाले प्रमुख समझौतों के नाम बताइये?

(iii) नवशीतयुद्ध के क्या कारण थे?

(iv) नवशीतयुद्ध के परिणाम क्या हुए

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(1) दितान्त काल में अन्तर्राष्ट्रीय रणनीति की प्रकृति की विवेचना कीजिए।

(2) शीतयुद्ध तथा तनाव शैथिल्य में अन्तर कीजिए, क्या तनावशैथिल्य काल में शीतयुद्ध समाप्त हो गया था?

(3) नवशीतयुद्ध के कारणों की विवेचना कीजिए।

(4) नवशीतयुद्ध काल में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में होने वाले महत्त्वपूर्ण घटनाक्रमों का विवरण दीजिए।

11.13 सम्बंधित प्रश्न

1. दितान्त (Detente) शब्द किस भाषा का है?

(a) अंग्रेजी (b) फ्रेंच (c) लेटिन (d) रोमन

2. दितान्त के आचरण का प्रमुख निर्धारक तत्व था

(a) लौह आवरण (b) साम्यवाद अवरोध

(c) आणविक युद्ध का भय (d) गुट निरपेक्षता

3. दूसरे शीतयुद्ध (नव शीतयुद्ध) का प्रारम्भ किस घटना से हुआ?

(a) अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप (b) कैंप डेविड समझौता

(c) स्टारवार्स कार्यक्रम की घोषणा (d) दक्षिण कोरियाई विमान कांड

4. स्टार वार्स कार्यक्रम की घोषणा किस अमेरिकी राष्ट्रपति ने की?

(a) निक्सन (b) कार्टर (c) रीगन (d) क्लिंटन

2.14 प्रश्नोत्तर

1. (b)
2. (c)
3. (c)
4. (c)

इकाई-12 गुट निरपेक्ष आन्दोलन तथा तीसरी दुनिया

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 गुट निरपेक्षता का अर्थ

12.3 गुट निरपेक्षता की प्रमुख विशेषताऐ

12.4 गुट निरपेक्ष स्पष्ट होने की अर्हताएं

12.5 गुट निरपेक्ष आन्दोलन

12.6 गुट निरपेक्ष आन्दोलन का इतिहास

12.7 गुट निरपेक्ष आन्दोलन की उपलब्धियाँ

12.8 गुट निरपेक्ष आन्दोलन की दुर्बलताएं

12.9 गुट निरपेक्ष आन्दोलन के समक्ष चुनौतियां

12.10 गुट निरपेक्ष आन्दोलन की प्रासंगिकता

12.11 तीसरी दुनिया

12.12 सारांश

12.13 सन्दर्भ ग्रन्थ

12.14 सम्बन्धित प्रश्न

12.15 प्रश्नोत्तर

12.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप

- गुट निरपेक्षता का अर्थ तथा इसकी विशेषताओं का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- गुट निरपेक्ष आन्दोलन के विकास क्रम से परिचित हो जायेंगे।
- गुट निरपेक्ष आन्दोलन की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भूमिका का विश्लेषण कर सकेंगे।
- तीसरी दुनिया के विचार तथा इसकी समस्याओं पर विचार कर सकेंगे।

12.1 प्रस्तावना

द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के पश्चात् विश्व दो खेमों में बँट गया। द्वितीय विश्वयुद्ध के परिणामों को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कई तरह से विवेचित किया जाता है। द्वितीय विश्वयुद्ध का एक परिणाम उपनिवेशवाद की समाप्ति का होना है। द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के साथ ही औपनिवेशिक शक्तियों के लिए अब यह संभव न था कि वे अपने साम्राज्यों को बचाए रख सकें। उपनिवेशों में अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता को प्राप्त करने हेतु स्वतन्त्रता आन्दोलन तो युद्ध पूर्व से हो चल रहे थे और युद्ध के पश्चात् जिस अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का जन्म हुआ वह उपनिवेशों को

राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र किए जाने की समर्थक थी परिणामस्वरूप एशिया, अफ्रीका तथा लातिन अमेरिका के अनेक राज्य राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र हो गए। इस प्रक्रिया को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में 'अफ्रीकी-एशियाई और लातिन अमेरिकी पुनरुत्थान' के नाम से भी जाना जाता है। इन नव स्वतन्त्र राष्ट्रों के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती जहां एक ओर अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता को बनाए रखना था वहीं इनकी दूसरी आवश्यकता अपने आर्थिक विकास की थी। चूंकि अपने उदय के समय इन राष्ट्रों ने विश्व को दो परस्पर विरोधी खेमों में बँटा हुआ देखा था। अतः अपनी विदेश नीति के निर्धारण में इन राष्ट्रों को अत्यधिक सतर्क रहने की आवश्यकता थी। इसीलिए किसी भी एक गुट के साथ अपने आप को न जोड़ने तथा दोनों ही गुटों के साथ समान दूरी को बनाए रखने की इन राष्ट्रों की नीति गुटनिरपेक्षता की नीति कहलाती है।

तीसरी दुनिया विश्व के ऐसे राष्ट्रों से मिलकर बनती है जो आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए राष्ट्र हैं और प्रायः इनके लिए अल्पविकसित अथवा विकासशील राष्ट्र शब्दावलियों का प्रयोग किया जाता है। तीसरी दुनिया के राष्ट्रों में अधिकांश राष्ट्र गुटनिरपेक्ष नीति का अनुपालन करने वाले राष्ट्र हैं। अतः कभी-कभी तीसरी दुनिया और गुटनिपपेक्ष आन्दोलन को एक दूसरे का पर्यायवाची मान लिया जाता है, परन्तु यह एक पूर्णतः सत्य विचार नहीं है। निश्चित तौर पर तीसरी दुनिया के राष्ट्रों की अपनी कुछ सामान्य विशेषताएँ हैं और कतिपय समान आकांक्षाएँ भी हैं। निश्चित तौर पर तीसरी दुनिया में शामिल राष्ट्र विश्व के राष्ट्रों का एक विशाल बहुमत निर्मित करते हैं। स्पष्ट है कि यह विश्व राजनीति में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकते हैं, इसलिए इनकी अनदेखी नहीं की जा सकती।

इस इकाई के अन्तर्गत हम क्रमशः गुटनिरपेक्ष आन्दोलन तथा तीसरी दुनिया का अध्ययन करेंगे ताकि हम गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के विविध पक्षों तथा तीसरी दुनिया के राष्ट्रों की विविध समस्याओं की पहचान कर सकेंगे तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में इनकी भूमिकाओं को समझ सकेंगे।

12.2 गुटनिरपेक्षता का अर्थ :

"गुटनिरपेक्षता" शब्दावली को गढ़ने का श्रेय जार्ज लिस्का को जाता है जिन्होंने इस शब्दावली का प्रयोग उन राज्यों की नीतियों का वर्णन करने के लिए किया, जिन्होंने यह तय किया कि वे युद्धोपरान्त बने दो गुटों में से किसी में भी शामिल नहीं होंगे इसी के उपरान्त गुटनिरपेक्षता का प्रयोग दो महाशक्तियों के बीच गुटीय राजनीति तथा शीतयुद्ध से अलग रहने की नीति का वर्णन करने के लिए किया जाने लगा। पर यह बात ध्यान में रखी जानी चाहिए कि शीतयुद्ध व सैन्य गठबन्धनों से अलग रहते हुए भी गुटनिरपेक्षता अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सक्रिय रूप से विश्व परिदृश्य के सम्बन्ध में अपना निर्णय करने तथा अपने राष्ट्रीय हितों के प्रोन्नयन पर आधारित है। संभवतः एक ऐसे दौर में जहाँ विश्व वस्तुतः दो गुटों में विभक्त होता जा रहा था, अपने राष्ट्रीय हितों तथा सुरक्षा को सुनिश्चित करने हेतु नवोदित राष्ट्रों के लिए यह सर्वोत्तम नीति थी इसीलिए इसकी परिभाषा विद्वानों तथा राजनेताओं द्वारा इसी सन्दर्भ में की गई। गुटनिरपेक्षता, सैन्य गठबन्धनों को शीतयुद्ध तथा विश्व में तनावों के उपकरण के रूप में देखती है। अतः इन्हें विश्व शान्ति तथा सुरक्षा हेतु खतरनाक मानती है। पंडित नेहरू, जो कि गुटनिरपेक्षता के कर्णधार थे, का यह वक्तव्य स्मरणीय है कि "गुटनिरपेक्षता का अर्थ किसी राष्ट्र द्वारा अपने आप को सैन्य गुटों से अलग रखने से है। इसका अभिप्राय जहाँ तक सम्भव हो मामलों को असैनिक नजरिये से देखने से है यद्यपि कभी-कभी सैन्य नजरिया भी हो सकता है पर प्रत्येक स्थिति में हमारा स्वतन्त्र दृष्टिकोण होना चाहिए साथ ही सभी राष्ट्रों के साथ हमारे सम्बन्ध मित्रतापूर्ण होने चाहिए"। नेहरू इसे स्वतन्त्र विदेश नीति का नाम देते थे। प्रोफेसर एम0एस0 राजन गुटनिरपेक्षता को परिभाषित करते हुए लिखते हैं, "विशिष्ट एवम नकारात्मक रूप में गुटनिरपेक्षता का अभिप्राय सैन्य तथा राजनीतिक गठबन्धनों की अस्वीकृति है जबकि सकारात्मक रूप में इसका अभिप्राय अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर उनकी योग्यता को ध्यान में रखते हुए तदर्थ निर्णयों को लेने से है।"

इस तरह गुटनिरपेक्षता विदेश नीति का एक आधारभूत सिद्धान्त है और इसमें यह निहित है कि एक राष्ट्र स्वयं को शीत युद्ध एवम् सैन्य गठबन्धनों से स्वतन्त्र रखेगा परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सक्रिय रूप से भाग लेगा। ऐसी भागीदारी उसके राष्ट्रीय हितों के सम्मान का समझदारी से संरक्षण कर सकेगी, साथ ही यह शान्ति तथा सुरक्षा के अन्तर्राष्ट्रीय उद्देश्यों की भी पूर्ति कर सकेगी। इस तरह गुटनिरपेक्षता अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में पूर्ण सहभागिता की स्वीकारोक्ति तथा पार्थक्य या पूर्व प्रतिबद्धता युक्त अर्न्तग्रस्तता की अस्वीकारोक्ति का नाम है। स्मरणीय है कि जार्ज श्वार्जन बर्जर ने छः ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जो कुछ अर्थों में गुटनिरपेक्षता के समानार्थी तो हैं पर इनमें से किसी एक को भी वस्तुनिष्ठ रूप में गुटनिरपेक्षता को परिभाषित करने हेतु प्रयोग नहीं किया जा सकता। ये हैं :पार्थक्यवाद, अप्रतिबद्धता, तटस्थता, तटस्थीकरण एकपक्षतावाद तथा अअर्न्तग्रस्ता (Isolationism, Non-commitment, Neutrality, Nertralisation, Unilateralism and Non involvement)

12.3 गुटनिरपेक्षता तथा गुटनिरपेक्ष विदेश नीति की प्रमुख विशेषताएँ

एक पूर्ण विकसित तथा व्यापक अवधारणा के रूप में गुटनिरपेक्षता का ज्ञान इसकी प्रमुख विशेषताओं का विश्लेषण करके ही किया जा सकता है, जो निम्नवत है :

(i) **शीतयुद्ध का विरोध :** गुटनिरपेक्षता शीतयुद्ध को नकारती है, गुटनिरपेक्षता की मान्यता है कि शीत युद्ध राष्ट्रों के मध्य पारस्परिक वैमनस्य को बढ़ाता है, इससे राष्ट्रों के मध्य तनाव पैदा होते हैं अतः विश्व शान्ति को खतरा उत्पन्न होता है। शीतयुद्ध में संलग्न महाशक्तियाँ अपने विरोधी को अन्य राष्ट्रों से अलग करने हेतु प्रयासरत रहती हैं तथा इसके लिए दुष्प्रचार का प्रयोग करती हैं। ऐसे में पारस्परिक अविश्वास का वातावरण राष्ट्रों के मध्य सम्बन्धों में जन्म लेने लगता है। इसके विपरीत गुटनिरपेक्षता शान्ति पूर्ण सहअस्तित्व तथा राष्ट्रों के मध्य पारस्परिक सहयोग में विश्वास रखती है।

(ii) **सैन्य तथा राजनीतिक गठबन्धनों का विरोध :** क्योंकि सैनिक संगठन तथा राजनीतिक गठबन्धन शीतयुद्ध में संलग्न महाशक्तियों द्वारा अपने-अपने खेमे को सुदृढ़ करने के उद्देश्य से बनाये जाते हैं अतः गुटनिरपेक्षता इनका विरोध करती है।

(iii) **शक्ति राजनीति में अर्न्तग्रस्त न रहना :** शीतयुद्ध तथा गुटीय राजनीति शक्ति की राजनीति को प्रश्रय देते हैं। इससे राष्ट्रों के मध्य पारस्परिक सहयोग अवरुद्ध होता है और राष्ट्र स्वयं को निरन्तर युद्ध की कगार पर पाते हैं। अतः गुटनिरपेक्षता ऐसी राजनीति से परहेज करती है।

(iv) **शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व तथा अहस्तक्षेप की नीति में आस्था :** गुटनिरपेक्षता की नीति 'जियो और जीने दो' की नीति है, यह तभी सम्भव है जब एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के मामलों में हस्तक्षेप न करे, राष्ट्र अपने आपसी मसलों को परस्पर संवाद के माध्यम से सुलझायें जो कि एक प्रजातान्त्रिक पद्धति है।

(v) **स्वतन्त्र विदेश नीति :** गुटनिरपेक्षता प्रत्येक राष्ट्र को अपनी विदेश नीति को स्वतन्त्रतापूर्वक निर्धारित करने के अधिकार की वकालत करती है, क्योंकि विश्व का प्रत्येक राष्ट्र एक स्वतन्त्र संप्रभु राष्ट्र होता है अतः उसका यह अधिकार है कि वह बिना किसी बाह्य शक्ति के दबाव के अपनी विदेश नीति का संचालन करे तथा अपने राष्ट्रीय हितों के संरक्षण तथा प्रोन्नयन हेतु प्रतिबद्धत रहे।

(vi) **साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद तथा नव उपनिवेशवाद का विरोध :** प्रारम्भ से ही

साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद तथा नव उपनिवेशवाद का विरोध गुटनिरपेक्षता तथा गुट निरपेक्ष आन्दोलन का एक आधारभूत सिद्धान्त रहा है।

(vii) **क्रियाशीलता तथा अपार्थक्य की नीति :** गुटनिरपेक्षता जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है विश्व के मामलों में सक्रिय रूप से सहभाग करने की नीति है न कि इनसे स्वयं को अलग करने की नीति। इसी के चलते गुट निरपेक्ष राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के सम्बन्ध में मात्र असहाय दर्शक की भूमिका नहीं निभाना चाहते बल्कि अपनी निर्भीक आवाज व्यक्त करना चाहते हैं। गुट निरपेक्ष राष्ट्र अपने अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों का निर्वहन करने में कभी पीछे नहीं रहते तथा विश्व शान्ति, सुरक्षा तथा विकास के मुद्दों को पारस्परिक सहयोग से सुलझाने की वकालत करते हैं, उन्हें यदि परहेज है तो सिर्फ शीतयुद्ध से, सैनिक गुटों से तथा शक्ति राजनीति से, गुटनिरपेक्षता की क्रियाशीलता की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति पंडित नेहरू द्वारा 1949 में संयुक्त राज्य अमेरिका की कांग्रेस में दिये गये अभिभाषण में देखी जा सकती है। इस अभिभाषण में उन्होंने कहा था -''जब हमारी स्वतन्त्रता पर खतरा हो, न्याय संकट में हो, जब राज्य की सुरक्षा दांव पर हो, हम तटस्थ नहीं रह सकते और न ही हम उदासीन रहेंगे, हमारी नीति उदासीनता की नीति नहीं है, हमारी नीति तो विश्व शान्ति के लिए सक्रिय प्रयास करने की नीति है और इसे मजबूत आधार प्रदान किया जाना चाहिए।''

(viii) **गुटनिरपेक्षता न तो एक कूटनीतिक साधन है और न ही एक वैधिक स्थिति:** गुटनिरपेक्षता कूटनीतिक तटस्थता से भिन्न हैं। कुछ राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय संकटों के सम्बन्ध में तटस्थ आचरण करते हैं अर्थात् वे संकट के तथ्यों को जानते हुए भी किसी तरह की कार्यवाही नही करते इसके विपरीत गुटनिरपेक्षता ऐसे संकट के बारे में उचित तथा अनुचित के मध्य भेद करते हुए उचित का साथ देने की नीति पर विश्वास रखती है। गुट निरपेक्षता को युद्धकालीन तटस्थता के रूप में भी नहीं देखा जाना चाहिए। यह स्थिति तटस्थ राष्ट्रों की होती है। गुट निरपेक्षता तो शीतयुद्ध तथा सैनिक गठबन्धनों से अलग रहने के सिद्धान्त का नाम है। गुटनिरपेक्ष राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हितों के अनुरूप स्वनिर्णय लेते हैं जो बाह्य दबाव से स्वतन्त्र होता है तथा उनकी पूर्ण सक्रियता को दर्शाता है। तटस्थ राष्ट्र का उदाहरण स्विट्जरलैंड है जबकि गुटनिरपेक्ष राष्ट्र का उदाहरण भारत सहित अनेक एशियाई अफ्रीकी तथा लेटिन अमरीकी राष्ट्र हैं, जिनकी यह नीति है। इन राष्ट्रों में प्रत्येक सत्ता परिवर्तन के साथ नई सरकार ऐसी नीति के प्रति अपनी प्रतिबद्धता को अभिव्यक्त करती है।

(ix) **गुटनिरपेक्षता गुट निरपेक्ष राष्ट्रों का गुट भी नहीं है :** इसका अभिप्राय यह है कि शीत युद्ध से जन्मी द्विध्रुवीय विश्व व्यवस्था में जब गुट निरपेक्षता का आविर्भाव हुआ तो इसका अभ्युदय किसी तीसरे गुट या ध्रुव के रूप में हुआ हो यह नहीं कहा जा सकता। द्विध्रुवीय व्यवस्था विचारधारा के आधार पर राष्ट्रों को दो गुटों में बाँट चुकी थी जबकि गुट निरपेक्षता को अपनाने वाले अथवा इससे सहानुभूति रखने वाले राष्ट्र अपने आप को किसी एक गुट का सदस्य उसी रूप में नहीं देखते थे जैसे कि पूंजीवादी अथवा साम्यवादी गुट के राष्ट्र या फिर नाटो तथा वारसा सन्धि के परिणामस्वरूप जन्में गुटों के राष्ट्र। हाँ गुटनिरपेक्ष राष्ट्र इस अर्थ में जरूर एक गुट को निर्मित करते थे कि गुट निरपेक्षता के आधारभूत सिद्धान्तों तथा गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को इन सिद्धान्तों के आधार पर विश्व शान्ति व सुरक्षा को बनाये रखने हेतु ये निरन्तर प्रयासरत रहने हेतु प्रतिबद्ध थे।

(x) **गुटनिरपेक्षता शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व तथा विकास हेतु सहयोग करने की नीति का नाम है :** जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है गुट निरपेक्ष राष्ट्रों में से अधिकांश राष्ट्रों ने अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता को द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त प्राप्त किया था, इस स्वतन्त्रता को बनाये रखना इनकी प्राथमिक आवश्यकता थी, एक-दूसरे राष्ट्र की स्वतन्त्रता तथा संप्रभुता का सम्मान विश्व शान्ति की एक अनिवार्य शर्त है अतः शान्तिपूर्ण

सहअस्तित्व गुटनिरपेक्षता का एक आधारभूत सिद्धान्त है। यह तथ्य भी महत्त्वपूर्ण है कि ये राष्ट्र अपने औपनिवेशिक काल में अविकसित या अल्पविकसित ही रहे इसीलिए विकास इनकी एक बड़ी आवश्यकता थी। एक पारस्परिक निर्भरता के विश्व में किसी राष्ट्र का विकास बिना दूसरे राष्ट्रों के साथ सहयोग के सम्भव नहीं हो सकता, यही वजह थी कि गुट निरपेक्षता के मंच से ही एक नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था (NIEO) की आवाज उठाई गई। कालान्तर में उत्तर-दक्षिण संवाद तथा दक्षिण-दक्षिण संवाद के मुद्दे उठे तथा ऐसे प्रयास किये गये।

उपर्युक्त विशेषताएँ गुटनिरपेक्षता के लिए आधारभूत हैं। विदेश नीति के एक सिद्धान्त के रूप में गुटनिरपेक्षता किसी भी शक्ति के प्रति अप्रतिबद्धता तथा अपने विदेशी मामलों के संचालन में विकल्प तथा क्रिया की स्वतन्त्रता का नाम है। स्पष्ट है कि गुटनिरपेक्षता निष्क्रियकता का नकारात्मक सिद्धान्त नहीं है और न ही यह तटस्थता या पार्थक्यवाद है।

12.4 गुट निरपेक्ष राष्ट्र होने की अर्हताएँ

नेहरू टीटो और नासिर आन्दोलन के तीन कर्णधार राजनेता थे। 1961 में बेलग्रेड में इन्होंने गुटनिरपेक्ष राष्ट्र होने हेतु निम्नलिखित पांच अर्हताएं निर्धारित की थीं–

(i) कोई राष्ट्र गुटों से अलग रहकर शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के सिद्धान्त को मानते हुए स्वतन्त्र विदेश नीति रखता हो।

(ii) राष्ट्र उपनिवेशवाद का विरोध करता हो तथा स्वतन्त्रता के लिए आन्दोलन का समर्थन करता हो।

(iii) राष्ट्र किसी सैनिक सन्धि अथवा गुट का सदस्य न हो।

(iv) राष्ट्र ने किसी बड़ी शक्ति के साथ द्विपक्षीय सैनिक सन्धि न की हो।

(v) राष्ट्र ने अपने राज्य क्षेत्र के भीतर किसी विदेशी सैनिक अड्डे या अड्डों को अनुमति न दी हो।

उपर्युक्त 5 मापदण्ड प्रत्येक उस राष्ट्र के लिए निर्धारित किये गये थे जो स्वयं को गुट निरपेक्ष राष्ट्रों की श्रेणी में शामिल करवाना चाहने की अभिलाषा रखता हो।

विदेश नीति के एक सिद्धान्त के रूप में गुटनिरपेक्षता की उत्पत्ति तथा विकास कई कारकों द्वारा महत्त्वपूर्ण रूप में प्रभावित हुआ है। बहुत से कारण हैं जिनके चलते गुटनिरपेक्ष नीति को अपनाये जाने के कारणों की औचित्यता जाहिर होती है। द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त नवोदित राष्ट्रों ने यह अनुभव किया कि युद्धोपरान्त उभरा विश्व परिदृश्य उनके लिए खतरनाक था खासकर उनकी स्वतन्त्रता के लिए साथ ही यह विश्व शान्ति के लिए भी खतरनाक था। नेहरू की स्पष्ट मान्यता थी कि शान्ति सामान्य रूप में विश्व की सर्वाधिक अनिवार्य आवश्यकता थी और नवोदित राष्ट्रों के लिए तो विशेष रूप से। इसीलिए नेहरू समझते थे कि नवोदित राष्ट्रों द्वारा अपने आप को दो परस्पर शत्रुवत, प्रतिस्पर्धी सैन्य गुटों से अलग रहकर ही विश्वशान्ति की संभावना बढ़ सकती है। इनके द्वारा किसी एक गुट में शामिल हो जाना न सिर्फ अन्तर्राष्ट्रीय तनावों में वृद्धि करेगा वरन् इससे युद्ध का खतरा भी बढ़ेगा। इससे भी कहीं बड़ी आवश्यकता गुट निरपेक्षता की नीति को अपनाने के लिए इसलिए भी आवश्यक थी कि इन राष्ट्रों की प्राथमिकताऐं राष्ट्र निर्माण, अल्पविकास तथा गरीबी से संघर्ष था। इस तरह गुटनिरपेक्षता की नीति को अपनाये जाने हेतु नकारात्मक तथा सकारात्मक दोनों ही पहलू साथ ही आन्तरिक व बाह्य कारक उत्तरदायी थे।

सारांश में गुट निरपेक्षता की पहचान करने हेतु उन कतिपय आदर्शों को ध्यान में रखा जाना चाहिए जिन्हें इस अवधारणा ने विश्व व्यापी आन्दोलन का रूप दिया, ये निम्नवत् है।

(i) उपनिवेशवाद विरोध (Decolonisation)

(ii) विकास (Development)

(iii) निःशस्त्रीकरण (Disarmament)

(iv) तनाव शैथिल्य (Detente)

(v) प्रजातन्त्रीकरण (Democratization)

प्रोफेसर के0पी0 मिश्रा ने इन्हें गुट निरपेक्षता के पांच D दी संज्ञा दी।

12.5 गुट निरपेक्ष आन्दोलन (Non Aligned Movement)

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर होने वाले घटनाक्रमों में गुटनिरपेक्षता की उत्पत्ति तथा विकास को एक महत्त्वपूर्ण विकास के रूप में देखा जाना चाहिए जिसने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की प्रकृति तथा चरित्र को महत्त्वपूर्ण रूप में प्रभावित किया। कभी-कभी ऐसा भी कहा जाता है कि यह घटना क्रम महाशक्तियों के मध्य शीतयुद्ध तथा शक्ति के खेल का एक सशक्त जवाब था तथा भविष्य में किसी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था, जो शान्ति तथा सुरक्षा हेतु आवश्यक होगी, के लिए एक सर्वोत्तम उपागम। यह गुटनिरपेक्षता का ही आन्दोलन था जिसने राष्ट्रवाद को अन्तर्राष्ट्रीयतावाद में रूपान्तरित कर दिया। गुटनिरपेक्षता ने इस तथ्य को स्थापित किया कि मानव जाति की आवश्यकताएँ पूंजीवाद तथा साम्यवाद के मध्य शत्रुता से कहीं अधिक बढ़कर है। यही कारण है कि गुटनिरपेक्षता ने विश्व व्यवस्था की अवधारणा को शान्ति, सहयोग, मित्रता तथा सार्वभौम भ्रातृत्व के रूप में प्रतिष्ठित किया तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में शीतयुद्ध की भूमिका में कमी लाने में सफलता अर्जित की। गुटनिरपेक्षता ने नये राज्यों को अपनी स्वतन्त्रता को बनाये रखने तथा अपने सामाजिक व आर्थिक पुनर्निर्माण पर ध्यान केन्द्रित करने के विचार पर बल दिया, इसके साथ ही इसने लाभप्रद द्विपक्षीय तथा बहुपक्षीय वार्ताओं के शान्तिपूर्ण साधनों को अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष के समाधान की प्रक्रिया के रूप में अपनाये जाने के विचार को प्रोत्साहन दिया।

12.6 गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का इतिहास

गुट निरपेक्षता के विचार ने एक आन्दोलन का रूप ले लिया यह एक निर्विवाद तथ्य है। विश्व समुदाय के दो तिहाई से भी अधिक राज्य गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के सदस्य हैं यह तथ्य इसकी लोकप्रियता तथा स्वीकार्यता का परिचायक हैं। परन्तु यह आन्दोलन शनैः-शनैः ही विकसित हुआ, इसके विकास क्रम को निम्नलिखित बिन्दुओं के माध्यम से स्पष्ट किया जा सकता है।

(A) एक सिद्धान्त के रूप में गुटनिरपेक्षता को अंगीकार करना : वस्तुतः यह इस विकास क्रम का पहला चरण था, जब कई राज्यों ने शीत युद्ध के दौर में गुट निरपेक्षता को अपनी विदेश नीति के आधारभूत सिद्धान्त के रूप में अपनाया, इनमें भारत, मिस्र, इण्डोनेशिया, युगोस्लाविया तथा बर्मा व घाना जैसे राष्ट्र थे ये राष्ट्र गुट निरपेक्ष आन्दोलन के अग्रणी राज्य बन गये। महाशक्तियों तथा उनके अनुयायियों के घोर विरोध के बावजूद भी इन राष्ट्रों द्वारा सफलतापूर्वक गुट निरपेक्षता को अपनी विदेशनीति का बुनियादी सिद्धान्त बनाया जाना इसकी लोकप्रियता का कारण बना और यह अहसास सभी राष्ट्रों को होने लगा कि गुटनिरपेक्षता की नीति विदेश नीति का आदर्श व व्यवहार दोनों हो सकती हैं। यह बात भी ध्यान में रखी जानी चाहिए कि इन राष्ट्रों ने गुटनिरपेक्ष विदेश नीति को अपनाते हुए भी दोनों ही महाशक्तियों तथा उनके खेमे के राष्ट्रों के साथ अपने मधुर

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को बनाये रखने में सफलता अर्जित की।

(B) गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों के मध्य सुदृढ़ीकरण के प्रयास : यह चरण भी गुटनिरपेक्षता के पहले चरण के साथ ही साथ विकसित होता गया जबकि गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों के नेताओं द्वारा नये राज्यों के साथ सम्पर्क व सहयोग के प्रयास प्रारम्भ किये। भारत द्वारा 1947 में नई दिल्ली में एशियाई सम्बन्धों का सम्मेलन करवाया जाना तत्पश्चात् 1955 में बाण्डुंग में एशियाई तथा अफ्रीकी राष्ट्रों का सम्मेलन आयोजित किया जाना गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की पृष्ठ भूमि तैयार करने में महत्त्वपूर्ण मील के पत्थर बने। बाण्डुंग की भावना तथा इस ऐतिहासिक सम्मेलन में अंगीकार किये गये 10 सिद्धान्त गुट निरपेक्ष आन्दोलन की मजबूती का आधार बने। बाण्डुंग सम्मेलन ने गुटनिरपेक्षता की न्यायपरकता तथा सुदृढ़ता के प्रति बहुत से राष्ट्रों का ध्यान आकर्षित किया इन राष्ट्रों ने न केवल इसे अपनाया बल्कि इसके प्रसार व प्रचार में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

(C) गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का प्रवर्तन (Launching) : इस चरण में नेहरू, नासिर तकी टीटो गुटनिरपेक्षता व गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के महानायक बन गये उनके नेतृत्व में कतिपय अन्य नेताओं के सहयोग से गुटनिरपेक्षता एक आन्दोलन बन गया तथा इसने शक्ति राजनीति, शीत युद्ध, साम्राज्यवाद उपनिवेशवाद, नव उपनिवेशवाद रंगभेद, हथियारों की दौड़ तथा परमाणु प्रसार के विरुद्ध एक धर्मयुद्ध छेड़ दिया। 1960 के आते-आते इस आन्दोलन ने विश्वभर में शान्ति क्षेत्र के विस्तार, स्वतन्त्रता, सम्पन्नता तथा पारस्परिक सहयोग के लिए कार्य करना प्रारम्भ कर दिया परिणामस्वरूप 1961 में पहला गुट निरपेक्ष सम्मेलन युगोस्लाविया की राजधानी बेलग्रेड में सम्पन्न हुआ और यह एक निरन्तर निश्चित अन्तराल में आयोजित किया जाने लगा।

गुट निरपेक्ष आन्दोलन की प्रगति को इसके सम्मेलनों के क्रम में देखा जा सकता है। 1961 में प्रथम शीर्षस्थ सम्मेलन से प्रारम्भ करते हुए अब तक इसके 14 शीर्षस्थ सम्मेलन विश्व के विभिन्न राज्यों में आयोजित किये जा चुके हैं तथा प्रथम सम्मेलन में शामिल 25 राष्ट्रों से बढ़कर इसकी सदस्य संख्या 116 तक पहुँच चुकी है। विश्व के सभी महाद्वीपों से इस आन्दोलन में राज्यों को प्रतिनिधित्व प्राप्त हैं। महाशक्तियों तथा बड़ी शक्तियों द्वारा अब इसकी अनदेखी असंभव है, बहुत सी बड़ी शक्तियाँ अब पर्यवेक्षकों के रूप में इसके शीर्षस्थ सम्मेलनों में भाग लेती हैं।

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की प्रगति व विकास के ऐतिहासिक क्रम में इस आन्दोलन की तीन संस्थायें विकसित हुई हैं, इनका ज्ञान कर लेना भी आवश्यक है। गौरतलब है कि ये संस्थायें गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के लिए स्थापित नहीं की गईं तो भी गुटनिरपेक्ष देशों के मध्य सम्बन्ध स्थापित करने, संयुक्त राष्ट्र तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर संयुक्त कार्यवाही करने, साथ ही साथ आन्दोलन की प्रगति तथा अन्तर्राष्ट्रीय विषयों एवम् समस्याओं पर विचार करने के लिए इन संस्थाओं का जन्म हुआ–

(1) समन्वय ब्यूरो (Cordination Bureau) : गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों के मध्य समन्वय स्थापित करने तथा निरन्तर विविध अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर विचार-विमर्श करने का यह एक महत्त्वपूर्ण तथा सक्रिय केन्द्र कहा जा सकता है, कदाचित इसे गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की कार्यवाही शाखा कहना गलत न होगा, यह ब्यूरो एक तैयारी समिति की भाँति हैं क्योंकि यह गुटनिरपेक्ष शिखर सम्मेलन के लिए मसविदे तैयार करता है। यही संयुक्त राष्ट्र तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर संयुक्त कार्यवाही तथा अगुवाई करता है। 1983 के पूर्व इस ब्यूरो में 17 सदस्य होते थे इन सदस्यों को सर्वसम्मति से नामजद किया जाता था, 1983 के सातवें शिखर सम्मेलन में ब्यूरो की सदस्यता बढ़ाकर 66 कर दी गई, इनमें से 31 अफ्रीका से 23 एशिया से 10 लेटिन अमेरिका से और 2 यूरोपीय महाद्वीप के राष्ट्र होते हैं। अब ये सदस्य निर्वाचित किये जाते हैं।

(2) विदेश मन्त्रियों का सम्मेलन (Foreign Minister's conferemce) : इस सम्मेलन में गुट निरपेक्ष राष्ट्रों के सभी विदेश मन्त्री भाग लेते हैं। इस सम्मेलन का प्रमुख दायित्व शिखर सम्मेलन हेतु कार्यसूची तैयार करना है। पर इसका एक महत्त्वपूर्ण कार्य गुट निरपेक्ष आन्दोलन

की सदस्यता प्राप्त करने के इच्छुक राष्ट्रों के आवेदन पत्रों पर विचार-विमर्श और निर्णय लेना भी है। यह सम्मेलन विविध अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर भी विचार-विमर्श करता है तथा गुटनिरपेक्षता के सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप देने का प्रयास करता है।

(3) शिखर सम्मेलन (Summit Conferences) : यह गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का सबसे बड़ा अधिवेशन है। यह सम्मेलन प्रति तीन वर्ष में होता है। इसमें गुट निरपेक्ष राज्यों के राज्याध्यक्ष अथवा शासनाध्यक्ष भाग लेते हैं। इसके अतिरिक्त शिखर सम्मेलन में अतिथि राष्ट्र तथा पर्यवेक्षक गैर राष्ट्र भी भाग लेते हैं। इस सम्मेलन पर विश्व भर की निगाहें टिकी होती हैं क्योंकि इस मंच से अन्तर्राष्ट्रीय मामलों पर गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों के दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति होती है। यह सम्मेलन गुट निरपेक्ष आन्दोलन की लोकप्रियता का भी प्रमाण होता है तथा गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों में पारस्परिक राजनीतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक सहयोग की वृद्धि का कारण होता है। यही नहीं विश्व के राजनीतिक रंगमंच पर यह सम्मेलन गुटनिरपेक्ष देशों की आवाज को बल प्रदान करने में सहायक होता है।

अब तक गुट निरपेक्ष आन्दोलन के चौदह (14) शिखर सम्मेलन हो चुके हैं (देखें तालिका)। संक्षेप में प्रत्येक सम्मेलन द्वारा विचारित विषयों तथा पारित प्रस्तावों का विवरण इस प्रकार है,

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के शिखर सम्मेलन

तालिका

क्रम संख्या	स्थान	वर्ष	सदस्य देशों की संख्या
1.	बेलग्रेड (युगोस्लाविया)	1961	25
2.	काहिरा (मिस्त्र)	1964	47
3.	लुसाका (जाम्बिया)	1970	54
4.	अल्जीयर्स (अल्जीरिया)	1973	75
5.	कोलम्बो (श्रीलंका)	1976	88
6.	हवाना (क्यूबा)	1979	94
7.	नई दिल्ली (भारत)	1983	101
8.	हरारे (जिम्बाबवे)	1986	101
9.	बेलग्रेड (युगोस्लाविया)	1989	102
10.	जकार्ता (इण्डोनेशिया)	1992	108
11.	कार्टागेना (कोलम्बिया)	1995	113
12.	डरबन (दक्षिण अफ्रीका)	1998	113
13.	कुलाआलम्पुर (मलेशिया)	2003	116
14.	हवाना (क्यूबा)	2006	120

प्रथम सम्मेलन (बेलग्रेड 1961) :

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का पहला शिखर सम्मेलन यूगोस्लाविया की राजधानी बेलग्रेड में सितम्बर 1961 में आयोजित किया गया। इस सम्मेलन हेतु 28 ऐसे राष्ट्रों को जो कि गुटनिरपेक्षता की अर्हताओं को पूरा करते थे, आमन्त्रित किया गया इनमें से 25 राष्ट्र जो सभी एशिया तथा अफ्रीका से थे, शामिल हुए। तीन लैटिन अमरीकी राष्ट्र पर्यवेक्षकों के रूप में सम्मिलित हुए। सम्मेलन द्वारा

एक 27 सूत्रीय घोषण को स्वीकार किया गया। साथ ही दोनों महाशक्तियों से यह अपील की गयी कि वे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को बनाए रखने तथा पूर्ण शस्त्र नियन्त्रण हेतु कार्य करें। सम्मेलन द्वारा पुरजोर साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद तथा रंगभेद की भर्त्सना की गयी। सम्मेलन में अल्जीरिया, अंगोला, कांगो तथा ट्यूनीशिया में चलाए जा रहे स्वतन्त्रता आन्दोलनों को समर्थन का आह्वान किया गया। सम्मेलन में की गयी घोषणाओं में अल्प विकसित राष्ट्रों की आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक उन्नति हेतु अह्वान किया गया। यह भी मांग की गयी कि विकासशील देशों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की शर्तें न्यायपूर्ण हों। सम्मेलन में चार महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले गए जो इस प्रकार हैं–

1. शीतयुद्ध के बढ़ते खतरे को रोकने के लिए राष्ट्रों को शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के व्यवहार को स्वीकार करना चाहिए।
2. नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्रों की प्रगति को सुनिश्चित करने के लिए भौतिक तथा सांस्कृतिक व्यवस्थाओं के मध्य अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में वृद्धि होनी चाहिए।
3. साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद से उत्तराधिकार में प्राप्त आर्थिक असन्तुलन को, एक महत्त्वपूर्ण लक्ष्य मानते हुए, समाप्त किया जाना चाहिए।
4. विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं के मध्य इन विसंगतियों से उत्पन्न होने वाली समस्याओं का तत्काल समाधान किया जाना चाहिए।

सम्मेलन में अपने इस विश्वास को दोहराया गया कि सभी राष्ट्रों को एकता, आत्मनिर्णय तथा स्वतन्त्रता का अधिकार है जिसके आधार पर वे अपने राजनीतिक स्तर को निर्धारित कर सकते हैं और बिना किसी भय व बाधा के अपने आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास कार्यों को जारी रख सकते हैं। यह भी कि किसी भी परिस्थिति में किसी भी व्यक्ति को अपनी आजीविका के साधनों से वंचित नहीं किया जा सकता।

दूसरा शिखर सम्मेलन (काहिरा, 1964)

इस सम्मेलन में 47 राष्ट्र तथा 10 पर्यवेक्षक राष्ट्र सम्मिलित थे। ज्ञातव्य है कि इन तीन वर्षों में कई घटनाएं घटित हो चुकी थीं जिनमें क्यूबा का संकट, भारत-चीन युद्ध, आणविक परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि तथा नेहरू की मृत्यु मुख्य थीं। इस सम्मेलन का उद्देश्य गुटनिरपेक्षता के क्षेत्र को विस्तृत करने तथा गुटनिरपेक्षता को अन्तर्राष्ट्रीय तनावों के शिथिलीकरण में एक माध्यम बनाना था। पहली बार आर्थिक सहयोग भी गुटनिरपेक्षता के मंच से उजागर हुआ। सम्मेलन में अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य का पुनरीक्षण करने के उपरान्त जिस अन्तिम घोषणा को जारी किया गया उसका शीर्षक था "शान्ति एवं अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग हेतु कार्यक्रम।" घोषणा में यह बात दोहरायी गयी कि विश्व शान्ति को तभी मजबूत बनाया जा सकता है जबकि सार्वभौम स्वतन्त्रता, समानता एवं न्याय के सिद्धान्तों को अपनाया जाए तथा साम्राज्यवाद एवं नवउपनिवेशवाद को समाप्त किया जाए। सम्मेलन द्वारा पंचशील के सिद्धान्तों को दोहराया गया इस सम्मेलन में चीन को संयुक्त राष्ट्र का सदस्य बनाए जाने तथा दक्षिण रोडेशिया की अल्पमत गोरी सरकार को मान्यता न दिए जाने के प्रस्ताव पारित किए गए।

तीसरा शिखर सम्मेलन (लुसाका, 1970) :

गुट निरपेक्ष आन्दोलन के इस सम्मेलन में 54 राष्ट्रों तथा नौ पर्यवेक्षक राष्ट्रों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में इस बात पर जोर दिया गया कि गुटनिरपेक्ष राष्ट्र अपने सामूहिक विवेक तथा प्रभाव का इस्तेमाल अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सहयोग को प्राप्त करने के लिए कर सकते हैं। अतः गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों को एक भविष्य के विश्व जिसमें मानवीय जीवन को समृद्ध बनाया जा सकता है, का निर्माण

करना चाहिए। इस सम्मेलन में स्वीकार की गयी घोषणा को ''गुटनिरपेक्षता तथा आर्थिक प्रगति'' का शीर्षक दिया गया। इस उद्देश्य से एक बार पुनः सभी राष्ट्रों को सामान्य रूप में और महाशक्तियों को विशेष रूप में अपने संघर्षों को शान्तिपूर्ण प्रयासों से सुलझाने का आह्वान किया गया। निःशस्त्रीकरण तथा उपनिवेशवाद विरोध के गुटनिरपेक्ष सिद्धान्तों की दुहाई देते हुए राष्ट्रों के मध्य आर्थिक सहयोग को सुदृढ़ करने का पुरजोर समर्थन किया गया। यह भी निर्णय लिया गया कि पुर्तगाल तथा दक्षिण अफ्रीका जो कि संयुक्त राष्ट्र के निर्णयों का सम्मान नहीं कर रहे थे, के साथ दौत्य सम्बन्ध तथा आर्थिक सम्बन्धों का विच्छेद किया जाए। इसराइल से अपने कब्जे में कर लिए गए समस्त अरब क्षेत्र को खाली करने का प्रस्ताव किया। इस सम्मेलन में अपने अभिभाषण में श्रीमती गाँधी ने कहा कि ''गुटनिरपेक्षता हमारी अपने लोगों को स्वतन्त्रता, सम्मान तथा शान्ति के अच्छे जीवन तथा इसके अवसरों को प्रदान करने की आवश्यकता की अभिव्यक्ति है।'' इस सम्मेलन में एक विचार गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों के स्थायी संगठन को बनाए जाने तथा एक सचिवालय स्थापित करने का भी आया था पर इसे यह कहकर अस्वीकार कर दिया गया कि ऐसा करना गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों के एक गुट को बनाना है। सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्र के इस प्रस्ताव कि '1970 का दशक निःशस्त्रीकरण का दशक घोषित किया जाए' का स्वागत किया गया। इस सम्मेलन की एक महत्त्वपूर्ण घोषणा यह थी कि सदस्य राष्ट्र ऐसी समस्त शक्तियों के खिलाफ ठोस कदम उठाएंगे जो गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों की स्वतन्त्रता तथा क्षेत्रीय अखंडता के लिए चुनौती प्रस्तुत करते हैं।

चौथा शिखर सम्मेलन (अल्जीयर्स, 1973) :

इस सम्मेलन में शामिल सदस्य राष्ट्रों की संख्या 75 थी। इसके अतिरिक्त नौ पर्यवेक्षक राष्ट्र भी शामिल थे। यह संख्या विश्व कुल के तत्कालीन कुल राष्ट्रों की संख्या तथा आबादी के बहुमत का प्रतिनिधित्व करती थी। यह आन्दोलन की लोकप्रियता तथा स्वीकार्यता की परिचायक थी। इस सम्मेलन में राजनीतिक तथा आर्थिक प्रस्तावों को अलग-अलग समुच्चयों में स्वीकार किया गया। राजनीतिक घोषणा के अन्तर्गत विश्व भर में तनाव शैथिल्य को प्रोत्साहन देने का प्रस्ताव किया गया। और यह विश्वास व्यक्त किया गया कि गुटनिरपेक्ष अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में एक महत्त्वपूर्ण कारक तत्त्व है जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में स्वतन्त्रता, शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व तथा लोकतन्त्रीकरण के सिद्धान्तों को लागू करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन कर सकता है। इस सम्मेलन में यह आहवान भी किया गया कि शोषण की समाप्ति तथा अमीर और गरीब राष्ट्रों के मध्य की दूरी कम होनी चाहिए। यही विचार अगले वर्ष गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के प्रयासों से संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा अपने विशेष अधिवेशन में नयी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था (NIEO) हेतु पारित प्रस्ताव के रूप में अभिव्यक्त हुआ।

पांचवां शिखर सम्मेलन (कोलम्बो, 1976)

इस शिखर सम्मेलन में 88 राष्ट्र तथा 16 पर्यवेक्षक एवं सात अतिथि राष्ट्र सम्मिलित हुए। सम्मेलन द्वारा यह स्वीकार किया गया कि गुटनिरपेक्षता ने राष्ट्रों तथा व्यक्तियों की स्वतन्त्रता तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के प्रोन्नयन का विश्व में शान्ति, न्याय, समानता तथा सहयोग की बढ़ोत्तरी हेतु एक गत्यात्मक कारक की भूमिका का निर्वहन किया। यह सम्मेलन पहली बार एशिया में आयोजित हुआ तथा इसमें अफ्रीका तथा लैटिन अमरीका से बड़ी संख्या में राष्ट्र सम्मिलित हुए। इस सम्मेलन में राष्ट्रों की आत्मनिर्भरता को केन्द्रीय बनाया गया। विकासशील राष्ट्रों के औचित्यपूर्ण आर्थिक अधिकारों की सुरक्षा की आवश्यकता पर बल दिया। वास्तव में यह सम्मेलन नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को विकसित करने के उद्देश्य पर केन्द्रित था तथा इस सम्मेलन द्वारा जारी घोषणा-पत्र में भी यह परिलक्षित हुआ कि गुटनिरपेक्ष राष्ट्र एक नयी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की आवश्यकता को महसूस कर रहे हैं इसलिए इनकी माँग अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के आमूल परिवर्तन की थी। इस

उद्देश्य से इस सम्मेलन के आर्थिक प्रस्तावों में विकासशील देशों को बेहतर शर्तों पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मौके दिए जाने, श्रम के नए अन्तर्राष्ट्रीय विभाजन के आधार पर उत्पादन को पुनर्गठित किए जाने, विश्व मुद्रा प्रणाली में आमूल परिवर्तन किए जाने तथा मुद्रा सम्बन्धी सुधारों में विकासशील देशों की राय को विकसित देशों के सदृश सम्मान दिए जाने साथ ही आर्थिक साधनों के हस्तान्तरण किए जाने तथा विकासशील देशों में अन्न की पैदावार बढ़ाने हेतु अनुकूल शर्तों पर पर्याप्त साधन और समुचित तकनीकी प्रदान किए जाने की मांग की गयी।

इस सम्मेलन की राजनीतिक घोषणा के अन्तर्गत समता के आधार पर एक नयी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था को बनाए जाने की बात कही गयी। प्रभाव क्षेत्र जैसे सिद्धान्तों को शान्ति विरोधी बताया गया। सम्मेलन में हिन्द महासागर को तनावमुक्त क्षेत्र बनाए जाने की मांग की गयी और डिएगो गार्सिया से सैनिक अड्डे हटाए जाने की मांग की गयी। सम्मेलन में प्रभाव क्षेत्र जैसे सिद्धान्तों को शान्ति विरोधी बताया गया।

छठवां शिखर सम्मेलन (हवाना, 1979) :

इस सम्मेलन में 94 सदस्यों ने सहभाग किया। इसके अतिरिक्त 18 मेहमान राष्ट्र तथा 20 राष्ट्र या संगठन पर्यवेक्षकों की तरह शामिल हुए। पहली बार गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का सम्मेलन लैटिन अमरीका में हुआ। यह सम्मेलन फिदेल कास्त्रो द्वारा अपने अध्यक्षीय भाषण में सोवियत संघ को 'गुटनिरपेक्षता का स्वाभाविक मित्र' बताए जाने के कारण अत्यधिक विवाद एवं चर्चा का विषय रहा। इस सम्मेलन में भारत का प्रतिनिधित्व भारत के विदेश मन्त्री द्वारा किया गया। सम्मेलन द्वारा जारी घोषणा-पत्र में क्रमशः गुटनिरपेक्षता तथा गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को एक जुट रखने का आह्वान किया गया। साम्राज्यवाद, नस्लवाद, विदेशी प्रभुत्व तथा हस्तक्षेप एवं चौधराहट के विरुद्ध संघर्ष करने का भी आह्वान किया गया। इसराइल और मिस्र के बीच कैम्प डेविड समझौते कि निन्दा की गयी। (मिस्र पर तो लम्बी बहस हुई और अधिकांश अरब देशों ने इसके निष्कासन की मांग भी उठायी)। इस सम्मेलन में ऊर्जा और विशेषकर तेल निर्यातक देशों की ऊर्जा सम्बन्धी समस्याओं पर भी विशेष रूप से चर्चा की गयी।

सातवां शिखर सम्मेलन (नयी दिल्ली, 1983) :

इस शिखर सम्मेलन का आयोजन 1982 में बगदाद में प्रस्तावित था, परन्तु ईरान-इराक युद्ध के चलते यह संभव न हो सका। गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों की आम सहमति से इसे नयी दिल्ली में आयोजित करने का निर्णय लिया गया। अतः यह सम्मेलन 1983 में नयी दिल्ली में आयोजित हुआ। स्पष्ट है कि एक ओर जहाँ यह भारत में होने वाला बड़ा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन था वहीं दूसरी ओर यह गुटनिरपेक्ष आन्दोलन में भारत की महत्त्वपूर्ण भूमिका के प्रति गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों की आस्था का भी प्रतीक है। इस सम्मेलन में 101 राष्ट्रों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। सम्मेलन की समाप्ति पर प्रमुख रूप से दो प्रकार की घोषणाएँ की गयीं। पहली राजनीतिक घोषणाएँ थीं जिनके प्रमुख मसले - अफगानिस्तान, कम्पूचिया, ईरान-ईराक युद्ध, फिलीस्तीनी राज्य की स्थापना, नयी समाचार व्यवस्था तथा निःशस्त्रीकरण रहे। दूसरी घोषणाएँ आर्थिक थीं जिनके प्रमुख मुद्दे - उत्तर-दक्षिण, संवाद, विकासशील देशों के मध्य पारस्परिक सहयोग तथा गुटनिरपेक्ष देशों के एक बैंक की स्थापना से सम्बन्धित थे। इस सम्मेलन में सदस्य राष्ट्रों के मध्य राजनीतिक मसलों पर कटु बहसें भी देखी गयीं। अफगानिस्तान तथा कम्पूचिया से क्रमशः सोवियत संघ और वियतनाम के सैनिक हटाए जाने के प्रश्न पर काफी विवाद हुआ और अन्त में इन देशों से 'विदेशी सैनिक' हटाए जाने का प्रस्ताव पारित किया गया। एक बात इस सम्मेलन में यह प्रकट होती दिखी कि सोवियत समर्थक राष्ट्र अपनी बातों को मनवाने में सफल रहे। सम्मेलन में सोवियत संघ को नाम लेकर नहीं दुत्कारा गया पर अमेरिका की

नाम लेकर आलोचना की गयी। यह भी एक विडम्बना रही कि ए,, पूरे दिन ईरान-ईराक युद्ध पर हुई चर्चा के बावजूद इन राष्ट्रों को युद्ध रोकने के लिए सहमत नहीं किया जा सका। सम्मेलन इस आशय की मात्र एक अपील ही कर सका। निःशस्त्रीकरण के बारे में हथियारों की होड़ को समाप्त करने और हथियारों पर किए जाने वाले खर्च का विकास कार्यक्रमों के लिए इस्तेमाल किए जाने की बात कही गयी। परमाणु हथियारों पर रोक लगाए जाने की भी बात कही गयी। पर इन सब के लिए कोई ठोस उपाय नहीं सुझाए जा सके।

हालांकि इस सम्मेलन में समानता तथा न्याय पर आधारित एक नयी विश्व अर्थव्यवस्था की स्थापना को लेकर आम सहमति तो अवश्य प्रकट की गयी किन्तु इसे प्राप्त करने के लिए कौन से साधन अपनाए जाएं इस पर मतभेद दिखाई पड़े। इसी कारण कोई ठोस रुपरेखा तैयार नहीं की जा सकी। आन्दोलन यह नहीं तय कर पाया कि निवर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं को समाप्त कर नयी संस्थाएँ बनायी जाएं या इन्हीं संस्थाओं की संरचनाओं को पुनर्रचित किया जाए। गुटनिरपेक्ष देशों के बैंक का मामला भी मात्र विचार ही रहा।

संभवतः गुटनिरपेक्ष आन्दोलन में शामिल राष्ट्रों की राजनीतिक व आर्थिक व्यवस्थाओं की भिन्नता और उनके मध्य असमान विकास स्तर के चलते ऐसे प्रश्नों पर 101 राष्ट्रों के मध्य आम सहमति का बन पाना एक टेढ़ी खीर ही साबित हुआ। इस सम्मेलन का सकारात्मक पक्ष दोनों महाशक्तियों द्वारा विश्व-शान्ति, सुरक्षा तथा सहयोग स्थापित करने के लिए इस आन्दोलन को मान्य करना रहा।

आठवां शिखर सम्मेलन (हरारे, 1986) :

इस सम्मेलन में शामिल सदस्यों की संख्या में कोई बढ़ोत्तरी नहीं हुई पर अफ्रीका में इस सम्मेलन का आयोजन रंगभेद की नीति का विरोध करने में कामयाब हुआ। हरारे घोषणा में द० अफ्रीका की गोरी सरकार को प्रौद्योगिकी के हस्तान्तरण पर प्रतिबन्ध, निर्यात की समाप्ति, तेल बिक्री पर रोक तथा हवाई सम्पर्क तोड़ने की बात कही गयी। एक 'अफ्रीका कोष' भी बनाया गया जो अफ्रीकी देशों की द० अफ्रीका पर आर्थिक निर्भरता को कम करने में सहायता दे सके। नामीबिया की स्वतन्त्रता को सुनिश्चित करने के लिए 'संयुक्त राष्ट्र का विशेष अधिवेशन बुलाए जाने की मांग की गयी।

इस सम्मेलन के दौरान गुट निरपेक्ष राष्ट्रों के मध्य आन्तरिक मतभेद भी स्पष्ट दिखाई पड़े। लीबिया के राष्ट्रपति कर्नल गद्दाफी ने तो आन्दोलन को 'अन्तर्राष्ट्रीय छलावा' तथा 'अपनी उपयोगिता को खो चुका' तक कह दिया। ईरान-ईराक युद्ध को रोकने में इस आन्दोलन की नाकामयाबी भी उभरकर सामने आई, परन्तु आन्दोलन की एक बड़ी उपलब्धि विकासशील राष्ट्रों के मध्य आर्थिक सहयोग बढ़ाने पर सहमति का होना रही। इस उद्देश्य से तंजानिया के पूर्व राष्ट्रपति जूलियस न्यरेरे की अध्यक्षता में एक आयोग का गठन किया गया। इस आयोग को यह कार्य सौंपा गया कि वह विकासशील देशों में गरीबी, भुखमरी, निरक्षरता तथा अन्य आर्थिक समस्याओं के निराकरण हेतु उपाय सुझाए और संयुक्त रणनीति अपनाने हेतु उपाय सुझाए और संयुक्त रणनीति अपनाने हेतु सुझाव दिए गए। अमेरिका द्वारा हरारे सम्मेलन की न सिर्फ आलोचना की गयी बल्कि जिम्बाब्वे को आर्थिक सहायता बन्द करने की घोषणा भी की गयी।

नौवॉ शिखर सम्मेलन (बेलग्रेड, 1989) :

इस सम्मेलन के समय आन्दोलन की सदस्य संख्या 102 तक पहुँच गयी। इस सम्मेलन में अतिथि राष्ट्रों के रूप में पूर्वी जर्मनी, पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया, कनाडा, न्यूजीलैंड, नार्वे सहित आठ राष्ट्र सम्मिलित हुए। इस सम्मेलन में एक प्रमुख मुद्दा यह उठाया गया कि अमीर और गरीब दुनिया के बीच व्यापार तथा बाजार, कर्ज तथा पूंजी-निवेश के रिश्ते कैसे हों? एटमी हथियारों के

भण्डारों को कैसे समाप्त किया जाए, जैविक एवं रासायनिक हथियारों पर कैसे नियन्त्रण हो, पृथ्वी को बचाने की पहल कौन करे? ऐसे महत्त्पूर्ण मुद्दों के सन्दर्भ में बेलग्रेड के घोषणा-पत्र द्वारा स्पष्ट किया गया कि गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को अपने अतीत से हटकर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन लाने हेतु काम करना होगा तभी विश्व की प्रमुख समस्याओं को सुलझाने में यह आन्दोलन अपनी सक्रिय भूमिका का निर्वहन कर पाएगा। इस सम्मेलन में राजीव गाँधी ने कहा था कि 'खतरा अब आर्थिक उपनिवेशवाद का नहीं आर्थिक गुलामी का है।'

बेलग्रेड की घोषणा द्वारा–

1. गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों के लिए आत्मनिर्णय के अधिकार की पुष्टि की गयी।
2. उपनिवेशवाद की समाप्ति को सम्पूर्ण मानव जाति का नैतिक दायित्व बताया गया।
3. तीसरी दुनिया के देशों पर विदेशी कर्ज के बोझ की समस्या एवं संरक्षणवादी बाधाओं को हटाने की बात की गयीं।
4. अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय से अनुरोध किया गया कि पर्यावरण सम्बन्धी सहयोग हेतु अलग से वित्तीय संसाधन जुटाए जाएं। इसी सम्बन्ध में परमाणु कचरे को ठिकाने लगाने का सवाल भी उठाया गया।
5. शान्तिपूर्ण उद्देश्यों के लिए परमाणु शक्ति को हासिल करना राष्ट्र का अधिकार है अतः किसी राष्ट्र पर परमाणु अप्रसार की आड़ में ऐसे प्रतिबन्ध नहीं लगाए जाने चाहिए।
6. मादक द्रव्यों का सेवन और इसकी तस्करी को रोकने के बारे में पारित प्रस्ताव द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के माध्यम से तुरन्त प्रभावी कदम उठाए जाने की बात कही गयी।
7. विकासशील देशों के मध्य आपसी सहयोग बढ़ाने हेतु एक 12 राष्ट्रों के 'समन्वयक दल' का भी गठन किया गया। इस सम्मेलन में अमेरिका, इसराइल और द0अफ्रीका की आलोचना की गयी।

दसवां शिखर सम्मेलन (जकार्ता, 1992) :

108 सदस्यों का यह शिखर सम्मेलन एक ऐसे समय में सम्पन्न हुआ जबकि गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को समाप्त किए जाने की बात कही जा रही थी। इसे एक विचित्र संयोग ही कहा जा सकता है कि इस सम्मेलन के कुछ समय पूर्व गुटनिरपेक्ष विदेश मन्त्रियों की साइप्रस में हुई बैठक में मिस्र के विदेश मन्त्री अमरे मूसा तथा कुछ अन्य प्रतिनधियों द्वारा आन्दोलन को समाप्त करने का प्रस्ताव रखा गया था। ऐसा प्रस्ताव शीत युद्ध की समाप्ति के बाद क्या गुटनिरपेक्ष आन्दोलन प्रासंगिक है? ऐसे ही किसी प्रश्न के सन्दर्भ में रखा गया होगा परन्तु तत्काल यह प्रस्ताव अस्वीकार हो गया और जकार्ता सम्मेलन अपने निर्धारित समय पर आयोजित हुआ। इस सम्मेलन के अन्तिम घोषणा-पत्र द्वारा एक बार पुनः एक समानता पर आधारित विश्व व्यवस्था, परमाणु हथियारों से मुक्त विश्व की स्थापना तथा अन्तर्राष्ट्रीय मसलों को शान्तिपूर्ण तरीके से सुलझाने का आह्वान किया गया। अन्तिम घोषणा में गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों की एकता को मजबूत करने पर जोर दिया गया। इस सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्र के चार्टर में संशोधन तथा संयुक्त राष्ट्र के पुनर्गठन और सुरक्षा परिषद् की सदस्य संख्या में विस्तार की बात की गयी। इस सम्मेलन की एक सबसे महत्त्वपूर्ण सिफारिश विकासशील देशों के मध्य आपसी सहयोग में बढ़ोत्तरी करने से सम्बद्ध थी। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु यह आवश्यक था कि आर्थिक संसाधनों से मुक्त विकासशील राष्ट्र तथा विज्ञान एवं तकनीक की दृष्टि से उन्नत विकासशील राष्ट्र पारस्परिक सहयोग के लिए आगे आए। इस सम्मेलन में जहाँ चीन एक पर्यवेक्षक

के रूप में शामिल हुआ वहीं म्याँमार को 12 वर्षों के बाद पुनः एक गुटनिरपेक्ष सदस्य के रूप में शामिल किया गया।

ग्यारहवां शिखर सम्मेलन (कार्टागेना, 1995) :

कार्टागेना (कोलम्बिया) में आयोजित इस शिखर सम्मेलन में 113 सदस्य राष्ट्रों में से 108 भाग लेने पहुँचें। इस सम्मेलन द्वारा संयुक्त राष्ट्र में सुधार, अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा और निःशस्त्रीकरण, मानवाधिकार, दक्षिण-दक्षिण सहयोग तथा विकास के विषय अधिक चर्चित रहे। सम्मेलन की समाप्ति पर जारी दस्तावेज में कम आय वाले विकासशील देशों के कर्जभार को समाप्त करने की बात कही गयी। इसके साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं विशेषकर विश्व बैंक, तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-क्रोष में विकासशील देशों के मतदान के अधिकार को व्यापक करने की मांग की गयी। सम्मेलन में भारत की इस मांग को भी स्वीकार कर लिया गया कि द्विपक्षीय विवादों में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को न घसीटा जाए। यह भी कहा गया कि बाजारोन्मुख आर्थिक सुधारों के अन्तर्राष्ट्रीय दौर में विकासशील देशों के ऊपर विकसित देशों द्वारा नयी शर्तें थोपे जाने का मिलकर विरोध किया जाना चाहिए। सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् की सदस्यता में बढ़ोत्तरी की मांग दोहरायी गयी। अन्तिम दस्तावेज में आन्दोलन की वैधता तथा इसके सिद्धान्तों एवं उद्देश्यों की प्रासंगिकता की पुष्टि की गयी।

बारहवां शिखर सम्मेलन (डरबन, 1998) :

दक्षिण अफ्रीका में आयोजित इस सम्मेलन में कुल 113 सदस्य थे। इस सम्मेलन द्वारा जारी घोषणा में शीतयुद्ध के बाद गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की निरन्तर प्रासंगिकता तथा महत्त्व पर बल दिया गया। अन्तिम घोषणा में विकासशील देशों की चिन्ताओं पर ध्यान आकर्षित किया गया। निःशस्त्रीकरण, संयुक्त राष्ट्र में सुधार तथा आतंकवाद के प्रश्न इस सम्मेलन में भी छाए रहे। परमाणु हथियारों के पूर्ण उन्मूलन की बात घोषणा-पत्र में कही गयी। इस सम्मेलन में नेल्सन मंडेला द्वारा कश्मीर की समस्या पर की गयी टिप्पणी विवाद का विषय रही।

तेरहवां शिखर सम्मेलन (कुआलालम्पुर, 2003) :

116 सदस्यीय गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का यह इक्कीसवीं शताब्दी का पहला शिखर सम्मेलन था। इस सम्मेलन की समाप्ति पर जारी घोषणा-पत्र को "गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का अनवरत पुनरुज्जीवीकरण" शीर्षक दिया गया तथा घोषणा-पत्र में निम्नलिखित बिन्दुओं को रखा गया–

1. अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का निवारण करने हेतु बल निषेध।
2. एक बहुध्रुवीय विश्व की आवश्यकता।
3. संयुक्त राष्ट्र को सशक्त और सक्षम बनाया जाए तथा आर्थिक विकास हेतु संयुक्त राष्ट्र को अधिक सक्षम बनाया जाए।
4. ईराक संकट का शान्तिपूर्ण समाधान
5. दक्षिण-दक्षिण सहयोग तथा संवाद पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता।
6. लोकतन्त्र को प्रोत्साहन।
7. मानवाधिकारों को प्रोत्साहन तथा सामाजिक न्याय की स्थापना।
8. सुरक्षा परिषद् का विस्तार।

9. अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद के विरुद्ध युद्ध संयुक्त राष्ट्र के निर्देशन में हों,

10. एक भेदभावपूर्ण रहित परमाणु अप्रासर के पक्ष में वातावरण का निर्माण हो तथा परमाणु शक्ति रहित राष्ट्रों को दी जाने वाली धमकी संयुक्त राष्ट्र चार्टर का उल्लंघन समझा जाए।

12.7 गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की उपलब्धियाँ

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के जिस दौर में गुटनिरपेक्षता का आविर्भाव हुआ वह शीतयुद्ध का दौर था। इस दौर में विकसित महाशक्तियों के मध्य प्रतिस्पर्द्धा विश्व शान्ति हेतु एक बड़ी चुनौती थी। महाशक्तियाँ सम्पूर्ण विश्व को अपने-अपने प्रभाव क्षेत्र में विभाजित करने हेतु आतुर थीं। ऐसे में गुटनिरपेक्षता का विचार उनकी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के बारे में सोच से परे था। अमेरिकी विदेश सचिव फॉस्टर डलेस तो इसे अनैतिक, कायरतापूर्ण, अवांछित मानते थे। उनकी स्पष्ट मान्यता थी कि द्विध्रुवीय विश्व में राष्ट्रों के पास किसी एक ध्रुव के साथ जुड़ने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं है। यह गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के कर्णधारों की दूरदृष्टि ही थी कि उन्होंने नवोदित राष्ट्रों की राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा संप्रभुता के संरक्षण हेतु गुटनिरपेक्षता के आदर्श को आवश्यक समझा और नवोदित राष्ट्रों को इस विचार के बारे में आश्वस्त किया। आन्दोलन के क्रमिक विकास पर दृष्टि डालें तो यह स्पष्ट होता है कि इस आन्दोलन से नवोदित राष्ट्र निरन्तर जुड़ते चले गए और आज विश्व कुल के राष्ट्रों का विशाल बहुमत इस आन्दोलन का सदस्य है। इस आन्दोलन द्वारा अपने शिखर सम्मेलनों के माध्यम से विश्व की ज्वलन्त समस्याओं को विचारने हेतु एक ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय मंच प्रदान किया जहां इन समस्याओं पर विश्व जनमत की अभिव्यक्ति होती है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त विश्व राजनीति में ऐसे कई अवसर उत्पन्न हुए जब एक तीसरे विश्व युद्ध की आशंका बनती दिखी, महाशक्तियों के बीच तनाव की राजनीति ऐसे तनावों को विश्व के विभिन्न क्षेत्रों या अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर उजागर करती रहीं। संभवतः यह गुटनिरपेक्षता का विचार और गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों की विश्व व्यापी सदस्यता ही थी कि ऐसे तनाव किसी बड़ी दुर्घटना का कारण नहीं बन पाए। अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न वे चाहे निःशस्त्रीकरण से सम्बन्धित हों या परमाणु शक्ति के खतरे से या फिर वे राज्य-राज्यों के ऐसे प्रश्न हों जो राष्ट्रों के मध्य तनाव या युद्ध का कारण बने हों; महाशक्तियों द्वारा अथवा अन्य राज्यों द्वारा दूसरे राज्यों में हस्तक्षेप के प्रश्न हों अथवा महाशक्तियों के वे प्रयास जो उनके द्वारा अपने सैनिक अड्डों को विश्वव्यापी बनाए रखने से सम्बन्धित हों, अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की पुनर्रचना के प्रश्न जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक, आर्थिक और यहां तक कि सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रश्नों से सम्बन्धित हों गुटनिरपेक्ष आन्दोलन द्वारा अवश्य विचारित किए गए। बदलते अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य में अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की पुनर्रचना की आवश्यकता से सम्बन्धित प्रश्न भी गुटनिरपेक्ष मंच द्वारा बार-बार उठाए जाते रहे हैं।

संक्षेप में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की उपलब्धियों को निम्नवत् देखा जा सकता है–

1. आन्दोलन ने उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया को द्रुतगति प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया। इस प्रक्रिया में यह आन्दोलन एक ओर उपनिवेशों में चल रहे स्वतन्त्रता संग्रामों को नैतिक तथा राजनीतिक समर्थन प्रदान करता रहा और दूसरी ओर औपनिवेशिक शक्तियों के ऊपर संयुक्त राष्ट्र तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय मंचों व विश्व जनमत के माध्यम से दबाव डालता रहा।

2. गुटनिरपेक्ष आन्दोलन साम्राज्यवाद, नव उपनिवेशवाद, नस्लवाद, रंगभेद, वर्चस्ववाद के विरुद्ध एक सशक्त अन्तर्राष्ट्रीय नैतिक बल के रूप में उभरा तथा इसने नवोदित राष्ट्रों के आत्मनिर्णय और आत्मनिर्भरता के अधिकारों के सम्मान की रक्षा का कार्य किया।

3. आन्दोलन ने कमजोर राष्ट्रों को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में मात्र एक उपकरण होने के बजाय एक स्वतन्त्र कर्ता के रूप में स्थापित किया और इस तरह एक ऐसी सार्वभौम अन्तर्राष्ट्रीय

व्यवस्था की बुनियाद रखी जो राष्ट्रों की समानता के सिद्धान्त को सिद्धान्त और व्यवहार दोनों में स्वीकार करती है।

4. आन्दोलन द्वारा विश्व शान्ति को बनाए रखने तथा स्थानीय संघर्षों को रोकने हेतु एक सैद्धान्तिक व चिरस्थायी आधारभूमि का निर्माण किया गया।

5. आन्दोलन के प्रयासों के फलस्वरूप ही एक नयी विश्व व्यवस्था, जो कि राजनीतिक तथा आर्थिक समानता पर आधारित हो, की आवश्यकता को सामान्य मान्यता मिली।

6. आन्दोलन ने राष्ट्रों के मध्य समझ-बूझ के क्षेत्र में वृद्धि पर बार-बार जोर देते हुए यह स्थापित किया कि एक भविष्य की विश्व व्यवस्था, संचार एवं आपसी सूझ-बूझ से ही संभव हो सकती है और कदाचित् यह 'एक विश्व' के सपने को साकार कर सकती है।

7. गुटनिरपेक्षता का विकास तथा गुटनिरपेक्ष आन्दोलन से जुड़े सदस्यों में निरन्तर बढ़ोत्तरी, विश्व के दो परस्पर विरोधी सैन्य गुटों के रूप में कठोर द्विध्रुवीय विभाजन को रोकने में कामयाब रही।

8. आन्दोलन द्वारा निर्मित गुटनिरपेक्ष समाचार संगम (Non Aligned News pool) पाश्चात्य जगत के इस क्षेत्र में स्थापित वर्चस्व को तोड़ने में एक सार्थक पहल साबित हुआ।

9. आन्दोलन के प्रयासों ने विश्व को पारम्परिक तथा आणविक शस्त्रीकरण के खतरों के प्रति आगाह किया।

10. विश्व व्यापी तनाव शैथिल्य का वातावरण बनाने में आन्दोलन की भूमिका सराहनीय रही।

11. आन्दोलन के प्रयास विकासशील राष्ट्रों में आर्थिक सहयोग की वृद्धि करने में कारगर साबित हुए साथ ही एक विश्व समाज हेतु उन्मुक्त वातावरण के निर्माण में सहायक रहे।

12.8 गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की दुर्बलताएँ

आन्दोलन की उपर्युक्त उपलब्धियों के सन्दर्भ में ऐसा नहीं कहा जा सकता कि इस आन्दोलन की अपनी कोई दुर्बलताएँ नहीं रही हैं। इसकी कुछ दुर्बलताओं को निम्न बिन्दुओं में दर्शाया जा सकता है :

1. प्रायः और विशेषकर पाश्चात्य जगत गुटनिरपेक्षता के ऊपर यह आरोप लगता रहा कि यह एक अवसरवादी नीति है। ऐसा आरोप इन राष्ट्रों की साम्यवादी जगत के प्रति सैद्धान्तिक सहानुभूति और अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु पाश्चात्य जगत पर निर्भरता के सन्दर्भ में लगाया जाता है। निस्सन्देह आन्दोलन से जुड़े राष्ट्र वाह्य सहायता पर ही निर्भर रहे।

2. गुटनिरपेक्षता को सैद्धान्तिक दृष्टि से उचित कहते हुए भी इसकी पूर्ण व्यावहारिकता संदिग्ध ही रही। आन्दोलन के राष्ट्र कभी पार्थक्यवाद की बात करते तो कभी अपने राष्ट्रीय हितों की दुहाई देकर महाशक्तियों से मित्रतापूर्ण सन्धियाँ भी करते रहे।

3. गुटनिरपेक्षता सुरक्षा का एक साधन नहीं है यह बात इस तथ्य से जाहिर होती है कि निःशस्त्रीकरण की दुहाई देने वाले आन्दोलन के सदस्य राष्ट्र अपनी-अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा के नाम पर हथियारों की खरीद व संग्रहण में संलग्न रहे।

4. गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों में बुनियादी एकता का भी अभाव रहा। गुटनिरपेक्ष राष्ट्र विविध विचारधाराओं और विविध राजनीतिक व्यवस्थाओं को अपनाने वाले राष्ट्र हैं। प्रायः इनकी सहानुभूतियाँ भी किसी एक महाशक्ति के साथ प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में प्रकट होती रही।

5. गुटनिरपेक्ष आन्दोलन अपनी संख्यात्मक शक्ति के बावजूद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक तथा

अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था में कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने में समर्थ नहीं रहा। यहाँ तक कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की पुनर्रचना के प्रयासों को भी व्यावहारिक रूप से पाने में असफल ही रहा।

6. आन्दोलन की प्रगति के दौरान ऐसे अवसर भी दिखायी पड़े जब सदस्य राष्ट्रों के राष्ट्रीय हितों की सार्वभौम स्वीकृति को नकारते हुए विविध राष्ट्रों के राजनेता अपने नेतृत्व की छवि को उभारने हेतु अधिक प्रयासरत दिखायी पड़े।

7. आन्दोलन के अपेक्षानुसार सफलता अर्जित न कर पाने का एक महत्त्वपूर्ण कारण क्षेत्रीय संगठनों का विस्तार भी माना जा सकता है। इन क्षेत्रीय संगठनों द्वारा अपनी उपादेयता को स्थापित करने का परिणाम यह हुआ कि क्षेत्रीय संगठन राष्ट्रों की पहली प्राथमिकता बन गए और गुटनिरपेक्ष आन्दोलन पृष्ठभूमि में चला गया।

8. आन्दोलन की विफलता इस तथ्य से भी उजागर हुई कि सदस्य राष्ट्रों के मध्य युद्धों को रोकने में भी आन्दोलन के प्रयास सुझावों तक सीमित रहे।

12.9 गुट निरपेक्ष आन्दोलन के समक्ष चुनौतियाँ

वस्तुतः गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का उद्भव ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के एक चुनौती भरे दौर में हुआ था। औपनिवेशिक साम्राज्यवाद की बेड़ियों से मुक्त इन नवोदित राष्ट्रों के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती लम्बे संघर्षों के उपरान्त प्राप्त अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता को बनाए रखना था। यह कार्य दुष्कर था क्योंकि विश्व का द्विध्रुवीय विभाजन प्रारम्भ हो चुका था तथा नवोदित राष्ट्र इतने सामर्थ्यवान नहीं थे कि वे बिना विकसित राष्ट्रों की सहायता के अपनी आर्थिक चुनौतियों का सामना कर सकें। ये आर्थिक चुनौतियाँ बहुत विकराल थीं, क्योंकि लगभग सभी राष्ट्र आर्थिक दृष्टि से पिछड़े तो थे ही साथ ही बेरोजगारी, भुखमरी, अल्पविकास जैसी समस्याएँ सभी राष्ट्रों के लिए समान थीं। इनसे भी बढ़कर राष्ट्रों-निर्माण की चुनौती इन राष्टरों के समक्ष एक बड़ी चुनौती थी।

शीतयुद्ध में संलग्न महाशक्तियाँ अपने-अपने प्रभाव क्षेत्रों के विस्तार में संलग्न थीं अतः इन राष्ट्रों को आर्थिक, वैचारिक, सामाजिक तथा खाद्यान्न-पूर्ति के माध्यम से अपने प्रभाव क्षेत्र में लाने के लिए आतुर थीं। बड़ी ताकतों द्वारा बड़ी चतुराई से अपने-अपने खेमे से युद्ध को गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों के दायरे में धकेल दिया गया। यह उन राष्ट्रों की एक सोची समझी रणनीति थी। बड़ी शक्तियाँ अपने शस्त्र भण्डारों के तकनीकी उच्चीकरण की प्रतिस्पर्द्धा में संलग्न थीं। इस हेतु उनके शोध तथा विकास कार्यक्रमों को वित्तीय आपूर्ति आवश्यक थी साथ ही शस्त्रीकरण के प्रतिष्ठान और इससे जुड़े उद्योगों से एक बड़ी मानव शक्ति जुड़ी थी। अतः वे इन कार्यक्रमों को जारी रखना चाहते थे। उनकी समस्या अपने पुराने हो चले शस्त्रों के लिए बाजार की खोज करना भी था। अतः यह उनके हित में था कि नवोदित राष्ट्रों में इस माल की खपत का बाजार उपलब्ध हो। यह तभी संभव था जबकि नवोदित राष्ट्र परस्पर संघर्षरत् रहें। इसलिए ये शक्तियाँ इन राष्ट्रों के मध्य परस्पर शंका और युद्ध के वातावरण को सृजित करती रहीं। परिणामस्वरूप गुटनिरपेक्ष रहते हुए भी नवोदित राष्ट्र आन्दोलन के सिद्धान्तों से दूर हटते गए। इन राष्ट्रों के वित्तीय संसाधनों का एक बड़ा अंश शस्त्रों की खरीद में खर्च होता रहा और आर्थिक पिछड़ापन अपनी जगह कायम रहा। जाहिर है बड़ी ताकतों पर उनकी निर्भरता बढ़ी, उनके ऊपर सैनिक दबाव भी बढ़ने लगे, तथा उनके आपसी सम्बन्ध तनावपूर्ण और संघर्षमय होते गए। बड़ी ताकतों ने इन राष्ट्रों की आन्तरिक राजनीति में हस्तक्षेप करने से भी परहेज नहीं किया जिसके चलते ये राष्ट्र राजनीतिक अस्थिरता से जूझते रहे जो उनके विकास हेतु घातक ही साबित हुआ। गुटनिरपेक्ष आन्दोलन बड़ी शक्तियों की साजिशों के चलते मात्र एक नैतिक आन्दोलन की ही भूमिका का निर्वहन कर सका।

आन्दोलन की प्रगति के साथ-साथ, पूर्व के अनेक गुट-सापेक्ष राष्ट्र भी इसके सदस्य बनते

चले गए। शिखर सम्मेलनों के दौरान ऐसे विषयों का उठाया जाना कि कोई एक महाशक्ति आन्दोलन की स्वाभाविक मित्र है या फिर यह आन्दोलन एक अन्तर्राष्ट्रीय छलावा है अथवा इसकी प्रासंगिकता के प्रश्न को उठाना आन्दोलन के लिए कोई अच्छा संकेत नहीं कहा जा सकता। इनके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य में होने वाले कई अन्य घटनाचक्र भी आन्दोलन के लिए समय-समय पर नयी चुनौतियाँ उत्पन्न करते रहे।

12.10 गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की प्रासंगिकता

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की प्रासंगिकता का प्रश्न शीतयुद्ध की समाप्ति के बाद प्रायः उठाया जाता रहा। प्रथम दृष्टया यह प्रश्न इसलिए सार्थक लगता है कि शीतयुद्ध के दौर में जन्मी गुटनिरपेक्षता के लिए शीतयुद्ध की समाप्ति के साथ ही कोई स्थान नहीं रह जाता। इसके साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिदृश्य में होने वाले परिवर्तन जैसे कि उपनिवेशवाद का कोई प्रश्न न रह जाना, शीतयुद्ध से तनाव शैथिल्य, फिर नवीन तनाव शैथिल्य और अन्ततः शीतयुद्ध की समाप्ति, सैन्य गुटों की उपयोगिता की आवांछितता, तकनीक के क्षेत्र में परिष्कृतता के कारण सैन्य-अड्डों तथा समझौतों के महत्त्व का कम होना और अन्त में द्विध्रुवीय विश्व की समाप्ति तथा एक ध्रुवीय विश्व व्यवस्था का आविर्भाव ऐसे घटनाक्रम हैं जो इस प्रश्न को पुनर्विचार हेतु उपस्थित करते हैं।

गुटनिरपेक्षता की सार्थकता इस अवधारणा की गत्यात्मकता है अतः बदलता परिवेश इसकी उपादेयता को कम नहीं करता है। जिन आदर्शों और सिद्धान्तों पर इसकी बुनियाद खड़ी की गयी व हर युग में और हर परिदृश्य में सार्थक है। शीतयुद्ध सैनिक गुटों तथा उपनिवेशवाद की समाप्ति भले ही हो गयी हो पर इनसे जन्मे प्रश्न समाप्त नहीं हुए हैं। निःशस्त्रीकरण एक बड़ी समस्या है, संकटग्रस्त क्षेत्रों में हथियारों की आपूर्ति निरन्तर होती रहती है, नस्लवाद के प्रश्न उभरते रहते हैं, पूर्व तथा पश्चिम के मध्य भले ही तनाव शैथिल्य हो चुका हो पर तनाव क्षेत्रों की विश्वव्यापी स्तर पर मौजूदगी बरकरार है। विकासशील राष्ट्रों के आर्थिक पुनरुद्धार का कार्य अभी भी अपूर्ण है। एक नयी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था और एक नयी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था की पुनर्रचना एक बड़ा प्रश्न है, बड़े राष्ट्रों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मंचों तक में विकासशील राष्ट्रों की अनदेखी अक्सर ही की जाती रही है, और सभी निर्णय बड़े राष्ट्रों के हितों के अनुरूप ही लिए जाते रहे हैं, ऐसे सभी सन्दर्भों के परिप्रेक्ष्य में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को कहीं अधिक एकजुट होकर एक सकारात्मक और सक्रिय भूमिका का निर्वहन करने की आवश्यकता है जो तीसरी दुनिया के राष्ट्रों के हितों के अनुरूप हो।

12.11 तीसरी दुनिया

तीसरी दुनिया से आशय राष्ट्रों के समुदाय के उस विशाल वर्ग से है जिसने अपनी स्वतन्त्रता को द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् प्राप्त किया। ज्ञातव्य है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिदृश्य में बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में विश्व का एक बड़ा हिस्सा यूरोपीय औपनिवेशिक शक्तियों के उपनिवेश के रूप में था और कई हिस्सों में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष चल रहे थे। प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति पर जब पेरिस शान्ति सम्मेलन चल रहा था तो अमेरिकी राष्ट्रपति वुडरो विल्सन ने एक 14 सूत्री कार्यक्रम दिया। ये सूत्र वारसाई की सन्धि, जिसके परिणामस्वरूप 'राष्ट्र संघ' का उदय हुआ, के आधार बने। इन सूत्रों में से एक सूत्र 'राष्ट्रीय आत्म निर्णय के अधिकार' का था। यद्यपि अमेरिका राष्ट्र संघ का सदस्य नहीं बन पाया तथा राष्ट्र संघ इस सूत्र के कार्यान्वयन हेतु कोई सक्रिय भूमिका भी नहीं निभा पाया तथापि राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलनों हेतु इस सूत्र ने एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। राष्ट्रसंघ अपने इस उद्देश्य में निष्फल रहा कि दुनिया को युद्ध की विभीषिका से बचा सके पर द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के पश्चात् एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिका में अब उपनिवेश धीरे-

धीरे राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने लगे तथा पुराने साम्राज्यों की समाप्ति हो गयी। एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिका में पूर्व यूरोपीय साम्राज्यों के चंगुल से मुक्ति प्राप्त कर स्वतन्त्र हुए उपनिवेश अब संप्रभु राष्ट्रों के रूप में उदित हुए। यह प्रक्रिया द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के पश्चात् लगभग 35 वर्षों में पूरी हो गयी। इस पूरी प्रक्रिया को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विश्लेषण में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिदृश्य में एशियाई - अफ्रीकी - लैटिन अमेरिकी पुनरोदय के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है। इन्हीं राष्ट्रों का वर्ग तीसरी दुनिया के राष्ट्रों के रूप में भी जाना जाता है।

द्वितीय विश्वयुद्ध का तात्कालिक परिणाम विश्व के द्विध्रुवीय विभाजन के रूप में हुआ। यह द्विध्रुवीय विभाजन विचारधाराओं पर आधारित था और ये विचारधाराएँ क्रमशः पूंजीवाद तथा साम्यवाद की विचारधाराएँ थीं। इन दो ध्रुवों के राष्ट्रों को क्रमशः पहली और दूसरी दुनिया के राष्ट्र कहा जाता है। इसका आशय यह है कि एक दुनिया पाश्चात्य जगत की पूंजीवादी विचारधारा को मानने वाली है, दूसरी दुनिया साम्यवादी विचारधारा को मानने वाली है और तीसरी दुनिया नवोदित राष्ट्रों की दुनियां है। पहली और दूसरी दुनिया के राष्ट्रों की राजनीतिक आर्थिक व्यवस्थाओं में आधारभूत अन्तर है इसीलिए आर्थिक विकास के प्रतिमानों की इनकी सोच में भी अन्तर दृष्टिगोचर होता है,।

चीन विश्व की सबसे बड़ी आबादी वाला राष्ट्र है। 1949 में चीन में साम्यवादी क्रान्ति सम्पन्न हुई और तब से निरन्तर इस विचारधारा के प्रति उसकी प्रतिबद्धता बनी हुई है। विश्व राजनीति के द्विध्रुवीय विभाजन में चीन साम्यवादी सैनिक गुटों का सदस्य भी नहीं बना। इसके साथ ही शीतयुद्ध के दौर में नवोदित राष्ट्रों द्वारा जिस गुटनिरपेक्ष विचारधारा को अपनी विदेश नीतियों का आधार बनाया गया उसके प्रति भी चीन की कोई सहानुभूति नहीं रही। चीन एक राष्ट्र के रूप में यूरोपीय साम्राज्यवादी उपनिवेश भी कभी नहीं रहा इसलिए तीन दुनियाँओं के उपर्युक्त वर्गीकरण से चीनी नेतृत्व ने अपनी सहमति नहीं जतायी। चीन के महानायक माओ ने तीन दुनियाओ की अवधारणा को निम्नवत् बताया है–

पहली दुनियाँ–महाशक्तियाँ (संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ)

दूसरी दुनियाँ–पाश्चात्य जगत के औद्योगिक दृष्टि से सम्पन्न राष्ट्र तथा जापान

तीसरी दुनियाँ–विकासशील राष्ट्र जिसमें चीन भी शामिल हैं।

स्पष्ट है कि तीसरी दुनियाँ की पहचान विकासशील राष्ट्रों के उस समुदाय के रूप में की जाती है जो अल्पविकसित हों तथा अपने विकास हेतु प्रयत्नशील हों।

तीसरी दुनियाँ के इन विकासशील राष्ट्रों को भी उनके विकास के स्तर के आधार पर वर्गीकृत किया जाता है और कभी-कभी इन राष्ट्रों में से जिनका विकास स्तर निम्न होता है उनके लिए 'चौथी दुनिया' जैसी शब्दावली प्रयोग की जाती है।

गौरतलब है कि तीसरी दुनियाँ विश्व के कुल राष्ट्रों के दो-तिहाई से भी अधिक राष्ट्रों का समूह है और इस दुनियाँ में विश्व की कुल आबादी का इतना ही विशाल वर्ग निवास करता है। एशिया तथा अफ्रीका में इस पुनरोदय पर टिप्पणी करते हुए स्टेनली हॉफमैन ने लिखा है "जब कभी बीसवीं सदी का इतिहास लिखा जाएगा तो इसकी महान घटना न तो प्रथम विश्व युद्ध होगा न ही द्वितीय विश्व युद्ध; यह घटना परमाणु ऊर्जा की खोज भी नहीं होगी और न ही यह मनुष्य के अन्तरिक्ष में प्रवेश अथवा चांद पर मनुष्य के पदार्पण की होगी। बीसवीं सदी की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना यह कही जाएगी कि विश्व की दो तिहाई आबादी में यह जागृति आयी कि उनके लिए भी एक बेहतर जिन्दगी संभव है।" स्पष्ट है कि ऐसी जागृति का आशय सदियों की राजनीतिक गुलामी से मुक्ति है जो नवोदित राष्ट्रों को अब वह अवसर प्रदान करती है जहां वे अपने लोगों के लिए एक बेहतर भविष्य का निर्माण करने हेतु स्वयं स्वतन्त्र है।

तीसरी दुनियाँ का उपर्युक्त विवेचन तीसरी दुनियाँ के राष्ट्रों की कुछ समान विशेषताओं की ओर इशारा करता है। इनके अन्तर्गत इन राष्ट्रों के भूतकाल में औपनिवेशिक, गुलामी, विकास का

निम्न स्तर, अल्प औद्योगीकरण, विशाल जनसंख्या, बेरोजगारी, दरिद्रता, अल्पशिक्षा, कुपोषण, स्वास्थ्य सम्बन्धी अन्य समस्याएँ आदि रखी जा सकती हैं। अपनी राजनीतिक स्वाधीनता के उपरान्त इन राष्ट्रों ने अपने लिए जिन राजनीतिक व्यवस्थाओं को चुना उनमें विभिन्नताएँ दिखायी पड़ती हैं। निस्सन्देह प्रजातन्त्रीय सांचे में ये व्यवस्थाएँ जरूर ढलीं पर प्रजातन्त्र के प्रचलित प्रतिमानों में से इन राष्ट्रों ने अलग-अलग प्रतिमान अपनाए। यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि प्रजातान्त्रिक प्रयोग इनमें से अधिकांश राष्ट्रों में सफल नहीं हो पाए। इसके अनेक कारण रहे पर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण संभवतः प्रजातन्त्र के आदर्शों के प्रति निष्ठावान नेतृत्व का अभाव रहा अथवा इसे यों भी कहा जा सकता है कि नेतृत्व की राजनीतिक महत्त्वकांक्षाओं के रहते वे प्रजातान्त्रिक पथ से विचलित हो गए और राष्ट्र आन्तरिक कलहों के शिकार हो गए। यह भी गौरतलब है कि ऐसे परिदृश्य में राष्ट्र निर्माण का वह सपना जो स्वतन्त्रता आन्दोलनों के दौर में देखा गया था वह पीछे छूट गया। शीतयुद्ध में संलग्न महाशक्तियों के लिए तो यह वरदान ही था। अपने प्रभाव क्षेत्र को बढ़ाने की प्रतिस्पर्द्धा में उन्होंने इन राष्ट्रों को वैचारिक, आर्थिक तथा सैन्य मदद द्वारा अपने खेमों में शामिल करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। महाशक्तियों को यह एहसास हो चुका था कि इन राष्ट्रों में जितनी अधिक अस्थिरता होगी उतना ही यह उनके लिए लाभप्रद होगा। महाशक्तियों ने इन परिस्थितियों के दोहन में कोई कसर भी नहीं छोड़ी। प्रतिक्रिया स्वरूप तीसरी दुनियाँ के अधिकांश राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के संचालन हेतु गुटनिरपेक्षता की नीति को अपनी विदेश नीतियों का अंग बनाने के लिए प्रेरित हुए। गुटनिरपेक्षता जिसने शनैः-शनैः एक आन्दोलन का रूप धारण कर लिया था, उपनिवेशवाद के किसी भी रूप का विरोध करती थी। संयोग से गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का नेतृत्व ऐसे हाथों में था जो दूर दृष्टि रखते थे। इस नेतृत्व ने तीसरी दुनिया के राष्ट्रों की निर्धनता हेतु औपनिवेशिक शक्तियों को उत्तरदायी माना इसीलिए आन्दोलन के मंच से एक 'नयी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग ने जन्म लिया, संयुक्त राष्ट्र में अपनी संख्यात्मक शक्ति के बल पर एक विशेष अधिवेशन में एक मई 1974 को ऐसी व्यवस्था (NIEO)बनाने का आह्वान भी किया गया। नयी विश्व व्यवस्था की मांग विकसित और विकासशील राष्ट्रों के बीच में दूरी को कम करने के लिए भी। इसी उद्देश्यों से उत्तर-दक्षिण वार्ता का दौर प्रारम्भ हुआ।

संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा गठित विलीब्रांट आयोग ने भी अपनी सिफारिश में विकसित (औपनिवेशिक) राष्ट्रों को विकासशील राष्ट्रों के अल्प विकास हेतु उत्तरदायी माना और यह सिफारिश की कि वे अपने सकल घरेलू उत्पाद का एक प्रतिशत इन राष्ट्रों को अनुदान स्वरूप दें। दुर्भाग्य से उत्तर-दक्षिण वार्ता एक सफल प्रयोग नहीं सिद्ध हुई पर दक्षिण के विकासशील राष्ट्रों को यह अनुभूति करा गया कि दक्षिण-दक्षिण वार्ता विकासशील राष्ट्रों के हितों का सर्वोत्तम माध्यम है। इस माध्यम द्वारा विकासशील राष्ट्र जहाँ अपनी बुनियादी आवश्यकताओं को स्वयं ही पूरा कर सकते हैं वहीं वे अपनी एकजुटता को विकसित राष्ट्रों के विरुद्ध एक सशक्त हथियार बना सकते हैं। यह बात भी ध्यान में रखी जानी चाहिए कि तीसरी दुनिया में प्राकृतिक संसाधनों का भंडार मौजूद है। तेल उत्पादक देशों ने तेल को एक हथियार के रूप में प्रयोग भी किया है। तीसरी दुनिया के अन्य राष्ट्र भी अपने संसाधनों का एक हथियार के रूप में प्रयोग कर सकते हैं परन्तु यह तभी संभव है जबकि तीसरी दुनियाँ के राष्ट्र एकजुट हों। यह तीसरी दुनियाँ के समक्ष एक विशाल चुनौती है। तीसरी दुनिया के राष्ट्रों की अन्य चुनौतियाँ उनकी राजनीतिक अस्थिरता, आन्तरिक कलह, आधारभूत संरचना का अभाव, तकनीक का अभाव आदि हैं।

12.12 सारांश

द्वितीय विश्व युद्धोपरान्त उभरे विश्व परिदृश्य में जहाँ एक ओर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति शीत युद्ध के कारण द्विध्रुवीय हो गई थी, वहीं दूसरी ओर विश्व राष्ट्रों के समुदाय में नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्र की बड़ी संख्या में, इस द्विध्रुवीकरण से स्वतन्त्र रहकर, गुटीय राजनीति से पृथक् निर्गुट रहकर अपनी

राजनीतिक स्वतन्त्रता व संप्रभुता को बनाये रखने तथा कतिपय उन आदर्शों को बनाये रखने हेतु जो विश्व शान्ति हेतु उन परिस्थितियों में अपरिहार्य से थे, कृत संकल्प थे। गुटनिरपेक्षता अथवा असंलग्नता की नीति ने एक आन्दोलन का रूप ग्रहण कर लिया तथा विश्व कुल के राष्ट्रों का एक बड़ा समुदाय, जो विश्व के सभी महाद्वीपों से सम्बद्ध था इस आन्दोलन के साथ जुड़ गया, गुट निरपेक्ष आन्दोलन स्वयं में एक गुट तो नहीं था पर निश्चित रूप से शीत युद्ध की राजनीति के युग में इसकी भूमिका सकारात्मक थी, यही कारण था कि प्रारम्भिक वर्षों में इस आन्दोलन को नकारने के बावजूद महाशक्तियों विशेषकर संयुक्त राज्य अमेरिका को बाद में इस आन्दोलन के महत्त्व तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में इसकी भूमिका को सम्मान देना ही पड़ा, गुटनिरपेक्ष आन्दोलन अपने उद्देश्यों तथा सकारात्मक भूमिका के माध्यम से शीत युद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भी अपनी सार्थकता को बनाये रखने में सफल रहा है।

गुट निरपेक्ष आन्दोलन से जुड़ने वाले विशेषकर एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिका के वे राज्य जो द्वितीय विश्व युद्धोपरान्त स्वतन्त्र हुए थे तथा जिनकी बहुत ही सामान्य विशेषतायें तथा सामान्य चिन्ताएं की तीसरी दुनियाँ के राष्ट्रों के रूप में जाने गये, तीसरी दुनियाँ, शीत युद्ध काल तथा शीत युद्धोत्तर द्वारा दोनों ही में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययनकर्त्ताओं के लिए अपने अध्ययनों में एक महत्त्वपूर्ण आयाम रहा है।

12.13 सन्दर्भ ग्रन्थ

रिक्खी जैपाल : नान अलाइनमेन्ट, ओरिजिन, ग्रोथ एण्ड पोटेंशियल फार वर्ल्ड पीस।

एम0एस0 राजन : गुट निरपेक्ष आंदोलन एवम् संभावनाऐं।

रिचर्ड जैक्शन : दिनान अलाइड दि मू0 एन0 एण्ड दि सुपर पावर्स।

एम0 एस0 राजन : स्टडीज आन नान अलाइनमेन्ट एण्ड दि नान अलाइंड मूवमेन्ट।

पीटर विलेट्स : दि नान अलाइन्ड मूवमेन्ट : दि ओरिजन ऑफ दि थर्ड वर्ल्ड अलाइन्स।

महेन्द्र कुमार : थियोरिटिकल एसपेक्ट्स ऑफ इन्टरनेशनल, पोलिटिक्स।

पुष्पेश पन्त व श्रीपाल जैन : अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति

12.14 सम्बन्धित प्रश्न

(लघु उत्तरीय प्रश्न)

(i) पंचशील के पांच सिद्धान्त बताइये

(ii) गुट निरपेक्षता की परिभाषा दीजिए।

(iii) गुट निरपेक्षता के पांच 'D' क्या है?

(iv) गुट निरपेक्षता और तटस्थता में अन्तर कीजिए

(v) तीसरी दुनिया की प्रमुख विशेषताएँ क्या हैं?

(दीर्घ उत्तरीय प्रश्न)

(1) गुटनिरपेक्षता की नीति के प्रमुख सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए।

(2) गुट निरपेक्षता आन्दोलन की प्रगति की संक्षिप्त विवेचना कीजिए।

(3) वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य में गुट निरपेक्ष आन्दोलन की प्रासंगिकता को समझाइये।

(4) तीसरी दुनिया पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. गुटनिरपेक्षता का अर्थ है :

   (a) तटस्थता (b) तटस्थीकरण (c) अलगाववाद

   (d) शीतयुद्ध से जन्में गुटों से पृथकता

2. प्रथम गुट निरपेक्ष शिखर सम्मेलन कहाँ हुआ था?

   (a) बेलग्रेड (b) जकार्ता (c) काहिरा (d) नई दिल्ली

3. भारत में गुट निरपेक्ष शिखर सम्मेलन कब आयोजित हुआ?

   (a) 1970 (b) 1979 (c) 1983 (d) 1986

4. सोवियत संघ को 'गुट निरपेक्ष आन्दोलन का स्वाभाविक मित्र' किसने कहा था?

   (a) फिदेल कास्त्रो (b) इन्दिरा गाँधी

   (c) जूलियस न्यरेरे (d) मार्शल टीटो

12.15 प्रश्नोत्तर

1. (d)
2. (b)
3. (c)
4. (a)

इकाई-13 शीत युद्धोत्तर विश्व व्यवस्था

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 शीत युद्धोत्तर विश्व व्यवस्था

13.3 वैश्वीकरण अथवा वैश्विक व्यवस्था

13.4 वैश्वीकरण के युग में राष्ट्र राज्य

13.5 सारांश

13.6 सन्दर्भ ग्रन्थ

13.7 सम्बन्धित प्रश्न

13.8 प्रश्नोत्तर

13.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- शीत युद्धोत्तर विश्व व्यवस्था के विषय में विवेचन कर सकेंगे।
- वैश्वीकरण के विचार तथा वैश्विक व्यवस्था की व्याख्या कर सकेंगे।
- वैश्वीकरण के युग में राष्ट्र राज्य की स्थिति के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

13.1 प्रस्तावना

बीसवीं शताब्दी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के इतिहास की सर्वाधिक गतिशील शताब्दी कही जा सकती है। इस शताब्दी ने दो विश्वयुद्धों की विभीषिका झेली और इसी शताब्दी में अन्तर्राष्ट्रीय संगठन अपने संस्थात्मक रूप में न सिर्फ जन्में बल्कि उन्होंने कार्य करना भी प्रारम्भ किया। बीसवीं शताब्दी में, प्रत्येक विश्व युद्ध के बाद एक नयी विश्व व्यवस्था का जन्म हुआ। इन व्यवस्थाओं का केन्द्र एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन था परन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जन्मी विश्व व्यवस्था की एक महत्त्वपूर्ण पहचान शीतयुद्ध था इसीलिए शीतयुद्ध की व्यवस्था, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कालखंड का निर्माण करती है और यह कालखंड चार दशकों से भी अधिक समय तक दुनिया को झकझोरता रहा। शीतयुद्ध के प्रभाव को अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों, शस्त्रीकरण की दौड़, क्षेत्रीय राजनीति तथा राष्ट्रों के मध्य द्विपक्षीय सम्बन्धों में समान रूप से देखा जा सकता है। शीतयुद्ध के इस दौर में एक 'नयी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था' (NIEO) का आहवान भी तीसरी दुनिया के राष्ट्रों द्वारा किया गया। शीतयुद्ध की समाप्ति अत्यधिक नाटकीय रही। साम्यवादी जगत, विशेषकर पूर्वी यूरोप में, शासनों के प्रति जनाक्रोश क्रमशः इन देशों में साम्यवाद की समाप्ति के रूप में सामने आया और जब सोवियत संघ जैसी महाशक्ति इस अशान्ति के चलते विखण्डित हो गयी तो साम्यवाद एक राजनीतिक व्यवस्था के प्रयोग के रूप में बिखर गया। परिणामस्वरूप ऐसा निष्कर्ष निकाला जाने लगा कि 'विचारधाराओं के मध्य ऐतिहासिक संघर्ष में उदारवाद ने निर्णायक विजय हासिल कर ली है।'

सोवियत संघ के विखण्डन ने जहाँ एक ओर एक महाशक्ति के रूप में उसकी प्रतिष्ठा को आहत किया वहीं एक ऐसी परिस्थिति को जन्म दिया जिसमें शीतयुद्ध की प्रासंगिकता समाप्त हो गयी परिणामस्वरूप दोनों ही महाशक्तियों ने शीतयुद्ध की समाप्ति की औपचारिक घोषणा कर दी। जाहिर है कि लगभग पचास वर्षों तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने वाली इस व्यवस्था की समाप्ति के पश्चात् एक नयी विश्व व्यवस्था का अभ्युदय हुआ। इस विश्व व्यवस्था की पहचान एक नयी विश्व व्यवस्था के रूप में की जाती है। इस इकाई का उद्देश्य इस नयी विश्व व्यवस्था के विविध आयामों को समझना है।

13.2 शीत युद्धोत्तर विश्व व्यवस्था

द्वितीय विश्व युद्ध से प्रारम्भ होने वाला शीतयुद्ध बीसवीं सदी के आठवें दशक में तनाव शैथिल्य के मार्ग पर प्रशस्त होता दिखाई पड़ रहा था परन्तु 1979 में अफगानिस्तान में सोवियंत संघ के हस्तक्षेप के साथ ही शीत युद्ध एक नवीन शीत युद्ध जिसे कभी-कभी द्वितीय शीत युद्ध भी कहा जाता है, में परिणत हो गया। द्वितीय शीत युद्ध की कालावधि एक दशक की रही। इस दौरान, पूर्वी यूरोप सहित सोवियत संघ में साम्यवादी व्यवस्थाएं एक के बाद एक ढहने लगीं। सोवियत संघ के विखंडन को इस प्रक्रिया का निर्णायक चरण कहा जा सकता है। इस विखंडन के परिणामस्वरूप पूर्व सोवियत संघ के गणराज्य स्वतन्त्र सम्प्रभु राज्यों के रूप में जन्में तथा उन्होंने साम्यवादी व्यवस्था का त्यागकर उदार प्रजातान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्थाओं को अपनाया। स्वयं पूर्व सोवियत संघ के उत्तराधिकारी रूस ने भी साम्यवादी व्यवस्था को अलविदा कर दिया। सोवियत साम्राज्य का विखंडन तत्कालीन सोवियत संघ के रूप में एक महाशक्ति का पराभव था और इसके उत्तराधिकारी रूस गणराज्य के पास तत्काल वह सामर्थ्य नहीं थी जो इसे अन्य महाशक्ति संयुक्त राज्य अमेरिका के समकक्ष एक महाशक्ति के रूप में खड़ा कर सकती थी। साम्यवादी जगत का ऐसा पराभव विचारधारा के आधार पर विभक्त द्विध्रुवीय विश्व व्यवस्था के अस्तित्व को नकार रहा था और क्योंकि संयुक्त राज्य अमेरिका अपने महाशक्ति रूपी स्वरूप को बरकरार रखे था अतः विश्व पटल पर मात्र एक ही महाशक्ति बची रही। ऐसे में इस विश्व व्यवस्था को एक ध्रुवीय विश्व व्यवस्था कहा जाने लगा। गौरतलब है कि सोवियत संघ के विखंडन के साथ ही साथ साम्यवादी सैनिक गुट भी अस्तित्वहीन हो गये। अतः सैन्य गुटों की शीत युद्ध कालीन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति भी समाप्त हो गई।

संयुक्त राज्य अमेरिका अब निर्विवाद एक मात्र महाशक्ति था। विश्व में एक सैनिक ताकत के रूप में इसका कोई सानी नहीं था। संयुक्त राज्य अमेरिका शीत युद्ध काल में जो कुछ अर्जित नहीं कर पाया था, उसे अर्जित करने का अब उसके पास एक स्वर्णिम अवसर था। अमेरिकी नेतृत्व ने इस यथार्थ को जानते हुए एक अमेरिकी वर्चस्व वाली विश्व व्यवस्था को स्थापित करने के प्रयास प्रारम्भ कर दिये। अमेरिका के ऐसे प्रयास न सिर्फ उसके अपने प्रभाव क्षेत्र को विश्वव्यापी स्तर पर प्रसारित करने के थे बल्कि वह अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों को भी अपने वर्चस्व के अधीनस्थ करने हेतु प्रयासरत हो गया।

1970 के दशक में ऐसा प्रतीत नहीं होता था कि निकट भविष्य में शीत युद्ध की समाप्ति हो जायेगी भले ही महाशक्तियों के मध्य तनावों में शिथिलता के प्रयास भी प्रगति पर थे। इस दशक में होने वाली कुछ घटनाओं को अमेरिका द्वारा सोवियत संघ की कूटनीतिक विजय के रूप में देखा गया, परिणामस्वरूप अमेरिकी नीति निर्माता कुछ ऐसे प्रयासों में संलग्न हो गये जिनके माध्यम से वे विश्व के राज्यों को अपनी ओर आकर्षित कर सकते थे। जिमी कार्टर के राष्ट्रपति काल में मानव अधिकारों का विषय इसी उद्देश्य से प्रचारित व प्रसारित किया गया। अगले दशक के आते-आते महाशक्तियाँ नव शीत युद्ध के दौर में प्रवेश कर गई। शीतयुद्ध की यह प्रतिस्पर्द्धा पूर्ववर्ती शीतयुद्ध से इस रूप में भिन्न थी कि साम्यवदी प्रसार की बजाय सोवियत प्रसार को अवरुद्ध करना अमेरिका का प्रमुख मकसद था तथा इस प्रयास में चीन भी अमेरिका के साथ था। अन्तरिक्ष क्षेत्र में प्रतिस्पर्द्धा

इस शीतयुद्ध की एक अन्य विशेषता रही। मानव अधिकार के प्रश्न तथा प्रजातान्त्रिक व्यवस्थाओं को विश्वव्यापी क्षेत्र में प्रचारित करना अमेरिकी नीति के आधार बने, संयोग से साम्यवादी व्यवस्थाओं में आन्तरिक असन्तोष की ज्वालाएँ तेज होने लगी थी और परिणामस्वरूप पूर्वी यूरोप में साम्यवादी व्यवस्थाओं के ढ़हने की प्रक्रिया आरम्भ हो चुकी थी, सोवियत राष्ट्रपति गोर्वाचोव की ग्लास्तनोस्त्र तथा परिस्त्रोयिका की नीतियाँ अन्ततः सोवियत संघ के विखंडन का कारण बनीं दोनों जर्मनी एकीकृत हो गए, बर्लिन की दीवार ढह गई यह सब बिना प्रत्यक्ष अमेरिकी हस्तक्षेप के ही हो गया। अमेरिका द्वारा इसे विचारधाराओं के मध्य संघर्ष में उदारवादी विचारधारा की विजय के रूप में पढ़ना प्रारम्भ कर दिया। सोवियत संघ के विखंडन का स्पष्ट अर्थ सोवियत महाशक्ति का पराभव था अमेरिका इससे हर्षित था और वह एक भविष्य की विश्व व्यवस्था के सपने संजोने लगा था, एक ऐसी विश्व व्यवस्था जो अमेरिकी नेतृत्व की विश्व व्यवस्था होगी जहाँ विश्व की राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था का संचालन अमेरिका की इच्छानुसार किया जायेगा तथा अमेरिकी एजेंडा सभी को मान्य होगा।

साम्यवादी व्यवस्थाओं के पतन के साथ ही इन व्यवस्थाओं द्वारा बहुदलीय उदार लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं को अपनाना प्रारम्भ कर दिया। आर्थिक क्षेत्र में उदारीकरण का मन्त्र जो पूंजीवादी बाजारी अर्थव्यवस्था का समर्थन करता था इन व्यवस्थाओं को आकर्षित करने लगा। यह बात भी गौर तलब है कि चीन में साम्यवादी व्यवस्था यथावत बनी रही पर इसके बावजूद चीनी नेतृत्व एक दशक पूर्व से ही बाजार के महत्त्व को समझ चुका था तथा आर्थिक उदारीकरण के मार्ग में अपने कदम रख चुका था, उदारीकरण का आशय, सरकार की शक्ति के ऊपर आन्तरिक तथा बाह्य प्रतिबन्धों को लागू करना तथा निजी क्षेत्र तथा बाजार की ओर रुझान से है। ध्यान रहे कि बाजार का आशय उस व्यवस्था से होता है जिसका निर्धारण मांग तथा आपूर्ति के व्यापारिक आदान-प्रदान द्वारा किया जाता है। बाजारीकरण बाजार सम्बन्धों के विस्तार का नाम है और यह अर्थव्यवस्था तथा संभवतः समाज के आर-पार व्यापारिक आदान-प्रदान तथा भौतिक स्व हितों पर आधारित होता है।

शीत युद्ध की समाप्ति के साथ उदारीकरण तथा बाजारीकरण का मार्ग विश्वव्यापी हो गया, गौरतलब है कि संचार क्रान्ति अब अपने शीर्ष पर पहुँच चुकी थी अतः वैश्वीकरण का बिगुल बज गया, वैश्वीकरण का सामान्य अर्थ अन्तः सम्बन्धों के उस जटिल ताने-बाने से होता है जिसके द्वारा जीवन का संगठन ऐसे निर्णयों अथवा घटनाओं द्वारा निर्धारित व प्रभावित होता है जो दूर स्थित क्षेत्रों में घटित होती है। निश्चित तौर पर शीतयुद्ध की समाप्ति ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक मंच पर ऐसी परिस्थितियों को उत्पन्न कर दिया जहाँ राजनीतिक प्रश्न तत्काल गौण दिखने लगे तथा आर्थिक तत्व तथा अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का नियमन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हो गये। परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को नये सिरे से संचालित किये जाने का विचार जन्मा और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक नये संगठन के रूप में विश्व व्यापार संगठन (WORLD TRADE ORGANIZATION) का जन्म हुआ।

13.3 वैश्वीकरण अथवा वैश्विक व्यवस्था (GLOBALIZATION OR GLOBAL ORDER)

शीतयुद्ध की समाप्ति पर द्वितीय विश्व युद्ध से चली आ रही व्यवस्था के स्थान पर एक ऐसी व्यवस्था ने जन्म लिया जिसे विकास के एक नये चरण के रूप में देखा जा सकता है, यह एक नया वैश्विक परिदृश्य था जिसमें प्रत्येक राष्ट्र चाहे वह बड़ा हो या छोटा अपने लिए स्थान की तलाश कर रहा था और इसे नई वैश्विक व्यवस्था या वैश्वीकरण के नाम से जाना जाता है।

वैश्वीकरण का अर्थ : वैश्विक का शाब्दिक अर्थ विश्व का होना है अर्थात् इसका सम्बन्ध पृथ्वी रूपी ग्रहपिंड (Planet) के मानव समुदाय के प्राकृतिक वास से हैं। वैश्वीकरण पर चली बहसों में इसे विविध अर्थों में प्रयोग किया गया है। प्रथमतः कुछ विद्वान इसकी परिभाषा राष्ट्रीय स्तर से परे सामाजिक जीवन के वर्णन के रूप में देखते हैं और मानते हैं कि यह सामाजिक जीवन

के सम्बन्धों का विश्वव्यापी विस्तारण है। गिड्डेन्स के मत से 'सामाजिक सम्बन्धों का विश्वव्यापी विस्तारीकरण दूरस्थ स्थानों को इस तरह जोड़ता है कि स्थानीय घटनाऐं कई-कई मीलों दूर घटने वाली घटनाओं से प्रभावित व निर्धारित होती है। वास्तव में सामाजिक सम्बन्धों का वैश्विक गुण अपने आप में लोगों के आपसी सम्बन्धों तथा उनके अपने भौतिक पर्यावरण से समुच्यबोधक परिवर्तनों का परिणाम होता है।' मार्टिन शॉ का अभिमत है कि ''समाज का वैश्वीकरण इसलिए नहीं हो गया है कि लोग वैश्विक दृष्टि से सोच विचार या कार्य करने लगे हैं बल्कि इसलिए कि अपने लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु (जिनमें लाभ, शक्ति व संचार शामिल हैं) उनमें विश्वव्यापी जुड़ाव विकसित हो गया है।''

द्वितीयतः कुछ विद्वान वैश्वीकरण को पर्यावरण के सन्दर्भ में देखते हैं। वे मानते हैं कि मानव जाति के भौतिक परिवेश के संरक्षण के बारे में वैश्विक जागरूकता बढ़ी है। इसी क्रम में कुछ लोग प्रकृति पर बहुत अधिक जोर देते हैं तथा मानवीय गतिविधियों को प्रकृति के संरक्षण के लिए एक चेतावनी के रूप में भी देखते हैं। इस नजरिये की आलोचना यह कहकर की जाती हैं कि इससे मानव समाज को भौतिक पर्यावरण के अधीनस्थ कर दिया गया है।

वैश्वीकरण के बारे में एक सोच यह भी है कि यह एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है जिसने सामाजिक सम्बन्धों तथा मामलों के संगठनों का इस रूप में रूपान्तरण कर दिया है कि इसके परिणामस्वरूप अन्ततः क्रियाओं तथा शक्ति प्रयोग के अन्तर महाद्वीपीय तथा अन्तर्क्षेत्रीय ताने-बाने की उत्पत्ति हुई है। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि विगत कुछ वर्षों में सामाजिक सम्बन्धों की सम्पूर्णता के बारे में जागरुकता में वृद्धि हुई है, और ये सामाजिक सम्बन्ध तब वैश्विक प्रकृति को धारण कर लेते हैं जब विश्वव्यापी मानव समाज के ढाँचे में क्रमबद्ध तथा महत्त्वपूर्ण रूप में इनकी सूचना के बारे में सामूहिक जागरुकता में वृद्धि होती है। जाहिर है कि वैश्विक सम्बन्धों के विकास के साथ-साथ मानवीय सम्बन्धों की विश्वव्यापी संरचना की सामान्य सूझ-बूझ अन्य क्षेत्रीय या आंशिक सूझ-बूझों से ऊपर हो जाती है। यद्यपि वैश्वीकरण के बारे में दी गई इन अवधारणों से कतिपय भ्रान्तियों ने जन्म लिया है और आलोचकों द्वारा इनकी ओर इशारा भी किया गया है। उदाहरण के लिए यह कहा जाता है कि तकनीकी, बाजारी सम्बन्ध तथा संस्कृति के मापक रूपों को इतना शक्तिशाली मान लिया गया है कि अन्य राजनीतिक कर्ता हाशिये पर चले गये हैं तथा राज्य राष्ट्रों की आपसी सीमाओं का कोई महत्त्व नहीं रह गया है। वस्तुतः यह मान लेना बहुत बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं लगता कि आर्थिक व सांस्कृतिक वैश्वीकरण राष्ट्रीय राज्य के महत्त्व को कम कर देगा। यह भी आपत्ति उठाई गई है कि वैश्विक तथा राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय श्रेणियाँ एक दूसरे की विरोधी हैं तथा राष्ट्रीय आर्थिक तथा सांस्कृतिक संगठनों की भूमिका का ह्रास हुआ है या समाप्त प्राय हो गई है।

वैश्वीकरण को जिस रूप में भी देखा जाय वास्तविकता तो यह है कि यह निवर्तमान विश्व व्यवस्था का यथार्थ बन चुका है इसीलिए वैश्वीकरण के विविध आयामों पर अनेकों तरह से बहसें होने लगी हैं, ये सारी बहसें अन्तर्राष्ट्रीय व राष्ट्रीय दोनों ही स्तरों पर जारी हैं तथा इन बहसों में उठाये जाने वाले मुद्दे भी राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों से सरोकार रखते हैं बहुत से मुद्दों ने तो अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सामाजिक आन्दोलनों का स्वरूप धारण कर लिया है।

नई विश्व व्यवस्था को समझने के लिए यह आवश्यक है कि इससे पूर्ववर्ती अर्थात् द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विकसित हुई विश्व व्यवस्था की संस्थाओं पर एक दृष्टि डाल ली जाय विश्व व्यवस्था के नियमन हेतु द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के रूप में संयुक्त राष्ट्र संघ को स्थापित किया गया। यह स्वतन्त्र सम्प्रभु राष्ट्रों की एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के रूप में बनाया गया संगठन है तथा राज्यों की समानता के सिद्धान्त पर आधारित हैं, परन्तु इस संगठन में 5 प्रमुख राज्यों को विशेष स्थिति प्राप्त कराई गई जब इन्हें संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद के स्थाई सदस्यों का दर्जा देकर निषेधाधिकार (VETO) शक्ति से युक्त किया गया, ये राष्ट्र हैं संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत संघ (अब रूस), ब्रिटेन, फ्रांस तथा चीन। संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्य संयुक्त राष्ट्र चार्टर की प्रस्तावना से अभिव्यक्त होते हैं, साथ ही संयुक्त राष्ट्र चार्टर की धारा 1 में इनकी सम्यक व्यवस्था कर दी गई है ये उद्देश्य हैं :

(i) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थापना

(ii) मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों में वृद्धि

(iii) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग तथा

(iv) सामंजस्य

चार्टर की धारा 2 में संयुक्त राष्ट्र के मौलिक सिद्धान्तों को दर्शाया गया है जिन्हें बिन्दुवार निम्नलिखित क्रम में देखा जा सकता है :

(i) सार्वभौमिक समानता

(ii) सद्भावना

(iii) विवादों का शान्तिपूर्ण समाधान

(iv) किसी धमकी अथवा बल प्रयोग का अभाव

(v) सहायता

(vi) गैर सदस्य राज्य यथासंभव शान्ति व सुरक्षा को बनाये रखने हेतु इन्हीं सिद्धान्तों का पालन करेंगे

(vii) घरेलू क्षेत्राधिकार के मामलों में संयुक्त राष्ट्र का अहस्तक्षेप

अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग स्थापित करने के लिए संयुक्त राष्ट्र के एक प्रमुख अंग के रूप में आर्थिक व सामाजिक परिषद की स्थापना की गई है इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु अनेक विशिष्ट अभिकरण भी स्थापित किये गये हैं। जुलाई 1944 में ब्रेटन बुड्स सम्मेलन द्वारा आर्थिक क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में वृद्धि करने तथा राजनीतिक मनमुटाव के आर्थिक कारणों का निदान करने के उद्देश्य से दो संस्थाओं क्रमशः अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (I.M.F.) तथा विश्व बैंक (अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निमाण तथा विकास बैंक की स्थापना की गई तथा उन्होंने क्रमशः दिसम्बर 1945 तथा, जून 1946 से कार्य करना प्रारम्भ किया। दोनों ही संस्थाओं के मुख्यालय वाशिंगटन में स्थित हैं तथा इनकी कार्यप्रणाली पर अमेरिका का वर्चस्व स्थापित रहा। शीतयुद्ध काल में राज्यों के मध्य व्यापार व शुल्क का नियमन करने हेतु GATT नाम की संस्था थी। शीतयुद्धोत्तर इस संस्था के स्थान पर विश्व व्यापार संगठन (W.T.O.) का आविर्भाव हो गया है। WTO पर भले ही पाश्चात्य देशों का प्रभुत्व हो तथा इसको मूलतः पाश्चात्य देशों की अर्थव्यवस्थाओं के आन्तरिक मतभेदों को सुलझाने का मंच माना जाय पर यह बात अब सार्वभौम रूप में स्वीकार की जाती है कि यह संस्था विश्व व्यापार के नियमन की केन्द्रीय संस्था है। वैश्वीकरण भले ही तकनीकी, संचार तथा बाजार द्वारा चालित हो पर यह बिना वैश्विक राज्य संस्था के सांचे के संभव नहीं है और ऐसा सांचा विश्व व्यापार संगठन प्रदान करता है।

शीत युद्ध काल में संयुक्त राष्ट्र महाशक्तियों के मध्य गुटीय राजनीति के चलते उन सारी अपेक्षाओं को पूरा करने में सफल नहीं हुआ जो इसके निर्माण के समय या इसके बाद इसमें शामिल होने वाले विशेषकर नवोदित राज्यों ने इससे की थीं। पर संयुक्त राष्ट्र भूमिका विहीन रहा ऐसा नहीं कहा जा सकता राजनीतिक क्षेत्र में भले ही इसे कम सफलता मिली हो पर गैर राजनीतिक क्षेत्र में इसके बहुत ही उपलब्धियाँ हासिल की हैं। कभी भी ऐसा नहीं लगा कि यह संगठन विखंडित होकर विलुप्त हो जायेगा या फिर इसकी प्रासंगिकता संदिग्ध है। राज्यों, चाहे वे बड़ी शक्तियाँ हों या अन्य राज्य, द्वारा अपने कृत्यों के औचित्य को साबित करने हेतु संयुक्त राष्ट्र की बार-बार दुहाई अवश्य दी गई। शीत युद्धोत्तर काल के प्रथम दशक में एक ध्रुवीय विश्व व्यवस्था के विकसित होने से संयुक्त राष्ट्र के मंच का इस्तेमाल करते हुए अवश्य अमेरिका इसके चार्टर की भावनाओं के साथ खिलवाड़ करता रहा कदाचित कभी-कभी संयुक्त राष्ट्र पंगु सा होता हुआ भी दिखाई दिया।

शीत युद्धोत्तर विश्व व्यवस्था का प्रथम दशक समाप्त होते-होते विश्व ने आतंक की एक ऐसी घटना को देखा जिसकी कल्पना शायद ही किसी ने कभी की हो और यह घटना थी 11 सितम्बर 2001 को विश्व व्यापार केन्द्र (WORLD TRADE CENTRE) की दो इमारतों पर हवाई जहाज टकराकर इन्हें तहस-नहस कर देना, यह अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद का एक नया रूप था और इसका निशाना अमेरिका बना था इसी दिन पैंटागन भी निशाने पर था, यह कोई पहली आतंकवादी घटना नहीं थी पर पहली बार अमेरिका की धरती पर इस घटना को अंजाम दिया गया था, यह अमेरिकी शक्ति को चुनौती थी, इससे पूर्व आतंकवाद विश्वभर में अपने पांव पसार चुका था पर अमेरिका द्वारा इसे कभी गंभीरता से नहीं लिया गया था, पर अब अमेरिका ने खुलकर आतंकवाद के खिलाफ जंग की घोषणा कर दी और इसका पहला निशाना बना अफगानिस्तान व उसकी तालिबान सरकार, ओसामा बिन लादेन जिसे उक्त घटना का मास्टर माइंड करार दिया गया, अफगानिस्तान में तालिबान शासन की स्थापना तथा कार्यपद्धति में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता था, उसका संगठन **अल कायदा** एक अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवादी संगठन के रूप में कई आतंकवादी घटनाओं को विश्व भर में अंजाम दे चुका था, अतः अमेरिका की आतंक के खिलाफ जंग का पहला उद्देश्य ओसामा को जिन्दा या मुर्दा पकड़ना था, ओसामा तो आज तक किसी के हाथ नहीं लग पाया है पर अफगानिस्तान में तालिबान शासन की समाप्ति अवश्य हुई और उसके स्थान पर एक जनतान्त्रिक शासन की स्थापना की जा चुकी है। इसी क्रम में अमेरिका के निशाने पर इराक आ गया वस्तुतः इराक व अफगानिस्तान के मामले थोड़ा-थोड़ा भिन्न अवश्य हैं पर इस अर्थ में समान हैं कि अमेरिकी निशाने पर दो व्यक्ति क्रमशः ओसामा तथा सद्दाम हुसैन रहे, 2003 में इराक पर अमेरिका ने आक्रमण किया तथा इसका परिणाम सद्दाम के तानाशाही शासन का पतन और अन्त में सद्दाम का पकड़ा जाना इराक तथा सद्दाम के विरुद्ध आरोप यह लगाया गया कि उसने जन संहारक अस्त्रों (Weapons of Mass Destruction) का भंडार संजोया है।

निश्चित रूप से 21वीं शताब्दी का आगाज अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद की भयावहता के नये चेहरे से हुआ और इसके विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय जंग की घोषणा भी एकमात्र महाशक्ति ने की पर आतंकवाद पर विजय अभी तक हासिल नहीं की जा सकी है हकीकत तो यह है कि आतंकवादी गतिविधियों में और तेजी आ गई है तथा इसके निशाने पर पूरी दुनिया हैं, यहां पर हमारा उद्देश्य आतंकवाद की विवेचना करना नहीं है। अतः इसे प्रसंगवश इसलिए जानना जरूरी है कि शीतयुद्धोत्तर विश्व व्यवस्था का यह एक महत्त्वपूर्ण आयाम है तथा दुनिया के सभी राष्ट्रों ने इसका सामना करने हेतु अपनी सहमति जतायी है क्योंकि इसे मानवता के विरुद्ध एक अपराध के रूप में देखा गया है, एक नई विश्व व्यवस्था के राजनीतिक तथा आर्थिक स्वरूप के बारे में राज्यों के मध्य हितों की जो भी टकराहट हो अथवा इसके भावी स्वरूप के विषय में जो भी दृष्टिकोण अपनाया जाय, आतंकवाद के भय से उस व्यवस्था को अवश्य मुक्त रखना होगा, पर यह कार्य बहुत आसान तो नहीं है पर असंभव भी नहीं है, इसके लिए प्रयास राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर करने होंगे, राष्ट्रीय स्तर पर उन परिस्थितियों पर गम्भीरता से विचार करना होगा जो ऐसी प्रवृत्तियों के जन्म का कारण बनती हैं राष्ट्रीय सरकारों को प्रजातान्त्रिक पद्धति तथा संवाद की प्रक्रियाओं को अपनाना होगा, परस्पर सद्भाव तथा विश्वास की राजनीतिक व प्रशासनिक इच्छा शक्ति का परिचय देना होगा, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सहयोग सहिष्णुता तथा मानवता की भावना को अपनाना होगा, राष्ट्रों को अपने संकीर्ण राष्ट्रीय या अन्य हितों से ऊपर उठकर न्याय, समानता तथा भाईचारे की भावना पर आस्था को प्रदर्शित करना होगा।

शीत युद्धोत्तर विश्व व्यवस्था अभी अपने संक्रमण काल से गुजर रही है। निश्चित रूप से इस विश्व व्यवस्था के प्रारम्भिक दौर में संयुक्त राज्य अमेरिका के एकमात्र महाशक्ति बचे रहने के कारण उसके द्वारा यह प्रयास अवश्य किये गये हैं कि विश्व राजनीति के आर्थिक तथा राजनीतिक

प्रबन्धन का निमन्त्रण उसी के हाथ में रहे। खाड़ी युद्ध (1991) से प्रारम्भ होकर ईराक पर आक्रमण 2003 तक अमेरिका विश्व जनमत तथा संयुक्त राष्ट्र संघ की अनदेखी करते हुए अपनी इच्छा को सर्वत्र थोपने में कामयाब अवश्य हुआ पर अमेरिका के ये प्रयास सर्वत्र सराहे गये हों ऐसा नहीं है, ईराक युद्ध के बाद के वर्षों को घटनाक्रमों पर एक दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक ओर जहाँ अपनी इच्छानुसार चाही व्यवस्था को ईराक में स्थापित कर पाने में असफल साबित हुआ है वहीं दूसरी ओर अमेरिकी प्रशासन को भीतर तथा बाहर दोनों ही ओर से आलोचनाओं का शिकार अवश्य होना पड़ा है। प्रायः ऐसी अटकलें लगायी जाती हैं कि कहीं ईराक अमेरिका के लिए दूसरा वियतनाम तो नहीं बनता जा रहा है?

अमेरिकी वर्चस्व की एक ध्रुवी व्यवस्था को नकारने के प्रयास भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक मंच पर देखे जा सकते हैं भले ही इनमें से कोई प्रयास अभी तक फलित नहीं हुआ है किन्तु रूस, चीन, फ्रांस या यूरोपीय यूनियन, जापान जर्मनी और यहाँ तक कि बहुत से विकासशील राष्ट्रों अथवा उनके गुट निरपेक्ष आन्दोलन के मंच से ऐसे विचार बार-बार अभिव्यक्त किये जाते रहे हैं कि विश्व व्यवस्था को बहुकेन्द्रित (बहुध्रुवीय) होना चाहिए तभी विश्व शान्ति और व्यवस्था संभव हो सकेगी।

शीत युद्धोत्तर विश्व व्यवस्था को मॉर्टन कॉपलान द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के व्यवस्था उपागम हेतु सुझाये गये किसी प्रतिमान (मॉडल) के रूप में भी नहीं देखा जा सकता। यह व्यवस्था तो ऐतिहासिक घटना क्रम में स्वतः ही उभर गई पर इसके दीर्घकालीन परिणामों को अभी देखा जाना है, निवर्तमान सन्दर्भों में इसके विश्लेषण से किन्हीं परिकलात्मक निष्कर्षों पर ही पहुँचा जा सकता है, और ये कल्पनाएँ, कितनी वास्तविक होगी यह निश्चित तौर पर नहीं कहा जा सकता।

इस सन्दर्भ में दो पुस्तकों की चर्चा की जा सकती है। पहला हंटिग्टन की 'क्लैश ऑफ सिविलाईजेशन' और दूसरा फूकोयामा की 'ऐड ऑफ हिस्ट्री', इन दोनों ही पुस्तकों में जिन परिकल्पनाओं को रचा गया है वे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के यथार्थ से मेल खाती हैं यह आवश्यक नहीं है।

13.4 वैश्वीकरण के युग में राष्ट्र राज्य

नई विश्व व्यवस्था अथवा शीत युद्धोत्तर विश्व व्यवस्था के दौर में अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य में होने वाली हलचलों के चलते दो प्रश्नों की अनदेखी नहीं की जा सकती, इनमें से पहला प्रश्न राष्ट्र राज्य का है तथा दूसरा संयुक्त राष्ट्र का, संयोग से दोनों का ही भविष्य क्या होगा? इस प्रश्न ने बुद्धीजीवियों का ध्यान आकर्षित किया, आधुनिक समय में राज्य को कानून तथा सत्ता की औचित्यता का श्रोत माना जाता है, साथ ही राज्य का बाध्यकारी शक्ति पर एकाधिकार होता है और यह जनता की सुरक्षा लोगों न्याय की व्यवस्था, साम्य व उत्तरदायित्व का भी श्रोत होता है, इन्हीं के माध्यम से राज्य को एक महत्त्वपूर्ण संस्था का स्थान प्राप्त है। आधुनिक राज्य की अवधारणा का विकास एक दार्शनिक विचार तथा राजनीतिक निर्भरता के रूप में हुआ ताकि यह अनिश्चितता तथा अराजकता की परिस्थितियों के स्थान पर शान्ति सुरक्षा व व्यवस्था का निर्माण कर सकें, मध्य युग की समाप्ति के बाद राज्य की अवधारणा में सम्प्रभुता का विचार जुड़ गया और बाद में राष्ट्रीय राज्य की अवधारणा विकसित हुई, मानवीय प्रबन्ध हेतु राज्य की उपयोगिता के कारण ही राज्य संस्थागत हो गया और विश्व राजनीति के सन्दर्भ में एक महत्त्वपूर्ण पात्र भी ज्ञात हो यहाँ पर भी राज्य की भूमिका शान्ति व सुरक्षा हेतु ही प्रमुख रही पर अब एक विश्वव्यापी स्तर पर। वैश्वीकरण, उदारीकरण और मुक्त बाजार की परिवर्तित व्यवस्था में यह कहा जाने लगा कि राज्य की संप्रभुता या विचार अप्रासांगिक हो गया है इसके समर्थन में तर्क यही दिये गये कि यह दौर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों (M.N.C.) या पार राष्ट्रीय निगम (T.N.C.) का है, जो विश्वव्यापी क्षेत्र में उत्पाद प्रक्रिया में लगे हैं, साथही विश्व व्यापार संगठन (W.T.O.) जैसी संस्था अन्तर्राष्ट्रीय अर्थतन्त्र का निगमन करती

है। परन्तु ऐसा तर्क राज्य के महत्त्व को नहीं कर सकता क्योंकि बहुराष्ट्रीय निगमों को ऐसी सुविधाएं किसी राज्य क्षेत्र में उस राज्य द्वारा ही प्रदान की जाती है। साथ ही विश्व व्यापार संगठन राज्यों का संगठन है न कि बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का संगठन। विश्व व्यापार संगठन अपने विधान से राज्यों को बांधता है तो राज्यों को कुछ अधिकार भी प्रदान करता है और सबसे बड़ी बात राज्य का यह अधिकार कि वह कभी भी विश्व व्यापार संगठन से स्वयं को पृथक् कर ले, सदैव राज्य के पास बना रहता है। यह बात बिल्कुल अलग है कि बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की आर्थिक सामर्थ्य बहुत से विकासशील राष्ट्रों से बड़ी होती है अथवा उन्हें विकसित राष्ट्रों से संरक्षण प्राप्त होता है अथवा इन दोनों ही कारणों से वे विकासशील राष्ट्रों के शासकीय अभिजन को प्रभावित करने में सफल होते हैं तथा इनके शासक वर्ग की सहानुभूति अपने पक्ष में प्राप्त करने में कामयाब होते हैं। ये सारे विषय अत्यधिक विषयपरक हैं, राष्ट्र और राष्ट्रीयता का विचार, राष्ट्र व देशभक्ति से ओत-प्रोत राष्ट्रीय नेतृत्व व एक सतर्क जनमत सदैव ही किसी राष्ट्र को आसानी से समर्पण की अनुमति नहीं दे सकता। यही कारण है कि प्रायः विश्व व्यापार संगठन के तत्वावधान में आयोजित व्यापार वार्ताओं में विकाशील राष्ट्र बहुत सतर्क रहते हैं। प्रायः वे अपने समूह बना लेते हैं ताकि उनके हितों के प्रतिकूल कोई समझौते न हो जाँय इसीलिए वार्ताओं के चक्र अक्सर असफल हो जाते हैं। यह बात विकसित राष्ट्रों के सम्बन्ध में भी सत्य है, जैसा कि 2006 में G-8 (दुनिया के 8 उन्नत औद्योगिक राष्ट्रों) के सम्मेलन के दौरान देखने को मिला, इस सम्मेलन में रूस के तेवर यह दर्शाते रहे कि वह अब अपने आप को उस आर्थिक संकट के दौर से उबार चुका है जो कहीं न कहीं पूर्ववर्ती सोवियत संघ के विखंडन का एक कारण बना और उसके पश्चात् पूर्ववर्ती सोवियत साम्राज्य के उत्तराधिकारी के रूप में रूस को शीतयुद्ध में पराजित राज्य के रूप में देखने की अमेरिकी तथा अन्य यूरोपीय राज्यों की सोच को अब बदलना होगा। रूस के पास ऊर्जा के एक संसाधन प्राकृतिक गैस की प्रचुरता है जिसका प्रयोग वह अपने हितों की पूर्ति के एक महत्त्वपूर्ण साधन के रूप में सौदेबाजी के लिए करेगा, रूस ने अपनी गैस कम्पनी गाजप्रोम (Gazprom) के एकाधिकार को खत्म कर बाहरी कम्पनियों के प्रवेश की अनुमति को अस्वीकार कर दिया।

13.5 सारांश

अन्तिम विश्लेषण में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शीत युद्धोत्तर विश्व व्यवस्था अपनी पूर्ववर्ती विश्व व्यवस्था से एक भिन्न व्यवस्था है पर अभी तक इस व्यवस्था में कोई स्थिरता नहीं दिखाई पड़ती। यह एक परिवर्तन अथवा बहाव के दौर से गुजर रही है। इस व्यवस्था को नई विश्व व्यवस्था के नाम से भी पुकारा जाने लगा है पर इसका नयापन ऐतिहासिक घटनाक्रम में पूर्ववर्ती व्यवस्था में आने वाले बदलाव के कारण है। निश्चित रूप से यह कह पाना मुश्किल है कि यदि सोवियत संघ का विखंडन न हुआ होता अथवा पूर्ववर्ती साम्यवादी व्यवस्था में अपने उसी स्वरूप में ही बनी रहती तो क्या वे उदारीकरण या बाजार की अर्थव्यवस्था को नहीं अपनाती? आखिर चीन ने साम्यवाद का त्याग किये बिना ही आर्थिक उदारीकरण के मार्ग में प्रवेश नहीं किया क्या? बिना सोवियत विखंडन के भी क्या शीत युद्ध समाप्त नहीं हो सकता था? अथवा इस बात की क्या गारण्टी है कि भविष्य में हम शीत युद्ध को किसी रूप में नहीं देखा' पावेंगे? यदि इस बात को सत्य मान लिया जाय कि 'इतिहास की पुनरावृत्ति होती है' तो इस संभावना से भी इंकार नहीं किया जा सकता, कि भविष्य में शीतयुद्ध का कोई और स्वरूप किन्हीं पक्षकारों के मध्य उत्पन्न हो जाय। यों भी विश्व व्यवस्था के बहुध्रुवीय केन्द्रों की संभावनाएं विश्लेषकों के द्वारा खोजी जाने लगी हैं, यूरोपियन यूनियन, चीन, रूस, जापान या एकीकृत जर्मनी सभी स्वयं में ऐसी सामर्थ्य रखते हैं अथवा इनके मध्य कोई आपसी तालमेल यदि किसी ऐसी महत्त्वाकांक्षा से उत्पन्न हो जाय कि विश्व व्यवस्था के नियन्त्रण व नियमन का सूत्र उसके हाथ में हो। अन्यथा भी विगत दशकों में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में क्षेत्रीय संगठनों ने जिस रूप में अपनी पहचान स्थापित की है या फिर संयुक्त राष्ट्र को अधिक

प्रजातान्त्रिक बनाये रखने के विचार से उसमें संरचनात्मक सुधारों की जो मुहिम छिड़ चुकी है वह संयुक्त राष्ट्र को कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण रूप में विश्व व्यवस्था के नियमन के एक केन्द्र के रूप में स्थापित करने के उद्देश्य से ही प्रेरित है, ताकि इसे किसी एक राष्ट्र या राष्ट्र समूहों के हाथ की कठपुतली बनाये जाने की सम्भावनाओं का निषेध किया जा सके।

विश्व व्यवस्था के किसी भी स्वरूप का एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि इसका उद्देश्य क्या हो? बीसवीं सदी में अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के चलते अन्तर्राष्ट्रीय संगठन किसी विशेष उद्देश्य से ही अस्तित्व में आये। जाहिर है अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, सुरक्षा तक कल्याण इनमें प्रमुख थे। प्रजातन्त्र, मानव अधिकार, पर्यावरण संरक्षण, नारी सशक्तीकरण, तथा अन्य बहुत से सामाजिक आन्दोलन इन संगठनों तथा विभिन्न राज्यों से अपेक्षा करने लगे कि एक न्याय युक्त तथा समतामूलक सामाजिक व्यवस्था को स्थापित किये बिना मानव जाति के हितों की पूर्ति संभव नहीं है। अतः ऐसी ही विश्वव्यापी सोच विकसित करने की आवश्यकता है। तकनीकी के क्षेत्र में होने वाले क्रान्तिकारी परिवर्तनों का उपयोग इस दिशा में किया जाना चाहिए। वैश्वीकरण ने यदि पूरे विश्व को एक विशाल विश्व गांव का सपना दिखाया तो जिन चुनौतियों को इसने जन्म दिया वे अल्पविकसित राष्ट्रों के कष्टों में वृद्धि का कारण बने हैं। वैश्वीकरण जनित अर्थतन्त्र विश्व में समृद्धता तथा अभाव के मध्य दूरी को बढ़ाने में एक कारक बना है। राजनीतिक तथा आर्थिक दोनों ही दृष्टियों से यह आवश्यक हो जाता है कि किसी एक हिस्से की समृद्धि कहीं दूसरे के लिए अभाव का कारण तो नहीं बन रही, ऐसे प्रश्नों के निदान की व्यवस्था की जानी चाहिए। यहीं पर अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की सार्थकता उजागर होती हैं, पर इन संगठनों के पास पर्याप्त संसाधनों तथा दृढ़ इच्छा शक्ति का होना भी अपरिहार्य है। साथ ही राज्यों तथा राष्ट्रों को इन संगठनों में आस्था तथा विश्वास के साथ-ही-साथ इनसे सहयोग करने की मनोवृत्ति को भी दर्शाना अनिवार्य है। यह बात संयुक्त राष्ट्र के बारे में जितनी सत्य है उतनी ही सत्य विश्व व्यापार संगठन के बारे में भी है, एक ध्रुवीय विश्व, विश्व शान्ति, सुरक्षा तथा व्यवस्था हेतु उचित विकल्प नहीं हो सकता यह तो एक बहुध्रुवीय विश्व में ही संभव है।

13.6 सन्दर्भ पुस्तकें

1. एम0 डफील्ड : ग्लोबल गवर्नेन्स एण्ड न्यू वार्स।
2. आर0 गिलपिन : ग्लोबल पालिटिकल इकॉनामी।
3. डी0 हैल्ड तथा ए0 मक्यूमू : ग्लोबलाईजेशन/एण्टी ग्लोबलाईजेशन।
4. जे0 ए0 स्कोल्टे : ग्लोबलाइजेशन -ए क्रिटिकल इन्ट्रोडक्शन।
5. एम0 वाटर्स : ग्लोबलाईजेशन।
6. आर0 होल्टन : ग्लोबलाइजेशन एण्ड द नेशन स्टेट।
7. नोआम चोमस्की : वर्ल्ड ओर्डस, ओल्ड एण्ड न्यू।
8. फेन बूथ एण्ड टिम डन : वर्ल्ड्स इन कोलिसन।

13.7 सम्बन्धित प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. एक ध्रुवीय विश्व व्यवस्था का क्या अर्थ है?
2. शीत युद्ध की समाप्ति के कारण बताइये।
3. वैश्वीकरण क्या है?
4 आर्थिक उदारीकरण को समझाइये।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. शीत युद्धोत्तर विश्व व्यवस्था के विविध आयामों की विवेचना कीजिए।
2. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर वैश्वीकरण के प्रभावों की समीक्षा कीजिए।
3. वैश्वीकरण के दौर में राष्ट्रीय राज्य तथा संयुक्त राष्ट्र की प्रासंगिकता की समीक्षा कीजिए

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. "एंड ऑफ हिस्ट्री एंड द लास्ट मैन" नामक पुस्तक के लेखक हैं,

   (a) फूकोयामा (b) पाल कैनेडी (c) हेनरी किसींगर (d) हंटिग्टन

2. "दि क्लैश ऑफ सिविलाईजेशन" नामक पुस्तक के लेखक हैं :

   (a) मार्टन कापलान (b) जार्ज बुश (c) एस0पी0 हंटिग्टन (d) जार्ज कैनन

3. शीतयुद्ध की समाप्ति पर विश्व राजनीति का स्वरूप बना :

   (a) एकध्रुवीय (b) द्विध्रुवीय (c) बहुध्रुवीय (d) उपरोक्त कोई नहीं

4. विश्व व्यापार संगठन (W.T.O.) का पूर्ववर्ती संगठन है :

   (a) विश्व बैंक (b) गैट (GATT) (c) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष

   (d) उपरोक्त कोई नहीं।

13.8 प्रश्नोत्तर

1. (a)

2. (c),

3. (a)

4. (b)

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

MAPS-109
राजनीति विज्ञान
अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति

खण्ड

05

प्रमुख शक्तियों के वैदेशिक नीति एवं भारत

इकाई- 14 11

अमेरिकी विदेश नीति की सामान्य विशेषताएँ तथा वैश्विक में उसकी भूमिका

इकाई-15 **32**

ब्रिटेन एवं फ्रांस की विदेश नीतियों की सामान्य विशेषताएँ

इकाई-16 **62**

रूस एवं चीन की विदेश नीतियों को सामान्य विशेषताएँ

इकाई-17 **74**

भारत की विदेश नीतिः मुख्य निर्धारक तत्व तथा वैश्विक परिवेश में उसकी भूमिका

परामर्श-समिति

प्रो0 केदार नाथ सिंह यादव	कुलपति
डॉ0 हरीशचन्द्र जायसवाल	कार्यक्रम संयोजक
डॉ0 इति तिवारी	सहसंयोजक
श्री एम. एल. कनौजिया	कुलसचिव

विशेषज्ञ समिति (परिमार्जक)

1- प्रो0 एस. के. झा — पूर्व विभागाध्यक्ष, राजनीतिशास्त्र विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय

सम्पादक

प्रो0 एस. एम. सईद — अवकाश प्राप्त प्रोफेसर, लखनऊ विश्वविद्यालय

लेखक मंडल

1- प्रो0 नन्द लाल	प्रोफेसर काशी विद्यापीठ, काशी	–	3 इकाई
2- डॉ0 मनूका खन्ना	रीडर, लखनऊ विश्वविद्यालय,	–	3 इकाई
3- डॉ0 शशि शुक्ला	रीडर, लखनऊ विश्वविद्यालय	–	3 इकाई
4- प्रो0 बी. के. तिवारी	प्रोफेसर, लखनऊ विश्वविद्यालय	–	4 इकाई
5- डॉ0 कमल कुमार	रीडर, लखनऊ विश्वविद्यालय	–	4 इकाई

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, **प्रयागराज**

खण्ड-5

प्रमुख शक्तियों के वैदेशिक नीति एवं भारत

FOREIGN POLICIES OF MAJOR POWERS AND INDIA

इकाई-01

General Characteristic of U.S. Foreign Policy & eln rol in world affairs.

अमेरिकी विदेश नीति की सामान्य वशेषताएँ तथ वैश्विक परिवेश में उसकी भूमिका

इकाई-02

General Characteristic of Foreign Policies of U.K.& France. ब्रिटेन एवं फ्रांस की विदेश नीतियों की सामान्य विशेषताएँ

इकाई-03

General Characteristic of Foreign Policies of Russia & China.

रूस एवं चीन की विदेश नीतियों को समान्य वशिषताएँ

इकाई-04

India's Foreign Policy-main determinants & her role in world affairs.

भारत की विदेश नीति; मुख्य निर्धारक तत्व तथा वैश्विक परिवेश में उसकी भूमिका-

प्रस्तावना-

खण्ड 5 का परिचयः प्रमुख शक्तियों की विदेश नीति एवं भारत

वर्तमान समय में किसी भी देश के आन्तरिक एवं बाह्य घटनाक्रम को समझने हेतु अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का ज्ञान अनिवार्य है। इस दृष्टि से उस देश की विदेश नीति का विश्लेषण अति महत्वपूर्ण है। क्योंकि विदेश नीति का अध्ययन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का अस्तित्व व व्यावहारिक स्वरूप होने के साथ-साथ विभिन्न बिन्दुओं को जोड़ने वाली प्रक्रिया है। यह केवल भूत व वर्तमान से ही जुड़ी न रहकर भविष्य के नये प्रश्नो को भी जन्म देती है। अतः किसी भी घटनाक्रम को उचित एवं व्यापक परिप्रेक्ष्य में समझने हेतु उस देश की विदेश नीति का मूल्यांकन करना आवश्यक ही नहीं बल्कि अनिवार्य बन गया है। विदेश नीति का प्रचलन प्राचीन काल से चला आ रहा है। भारत जैसे प्राचीन देश के समक्ष आचार्य कौटिल्य [आचार्य कौटिल्य ने अपनी पुस्तक 'अर्थशास्त्र' में विदेश नीति तथा मंडल-सिद्धान्त के माध्यम से राजाओं की विजय की बात की है। देखिए Arthasastra, Chapter VI, 69.2] के आदर्शवाद तो थे ही, महान अशोक द्वारा प्रतिपादित बौद्ध-परंपराएँ भी थीं। जहाँ कौटिल्य का आदर्शवाद सर्वथा व्यावहारिक एवं युद्ध को विदेशनीति के अनिवार्य उपकरण मानने पर बल देता था, वहाँ बौद्ध-परम्पराएँ शांति स्वतंत्रता तथा विश्व के सभी राष्टों एवं लोगों की समानता पर आधृत सभी राज्यों के साथ सद्भाव-सम्बन्ध की स्थापना को प्रोत्साहित करती थीं।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति तथा विदेशनीति

विदेश नीति का अध्ययन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन से घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है किन्तु दोनों समानार्थक नहीं है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को विदेश नीतियों का पारस्परिक सम्बन्ध कहना उचित प्रतीत नहीं होता। सामान्यतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को विदेश नीतियों की अन्तःक्रिया से कहीं अधिक व्यापक समझा जाता है किन्तु इस तथ्य को अनेक विद्वानों ने चुनौतियां दी हैं। फैलिक्स ग्रास अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को राष्ट्र की विदेश नीतियों का अध्ययन बताते हैं। इसके विपरीत अनेक विद्वानों का यह मत है कि विदेश नीति से सम्बन्धित अनेक तथ्यों का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से कोई प्रत्यक्ष सम्बध नहीं होता है। किसी देश की विदेश नीति को समझने के लिए उस देश के ऐतिहासिक अनुभव, शासन व्यवस्था के स्वरूप नीति-निर्धारकों के व्यक्तित्व एवं चरित्र, उनके दृष्टिकोण और उनपर अवचेतना में काम कर रहे दबावों की जानकारी आवश्यक है। किन्तु इन सब तत्वों का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं होता। यह भी स्मरणीय है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति राष्ट्रों के मध्य शक्ति-स्पर्धा की द्योतक है तथा विदेश नीति इस स्पर्धा को संचलित करने का एक उपकरण मात्र है। वस्तुतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर घटित होने वाली राजनीतिक घटनाओं की समग्रता है, जबकि विदेश नीति एक राष्ट्र के अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भों में व्यवहार व आचरण का व्यवस्थित स्वरूप मात्रा है। संक्षेप में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक विस्तृत विषय है तथा विषय क्षेत्र की दृष्टि से विदेश नीति इसके अधीन है। इसलिए हेराल्ड स्प्राउड ने विदेश नीति को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की एक उपश्रेणी माना है।

विदेश नीतिः परिभाषा

किसी भी राज्य की विदेश नीति मुख्य रूप से कुछ सिद्धान्तों, हितों एवं उद्देश्यों का समूह होता है जिनके माध्यम से वह राज्य दूसरे राष्ट्रों के साथ सम्बन्ध स्थापित करके उन सिद्धान्तों की पूर्ति हेतु कार्यरत रहता है। [आर0 एस0 यादव, "ट्रैंडज इन दी स्टडीज ऑन इंडियाज फॉरेन पालिसी," इंटरनेशनल स्टडीज, वाल्यूम 30, अंक-1, जनवरी -मार्च 1993, पृष्ठ 53] विशिष्ट रूप से सर्वप्रथम मॉडलस्की ने इसकी परिभाषा करते हुए कहा था कि विदेश नीति, "समुदायों द्वारा विकसित उन क्रियाओं की व्यवस्था है, जिसके द्वारा (राज्य) दूसरे राष्ट्रों के व्यवहार को बदलने तथा अपनी गतिविधियों को अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण में ढालने की कोशिश करता है। [जार्ज मॉडलस्की, ए थियोरी ऑफ फॉरेन पालिसी, लन्दन, 1962, पृ0 6-7' इसके अतिरिक्त देखिए, बलजीत सिंह, इंडियन फॉरेन पालिसी ऐनेलिसिस, लन्दन, 1976, पृ0 8] विदेश नीति में परिवर्तन के साथ-साथ कई बार निरंतरता की भी आवश्यकता होती है। क्योंकि विदेश नीति परिवर्तन व यथास्थिति दोनों प्रकार की नीतियों का समन्वय होता है। फेलिक्स ग्रास के अनुसार कई बार किसी राज्य के साथ कोई सम्बन्ध न होना या उसके बारे में कोई निश्चित न होना भी विदेश नीति कहलाता है। [फेलिक्स ग्रास, फॉरेन पालिसी ऐनेलिसिज, न्यूयार्क, 1954, पृ0 47-48] इस प्रकार विदेश नीति के सकारात्मक व नकारात्मक दोनों पहलू होते हैं। वह सकारात्मक रूप में तब होती है जब वह दूसरे राज्यों के व्यवहार को बदलने का प्रयत्न करती है तथा नकारात्मक रूप में तब होती है जब वह दूसरे राज्यों के व्यवहार को परिवर्तित करने का प्रयास नहीं करती है। रेनाल्डज के अनुसार विदेश नीति का अर्थ एक राज्य के विभिन्न सरकारी विभागों द्वारा निर्धारित उन गतिविधियों की सीमाओं से जिनके माध्यम से वे अपने 'संभावित' राष्ट्रीय हितों की पूर्ति हेतु अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से जुड़े अन्य राज्यों के साथ कार्यरत रहते हैं। [पी0ए0 रेनाल्डज, एन इन्ट्रोडक्सन टू इन्टरनेशनल रिलेशन्स, लन्दन, 1980, पृ0 36] लर्चे एवं सैद ने विदेश नीति के तीन पहलुओं की चर्चा की है-

(i) सर्वप्रथम, विदेश नीति उन सामान्य सिद्धान्तों से सम्बन्धित होती है, जिनके द्वारा राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय पर्यावरण से संबद्ध अपनी प्रतिक्रियाओं को निर्धारित करता है।

(ii) विदेश नीति से 'निर्णय' तथा 'कार्यवाही' दोनों ही जुड़े रहते हैं जिसमें शायद निर्णय एक महत्वपूर्ण कारक होता है'

(iii) विदेश नीति में सामान्यतया संशाधनों के प्रति वचनबद्धता तथा जोखिम की मान्यता अथवा दोनों का समावेश होता है। [चार्लस ओ0 लर्चे एवं अब्दुल ए0 सैद, कानसेप्ट्स आफ इंटरनेशनल पॉलिटिक्स, ऐग्लवुड किलिक, 1963, पृ0 12-13]

इस प्रकार विदेश नीति उन सिद्धान्तों, हितों एवं उद्देश्यों के प्रति वचनबद्धता है जिसके द्वारा एक राज्य दूसरे राज्य के साथ अंतर्राष्ट्रीय संदर्भ में अपने सम्बन्धों का निर्वाह करता है।

विदेश नीतिः उद्देश्य

विदेश नीति के 'उद्देश्य' व लक्ष्यों में थोड़ा-सा अन्तर होता है। कई विशेषज्ञ इस संदर्भ को विदेश नीति (एक वचन) तथा विदेश नीतियों (बहुवचन) के संदर्भ में देखते है। उनका मानना है कि राज्य की विभिन्न गतिविधियों का समन्वय ही 'विदेश नीतियाँ' है जो केवल उद्देश्य को इंगित करती हैं तथा अल्पकालीन होती हैं। दूसरी ओर 'विदेश नीति' राष्ट्र की समग्र नीति का स्वरूप है जो लक्ष्य की ओर इशारा करती है तथा दीर्घकालीन होती है। [लर्चे एवं सैद, वही पृष्ठ 13] विभिन्न विशेषज्ञ भी इसी प्रकार के निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। [देखिए, बुकींग इंस्टीट्यूशन, मेजर प्राब्लम्ज ऑफ दी युनाइटेड स्टेट्स फॉरेन पॉलिसी, वाशिंगटन, पृ0 375; चार्ल्स बर्टन मार्शल, दी एकसरसाईज ऑफ सोवरेन्टी, बाल्टीमोर, 1965, पृ0 39]

विदेश नीति के प्रमुख उद्देश्यों को राष्ट्रीय हित के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है। इसलिए राष्ट्रीय हित व विदेश नीति में घनिष्ट सम्बन्ध होता है। राष्ट्रीय हित विदेश नीति के लिए विभिन्न संदर्भों में आवश्यक भूमिका निभाते हैं-

प्रथम, ये विदेश नीति को अंतर्राष्ट्रीय वातावरण के संदर्भ में सामान्य अभिविन्यास प्रदान करते हैं। द्वितीय, ये निकट भविष्य की स्थिति में विदेश नीति को नियंत्रण करने वाले मानदण्डों का विकल्प-प्रदान करते हैं। तृतीय राष्ट्रीय हित विदेश नीति को निरंतरता प्रदान करते हैं। चतुर्थ, इन्हीं के आधार पर विदेश नीति बदलते हुए अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप में अपने आपको ढालने में सक्षम हो सकती है। पंचम्, राष्ट्रीय हित विदेश नीति के दिशा निर्देशन का कार्य करते हैं।

विदेश नीति के प्रमुख लक्ष्य के बारें में अलग-अलग विशेषज्ञों के अलग-अलग विचार है। इस संदर्भ में जयन्तनुता बंदोपाध्याय इन्हें राष्ट्रीय हितों के तीन मुख्य तत्वों के रूप में देखते हैं। वे हैं-सुरक्षा, राष्ट्रीय विकास तथा विश्व व्यवस्था। [जे0 बंदोपाध्याय, दी मेकिंग ऑफ इंडियाज फॉरेन पॉलिसी, नई दिल्ली, 1979, पृ0 8] उनका मानना है कि इनमें से "सुरक्षा राज्य के अन्तर्राष्ट्रीय अस्तित्व की पहली गारंटी है, राष्ट्रीय विकास इसका आवश्यक तत्व है, तथा एक सुनिश्चित विश्व व्यवस्था एक राज्य के स्वतंत्र अस्तित्व व विकास की न्यूनतम पूर्वशर्त है। ए0 पी0 राना इससे थोड़ा सा भिन्न तीन तत्वों को विदेश नीति के प्रमख लक्ष्य मानते है- राष्ट्रीय सुरक्षा, विश्व व्यवस्था की कार्यव्यवस्था में सुधार एवं प्रतिष्ठा। [ए0पी0राना0, दी इम्पेरिटिव ऑफ नॉन एलाइनमेंट; ए कानसेप्टचुअल स्टडी ऑफ इंडियाज फॉरेन पॉलिसी इन दी नेहरू पीरियड, दिल्ली, 1976, पृ0 5] लेकिन लर्चे एवं सैद का मानना है कि मुख्य रूप से धारणात्मक स्तर पर विदेश नीति के लक्ष्यों को प्रमुख छह भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है। ये छःह सामान्य उद्देश्य है- आत्मरक्षण, सुरक्षा, कल्याण, प्रतिष्ठा विचारधारा एवं शक्ति। [लर्चे एवं सैद, वही, पृ0 10-12]

विदेश नीतिः विश्लेषण ढाँचा

विदेश नीति का निर्माण एवं संचालन विभिन्न निर्धारक तत्वों, संस्थाओं, प्रक्रियाओं तथा व्यक्तित्वों की अंतःक्रियाओं पर आधारित होता है। इसलिये इसमें निर्णय केवल विदेश मंत्रालय के

कार्यालय में बैठे अधिकारियों द्वारा ही नहीं लिए जाते, बल्कि यह एक बहुत ही जटिल सामाजिक प्रक्रिया है।

इसलिए इस प्रक्रिया में (i) नीतिनिर्धारकों; (2) विदेश नीति के सिद्धान्तों; (3) नीति के उद्देश्यों हितों स्वं लक्ष्यों; (4) शक्ति के निवेश एवं निर्गत; तथा (5) विदेश नीति के संदर्भ, प्रतिक्रियाओं एवं संबद्धता भूमिकाओं का समावेश होता है। [बलजीत सिंह, इंडियन फॉरेन पॉलिसीः एन ऐनेलेसिस, लन्दन, 1976, पृ0-8] कई अध्ययनों के माध्यम इसे यह तो ज्ञात हो गया है कि कौन-कौन से बाह्य व आंतरिक तत्व विदेश नीति की प्रक्रिया को प्रभावित करते है, परन्तु रोजनॉऊ का मानना है कि केवल इतना जानना ही काफी नहीं है, क्योंकि "यह जान लेने से कि विदेश नीति निर्धारण में किन-किन बाह्य व आंतरिक तत्वों की भूमिका है, यह नहीं पता चलता कि ये दोनों तत्व किस प्रकार मिश्रित होते हैं तथा न ही यह आसान होता है कि किस स्थिति में ये एक-दूसरे पर वर्चस्व स्थापित करते हैं।" [जेम्स एन0 रोजनॉऊ, "प्री-थियोरिज एण्ड थियोरिज ऑफ फॉरेन पॉलिसी," आर0 बेरी फारेल, सम्पादकीय, अप्रोचेज टू कम्परेटिव एण्ड इन्टरनेशनल पॉलिटिक्स, इवानस्टोर, 1966,पृ0 31] विदेश नीति से संबंधित तीन प्रकार के दृष्टिकोणों की उत्पत्ति हुई है। ये दृष्टिकोण हैं- शक्ति संबंधी, निर्णयपरक तथा निवेश-निर्गत दृष्टिकोण। परन्तु इन तीनों दृष्टिकोणों में कुछ मूलभूत कमियाँ होने के कारण ये पूर्ण सार्वभौमिक सिद्धान्त का दर्जा नहीं प्राप्त कर सके। [इन सैद्धान्तिक दृष्टिकोणों के आलोचनात्मक विवरण हेतु देखिए, एम0 ब्रेचर, बी0 स्टेनबर्ग, तथा जे0 स्टेन, ए फ्रेमवर्क फॉर ऑन पालिसी बिहेवियर," वाल्यूम-1 मार्च 1969, पृष्ठ 75-101]

विदेश नीति के सामान्य सिद्धान्त के अभाव को देखते हुए कुछ विशेषज्ञों ने विश्लेषण के लिए ढाँचे अवश्य प्रस्तुत किए हैं जिनके माध्यम से विदेश नीति के निर्धारक तत्वों, निर्णय प्रक्रिया व व्यवहार को कुछ हद तक तर्क संगत रूप में अध्ययन किया जा सकता है। इस संदर्भ में एम0 ब्रेचर की पहल एक सराहनीय कदम है। [माइकल ब्रेचर, दी फॉरेन पॉलिसी सिस्टम ऑफ ईजराईल, लन्दन, 1972, अध्याय एक- पृ0 1-16] ब्रेचर ने अपने ढाँचे को मूलरूप से डेविड ईस्टन के 'निवेश-निर्गत' इनपुर-आउटपुट) मॉडल पर आधारित किया है। [माइकल ब्रेचर, वही पृ0 3] इस आधार पर उन्होनें विदेश नीति अध्ययन के तीन बिंन्दुओं-(1) निवेश (2) प्रक्रिया एवं (3) निर्गत को अहम स्थान प्रदान किया है- जिनका वर्णन इस प्रकार से है।

1. किसी भी विदेश नीति में निवेश के रूप में दो प्रकार के वातावरण का होना आवश्यक है- (क) सक्रियात्मक वातावरण एवं (ख) मनोवैज्ञानिक वातावरण। सक्रियात्मक वातावरण में ब्रेचर जहाँ एक ओर बाह्य व आंतरिक वातावरण का समावेश करते हैं तो दूसरी ओर संचार के महत्व पर बल देता है। मनोवैज्ञानिक वातावरण में जहाँ एक ओर विचारधाराओं, विरासतों तथा व्यक्तिपरक तत्वों के आधार पर अभिवृत्तिक प्रिज्म पर बल दिया गया है, वही दूसरी ओर विशिष्ट वर्ग की छवि के संदर्भ में विशिष्ट वर्ग व सक्रियात्मक वातावरण के बीच चल रही प्रतिस्पर्धा के अध्ययन पर बल दिया गया।

2. प्रक्रिया के स्तर पर वह नीति-निर्धारण एवं कार्यान्वयन पर बल देता है। उसके अनुसार नीति-निर्माण में राज्य की चार क्षेत्रों में सोच महत्वपूर्ण भूमिका निर्वाह करती है। ये चार

क्षेत्र हैं- (क) सैन्य-सुरक्षा; (ख) राजनैतिक राजनयिक; (ग) आर्थिक-विकासबल; तथा (घ) सांस्कृतिक-प्रतिष्ठा।

दूसरी ओर कार्यान्वयन के संदर्भ में राज्य प्रमुख, सरकार प्रमुख, विदेश मंत्रालय आदि की महत्वपूर्ण भूमिका पर बल दिया गया है।

3. निर्गत के अंतर्गत विदेश नीति संबंधी निर्णयों का अध्ययन सम्मिलित है।

विश्लेषण ढाँचा जहाँ एक ओर विदेश नीति निर्धारण के सभी तत्वों के तर्क संगत अध्ययन में सहायक है, वहीं दूसरी ओर निर्णय प्रक्रिया का भी विशिष्ट आकलन करता है। आवश्यकता है इस विश्लेषण ढाँचें को और संवर्धित एवं परिष्कृत करने की।

विदेश नीतिः समस्याएँ

सिद्धान्तों के प्रातेपादन के अतिरिक्त भी विदेश नीति के सामान्य अध्ययन एवं विश्लेषण के अन्तर्गत विभिन्न समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इस संदर्भ में अप्पादोराय एवं राजन् [ए0 अप्पादोराय व एम0 एस0 राजन्, इंडियाज फॉरेन पॉलिसी एण्ड रिलेशन्स, नई दिल्ली, 1985, पृ 2-4] निम्नलिखित चार समस्याओं को प्रमुख मानते हैं-

(1) प्रथम, इस समस्या की जड़ आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप में निहित है। वर्तमान समय में विभिन्न संचार माध्यमों एवं आवागमन के साधनों के विकास के कारण राज्यों के मध्य दूरियाँ सिमट गई है। इसके प्रभाव स्वरूप आज राष्ट्रों के बीच अधिक सहयोग, सम्पर्क, संघर्ष, प्रतिस्पर्धा आदि को बढ़ावा मिला है। इसके अतिरिक्त, राष्ट्रों के परिवर्तित दृष्टिकोणों ने भी विदेश नीति के आकलन को और जटिल बना दिया है। क्योंकि आज प्रत्येक राष्ट्र अपने हितों की पूर्ति हेतु एक विशिष्ट प्रकार के अंतर्राष्ट्रीय समुदाय का पक्षधर होने के साथ वह युद्ध व शान्ति से जुड़े प्रत्यक्ष या परोक्ष 'अंतर्राष्ट्रीय समुदाय का पक्षधर होने के साथ वह युद्ध व शान्ति से जुड़े प्रत्यक्ष या परोक्ष 'अंतर्राष्ट्रीय मुद्दों पर अपनी राय अभिव्यक्त करना चाहता है। इस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के इस परिवर्तित एवं जटिल स्वरूप में विदेश नीति का अध्ययन भी एकं समस्यामूलक कार्य हो गया है।

(ii) राज्य आर्थिक सहायता, सैन्य हथियारों की आपूर्ति, विश्व संगठनों में समर्थन् बहुराष्ट्रीय कंपनियों के माध्यम से कमजोर व आर्थिक रूप से पिछड़े राष्ट्रों की नीतियों को प्रभावित करते हैं। परिवर्तित संदर्भ में कई बार छोटे या कमजोर राष्ट्र शायद शक्तिशाली राष्ट्र का मुकाबला तो न कर सकें परन्तु उसकी अनर्गल स्थिति पैदा करने की क्षमता से तो इंकार नहीं किया जा सकता। कई प्रैद्योगिकी के कुप्रयोग से वह आतंक या डर का वातावरण बनकर तर्क संगत स्थिति को विफल करने की क्षमता रखता है।

(iii) तृतीय, समस्या विश्व में निरंतर बदलाव व नये घटनाक्रम एवं व्यक्तित्वों के आगमन की है। इस संदर्भ में विदेश नीति की निरंतरता का स्वरूप नहीं लागू होता, बल्कि सभी अध्ययन नये संदर्भ के अनुरूप करने पड़ते हैं। उदाहरण के रूप में, 1989 का पूर्वी युरोप में

आया परिवर्तन तथा 1991 में सोवियत संघ के विघटन स्वरूप पुरानी व्यवस्था का सम्पूर्ण विनाश तथा नई राजनैतिक स्थिति का उदय कहा जा सकता है, जो अपनी विरासत से बिल्कुल विपरीत कार्य करना चाहती है। इसी प्रकार कई बार ऐसे व्यक्तित्वों का राजनैतिक धरातल पर पदार्पण होता है जो अचानक आये बदलाव का हिस्सा होने के कारण निरंतरता को छोड़कर बिल्कुल नये मार्ग का अनुसरण करने का पक्षधर होता है। इन दोनों परिस्थितियों में नई विदेश नीति का आकलन तर्कपूर्ण सम्भव नहीं हो सकता।

(iv) राज्य की आंतरिक एवं बाह्य नीति के बीच सम्बन्ध भी विदेश मंत्रियों के लिए समस्या उत्पन्न करते हैं। इन दोनों नीतियों के बीच इतना घनिष्ट संबंध होता है कि दोनों के एक-दूसरे पर पड़ने वाले प्रभावों को आंकना सरल नहीं होता। बल्कि इस संदर्भ में 'एकीकृत दृष्टिकोण' अपनाने की जरूरत होती है। इस प्रकार का प्रभाव शीतयुद्धोत्तर युद्ध में आर्थिक मुद्दों के महत्वपूर्ण होने के कारण ज्यादा होने लगा है।

के0 पी0 मिश्रा ने तीसरी दुनिया के देशों को ध्यान में रखते हुए चार कारणों को विदेश नीति के अध्ययन में समस्या के रूप में देखते हैं। ये चार कारण है-"अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का क्षितिजीय व सामानंतर विकास; विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी में आशातीत उन्नति; प्रभाव बढ़ाने के नये-नये तरीकों; तथा आंतरिक व बाह्य नीतियों में बहुआयामी एवं जटिल सम्बन्धों का विकास।" [के0 पी- मिश्रा, सम्पा0, फॉरेन पालिसी ऑफ इंडियाः ए बुक ऑफ रिडिंग्स, नई दिल्ली, 1977, पृ0 11]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि विदेश नीति राज्य के मुख्य हितों, सिद्धान्तों एवं लक्ष्यों का ऐसा समूह है जिसके द्वारा राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति में कार्यरत रहता है। परंतु यह स्थिति गतिशील होती है जो मुख्यतया आंतरिक एवं बाह्य वातावरण के परिवर्तन के साथ बदलती रहती है।

इकाई - 14 अमेरिकी विदेश नीति की सामान्य विशेषताएँ तथा वैश्विक परिवेश में उसकी भूमिका

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 अमेरिका का महाशक्ति के रूप में उदय

14.3 अमेरिकी विदेश नीति के लक्ष्य

14.4 विभिन्न राष्ट्रपतियों के कार्यकाल में अमेरिकी विदेश नीति की मुख्य विशेषताएँ प्रवृत्तियाँ

14.5 अमेरिकी विदेश नीत की आधुनिक प्रवृत्तियाँ

14.6 सारांश

14.7 संदर्भ ग्रन्थ

14.8 संबंधित प्रश्न

14.9 प्रश्नोत्तर

14.0- उद्देश्य

14.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप-

* वर्तमान वैश्विक राजनीति में अमेरिका के महाशक्ति के रूप में उदय से अवगत हो सकेंगे,
* अमेरिकी विदेशनीति के मुख्य लक्ष्यों एवं विशेषताओं को समझ सकेगें,
* विभिन्न राष्ट्रपतियों के कार्यकाल के दौरान अमेरिकी विदेश नीति के संचालन के प्रभावों में उत्पन्न वैश्विक परिदृश्य से परिचित हो सकेंगे,
* अमेरिकी विदेश नीति के आधुनिक प्रवृत्तियाँ का विश्लेषण एवं विश्व राजनीति को समझने का दृष्टिकोण विकसित कर पायेंगे।

14.1 प्रस्तावना

इस इकाई के अन्तर्गत हम संयुक्त राज्य अमेरिका के विदेशनीति का अध्ययन करेंगे। जैसा कि हम जानते हैं कि सं0 राज्य अमेरिका आज विश्व की एक मात्र महाशक्ति है। परन्तु अमेरिका विश्व की राजनीति तथा विश्व की मामलों को बीसवीं शताब्दी में प्रथम विश्व युद्ध के बाद निरन्तर महत्वपूर्ण रूप में प्रभावित करता रहा है। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् अमेरिका ने

अपनी तथाकथित पार्थक्यवाद की नीति को त्याग कर विश्व के मामलों में अभिरूचि लेना प्रारम्भ कर दिया था। राष्ट्र-संघ का सदस्य न बन पाने के बावजूद अमेरिका विश्व राजनीति में निरंतर सक्रिय रहा। प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद आर्थिक मंदी के दौर में अमेरिका की भूमिका महत्वपूर्ण रही। दूसरे विश्व-युद्ध के दौर में अमेरिका अन्य मित्र राष्ट्रों के नेतृत्व के साथ निरंतर शीर्षवार्ताओं में सक्रिय रहा। द्वितीय विश्व युद्ध के अंतिम चरण में अमेरिका की युद्ध में सहभागिता अमेरिका द्वारा जापान पर परमाणु बम के प्रयोग के साथ ही युद्ध की समाप्ति का कारण बनीं। स्पष्ट था कि अमेरिका ने एक महाशक्ति के रूप में अपना परिचय दिया। ऐसे में युद्धोपरान्त किसी भी विश्व-व्यवस्था में उसकी महत्वपूर्ण भूमिका स्वभाविक थी। युद्ध की समाप्ति पर विचारधारा के नाम पर दूसरी महाशक्ति के साथ संघर्ष में शीतयुद्ध को जन्म दिया। और विश्व-राजनीति द्वि-ध्रुवीय हो गई। इसके एक ध्रुव का नेतृत्व अमेरिका के हाथों में रही। परिणाम स्वरूप विश्व राजनीति के प्रत्येक घटनाक्रम पर अमेरिका की निगाह बनी रहती थी। और अमेरिकी विदेश नीति को जानना तथा समझना अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों को अध्ययनकर्ताओं के लिए अनिवार्य था। शीतयुद्ध का काल लगभग 45 वर्षों का रहा। इस दौरान महाशक्तियों के पारस्परिक संबंध अन्य राष्ट्रों के विदेशनीतियों के निर्धारण की प्रक्रिया को भी प्रभावित करते रहे महाशक्तियों के पारस्परिक संबंधों में भी हम अत्यधिक वैमनश्यता और अकस्मता माधुर्य दोनों को ही देखा जा सकता है। शीत युद्ध की समाप्ति एक ऐतिहासिक मील का पत्थर और इसके पश्चात् उभरी विश्व-व्यवस्था में संयुक्त-राज्य अमेरिका की विदेश नीति का विश्लेषण करने का प्रयास करेंगे।

14.2 अमेरिका का महाशक्ति के रूप में उदय

1991 में पूर्व सोवियत संघ के विघटन के पश्चात् अमेरिका विश्व की एकमात्र महाशक्ति है। वर्तमान में यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का नियन्ता और संचालक है। द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व अमेरिका की स्थिति आज से भिन्न थी। उसने आमतौर पर अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में 'पार्थक्यवाद' Isolationism की नीति अपनाई। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अमेरिका विजेता तथा विजित दोनों राष्ट्रों में अकेला ऐसा राष्ट्र था, जिसे युद्ध में कोई आर्थिक क्षति नहीं हुई। अतः उसकी क्षमता और सामर्थ्य अक्षुण्ण बनी रही। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अमेरिका ने महाशक्ति के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सक्रियता से भाग लेना प्रारम्भ किया। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् 1952 तक के अपने कार्यकाल में राष्ट्रपति ट्रूमैन ने अमेरिकी विदेश नीति का आधारशिला रखी और अपने राष्ट्र को विश्व के अग्रणी राष्ट्र के रूप में प्रतिष्ठित किया। इस परम्परा का बाद के राष्ट्रपतियों ने भी अनुसरण किया। According to David Ryan the evolution of US policy oscillated betwwen the pursuit of Power & material opportunity on the one hand & the maintenance of its stated ideals on the others. [David Ryan, US foreign Policy in World History London: ROUTLEDGE, 2000, pp-3-4] अमेरिका की विदेश नीति के निर्धारक तत्व के रूप में निम्नलिखित को रखा जा सकता है। जैसे- भौगोलिक स्थित, प्राकृतिक संसाधन, जनसंख्या, विदेश नीति निर्धारण का तंत्र, अमेरिकी परम्पराएँ व समसामयिक

परिवर्तन तथा गठबंधन की कूटनीति। अमेरिका को महाशक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करने में इसके विशाल भौगोलिक आकार, समृद्ध प्राकृतिक संसाधन और उच्च औद्योगिक तथा तकनीकी विकास ने अपूर्व योग दिया है। अमेरिकी लोगों के राष्ट्रीय चरित्र ने भी इस देश को महाशक्ति के रूप में विकसित करने में उल्लेखनीय योग दिया है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अमेरिका को विश्व की महाशक्ति बनाने के लिए उत्तरदायी मुख्य कारणों में -1945 में अमेरिका द्वारा जापान के दो प्रमुख शहरों-हिरोशिमा तथा नागासाकी पर परमाणु बम गिराकर जापान को आत्मसमर्पण करने के लिए विवश करके विश्व में अपनी शक्ति की सर्वोच्चता को स्थापित करना, द्वितीय विश्वयुद्ध में युरोपीय शक्तियों के विनाश से उनके कमजोर पड़ने से उत्पन्न शक्ति शून्यता को भरने की आवश्यकता, अमेरिका की सैनिक शक्ति और सामर्थ्य, द्वितीय विश्व युद्ध से ध्वस्त हुए युरोप के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए अमेरिकी आर्थिक सहायता पर निर्भरता, द्वितीय विश्वयुद्ध के समय अमेरिका के उत्पादन में वृद्धि होने से उसकी आर्थिक शक्ति के अत्यन्त सुदृढ़ होने तथा राष्ट्रपतियों के चमत्कारिक व्यक्तित्व और नेतृत्व जैसे कारणों को मुख्य रूप से गिनाया जा सकता है।

जहा तक महाशक्ति के रूप में अमेरिका की भूमिका का प्रश्न है, उसने प्रारम्भ से ही, साम्यवाद विरोधी या साम्यवाद का परिरोधन या अवरोध' (Containment of Communism) की नीति अपनाई। कालान्तर में वह पाश्चात्य लोकतांत्रिक राष्ट्रों का नेता बन गया। अमेरिका के नेतृत्व वाले इस गुट को 'पूंजीवादी गुट' की संज्ञा दी गई। अमेरिका ने पूर्व सोवियत संघ के प्रभाव को बढ़ने से रोकने के लिए 'सहायता की कूटनीति' (Diplomacy of Aid) का सहारा लिया। इसमें सैनिक, आर्थिक और तकनीकी सहायता सम्मिलित थी। अमेरिका ने अपने गुट से सम्बद्ध पाश्चात्य लोकतांत्रिक राष्ट्रों को उनके पुनर्निर्माण में भी विपुल सहायता प्रदान की। इतना ही नहीं, उसके द्वारा विश्व-व्यापी प्रभाव के विस्तार करने की योजना के अन्तर्गत सैन्य संधियाँ या गठबंधनों तथा सैनिक अड्डों की स्थापना करने का सहारा लिया गया। इसके अतिरिक्त अमेरिका ने संयुक्त राष्ट्र (The U.N.) में अपने प्रभाव को बढ़ाने के लिए भी सभी सम्भव प्रयास किये। उसके द्वारा शक्ति-प्रदर्शन की कूटनीति का सहारा भी लिया गया जिसके कारण अनेक देशों में उसके द्वारा अनावश्यक 'हस्तक्षेप' किया गया। इन सब कारणों के कारण अमेरिका का महाशक्ति के रूप में वर्चस्व बढ़ता गया और वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का नेतृत्व करने लगा। वर्तमान में अमेरिका विश्व की एकमात्र महाशक्ति के रूप में अमेरिका के अभ्युदय के साथ ही इसकी विदेश नीति के नये आयाम उजागर हुए।

14.3 अमेरिकी विदेश नीति के लक्ष्य

विश्व शांति, गुट--निरपेक्षता, निःशस्त्रीकरण का समर्थन, साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद तथा नस्लवाद का विरोध अफ्रो-एशियाई एकता का आह्वान व संयुक्त राष्ट्र के सिद्धान्तों में आस्था, जिस प्रकार से भारत की विदेश नीति की नीव के पत्थर माने जा सकते हैं; इसी प्रकार शीतयुद्ध की समाप्ति, सोवियत संघ का पतन एवं पूर्वी युरोप के साम्यवादी राज्यों में लोकतंत्र की प्रक्रिया, युरोप

के राज्यों का एकीकरण तथा अमेरिका का विश्व में एकमात्र शक्ति के रूप में उदय के परिप्रेक्ष्य में अमेरिका की विदेश नीति के लक्ष्य निम्नलिखित है। [बी0एम0 जैन; प्रमुख देशों की विदेश नीतियाँ, पृ0 1]:

(i) साम्यवाद के अवरोध या परिसीमन की नीति अर्थात् पूर्व सोवियत संघ तथा चीन के प्रभाव को रोकना या सीमित करना।

(ii) राष्ट्रीय सुरक्षा को सुनिश्चित करना तथा इस हेतु विशाल सैन्य-तन्त्र की स्थापना करना एवं परम्परागत तथा आणविक हथियारों में सर्वोच्चता प्राप्त करना।

(iii) पाश्चात्य युरोप के लोकतांत्रिक देशों पर अपना वर्चस्व स्थापित करना तथा उनकी सुरक्षा के लिए सैनिक गठबंधनों का जाल बिछाना।

(iv) विश्व की अर्थव्यवस्था और विश्व के प्राकृतिक संसाधनों को नियंत्रित करना।

(v) लोकतंत्र की रक्षा के नाम पर अन्य राष्ट्रों में हस्तक्षेप करने की नीति का अवलम्बन लेना।

(vi) मानवाधिकारों की रक्षा करना।

(vii) विश्व की एकमात्र महाशक्ति के रूप में अपने को प्रतिष्ठित करना।

14.4 विभिन्न राष्ट्रपतियों के कार्यकाल में अमेरिकी विदेश नीति की मुख्य प्रवृत्तियाँ/विशेषताएँ

डेविड र्‌यान के अनुसार प्रत्येक राष्ट्रपति ने अपने कार्यकाल में अपनी दल या अपने सिद्धान्त के माध्यम से विदेश नीति में अपनी पहचान बनाने की कोशिश की है। फिर भी प्रत्येक कार्यकाल में अमेरिकी विदेश नीति के कुछ सिद्धान्त हमेशा अविचल रहे हैं। [David Ryan, वही, पृ0 6] 4 जुलाई, 1776 को स्वतंत्रता प्राप्त करने के उपरांत अमेरिका ने लोकतंत्र को अपनी शासन व्यवस्था का आधार बनाया। लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था ने देश की विदेश नीति के स्वरूप और लक्ष्यों को भी प्रभावित किया है। राष्ट्रपति वुड्रो विल्सन के 14 सूत्री कार्यक्रम, फ्रेंकलिन रूजवेल्ट की 'चार स्वतंत्रता' की नीति, रोनाल्ड रीगन का वाग्मितायुक्त असर तथा क्लिंटन प्रशासन के समय वचन-बद्धता और परिवर्धन का कूट रचना (Strategy for engagement & Enlargement) से अमेरिका की विदेश नीति को काफी मजबूती प्रदान हुआ है। [David Ryan, Ibid, PP-6-7] युद्धोत्तर युग के बाद अर्थात् अमेरिका के महाशक्ति के रूप में अभ्युदय के बाद इसकी बागडोर बारह राष्ट्रपतियों- हेनरी ट्रूमैन, ड्वाइट डी0, आइजन- हावर, जॉन एफ0 **कैनेडी,** लिण्डन बी0 जॉनसन, रिचर्ड निक्सन, जैराल्ड फोर्ड, **जिम्मी कार्टर, रोनाल्ड रीगन,** जॉर्ज बुश, बिल क्लिंटन एवं जॉर्ज बुश (जुनियर) के हाथों में रही है। वर्तमान में जॉर्ज बुश, 20 जनवरी 2005 से 4 वर्ष के लिए पुनः राष्ट्रपति के रूप में चुन लिए गए है।

1944 से 1952 तक का काल अमेरिका के इतिहास में ट्रूमैन युग कहलाता है। राष्ट्रपति ट्रूमैन ने अमेरिकी विदेश नीति की जो आधारशिला रखी, वह आज भी महत्वपूर्ण है। विश्व-

राजनीति में अमेरिका की शक्ति और प्रतिष्ठा को कायम करने की दिशा में उन्होनें ठोस कदम उठायें। साम्यवाद के प्रसार को सीमित करने का जो निश्चय राष्ट्रपति ट्रूमैन ने व्यस्त किया था, वही प्रयत्न भावी राष्ट्रपतियों ने किया और उन्होनें साम्यवाद के प्रसार पर अंकुश रखने की दिशा में सतत् रूप से कदम उठाए। ट्रूमैन काल में अमेरिका यह मानकर चला की पूर्व सोवियत संघ ही उसका मुख्य प्रतिद्वन्दी है और अमेरिकी नीति का इतिहास भी यही दर्शाता है कि 1991 तक अमेरिका की विदेश नीति मुख्य रूप से पूर्ण सोवियत संघ को प्रमुख लक्ष्य मानकर ही संचालित होती रही। प्रारम्भ में अमेरिका ने यह सोचा कि मित्रराष्ट्रों का गुद्धकालीन सहयोग शक्तिकाल में भी बना रहेगा। अतः राष्ट्रपति ट्रूमैन ने सहयोग और अनुकूलता की नीति (Policy of Co-operation and Accommodation) का अनुसरण किया। जर्मनी के एकीकरण के प्रश्न; पोलैण्ड में पूर्व सोवियत संघ द्वारा माल्टा सम्मेलन में किये गए वचनों के उल्लंघन की अमेरिकी शिकायत; इटली, हंगरी, रूमानिया, बलगारिया तथा फिनलैंड के साथ शान्ति-संधियों के प्रश्न; संयुक्त राष्ट्र तथा उसमें पूर्व सोवियत संघ द्वारा निषेधाधिकार (वीटो) के प्रयोग के प्रश्न; तथा ईरान, तुर्की और युनान में महत्वाकांक्षाओं के प्रश्न के कारण पूर्व सोवियत संघ तथा अमेरिकी गुटों में 'शीतयुद्ध' आरम्भ हो गया। पूर्व सोवियत संघ के नीतियों से बाध्य होकर अमेरिका के विदेश नीति निर्माताओं ने सहयोग और अनुकूलत' की नीति का परित्याग कर दिया। अब अमेरिका ने साम्यवाद के प्रसार को अविलम्ब अवरूद्ध करने के लिए 'प्रसार-विरोध नीति' (Policy of Containment-Aug 1946-June 1950) को अपनाया। मध्य-पूर्व यूनान, तुर्की, ईरान आदि देशों में साम्यवाद के प्रसार को रोकने के लिए ट्रूमैन ने इन्हें आर्थिक सहायता देने की नीति अपनाई। इसी नीति को 'ट्रूमैन सिद्धान्त' (Truman Doctrine) कहा गया है। इस सिद्धान्त के फलस्वरूप अमेरिकी विदेश नीति में मौलिक परिवर्तन करते हुए उसे विकास की एक नई दिशा दी। इस सिद्धान्त ने स्पष्ट कर दिया कि अमेरिका अब पृथकतावादी नीति का परित्याग कर अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति सक्रिय हो गया है। 1947 में पेरिस में 16 युरोपीय देशों (U.K., फ्रांस, आस्ट्रिया, नीदरलैंड, तुर्की, बेल्जियम, डेनमार्क, हालैंड, ग्रीस, आइसलैंड, ईटली, नार्वे, लक्जमबर्ग, स्वीडन, स्विटजरलैंड और पुर्तगाल) के प्रतिनिधियों के सम्मेलन में 'युरोपीय आर्थिक सहयोग समिति' (Committee of European Economic Co-operation) की स्थापना की गई है। इस समिति ने अमेरिका को एक प्रतिवेदन दी जिसमें कहा गया कि अमेरिका यदि 13 अरब डॉलर की राशि खर्च करने को तैयार हो तो 1951 तक एक आत्मनिर्भर युरोपीय अर्थव्यवस्था की स्थापना की जा सकती है। यही प्रतिवेदन 'मार्शल योजना' के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस योजना को 'प्रसार-निरोध की नीति' के दूसरे चरण के रूप में देखते हैं। इसे अधिकृत रूप से 'युरोपीय राहत कार्यक्रम' (European Relief Programme) कहते हैं। 'मार्शल योजना' का प्रत्युत्तर पूर्व सोवियत संघ ने सितम्बर, 1947 में 'कोमिनफार्म' की स्थापना के रूप में दिया। आर्थिक और सामरिक सहायता देने की अमेरिका की इस नवीन नीति को नव-साम्राज्यवाद तथा नव-उपनिवेशवाद कहा गया। ट्रूमैन सिद्धान्त को कटू आलोचनाओं का सामना करना पड़ा।

चीन में साम्यवाद की विजय से अमेरिका को यह आशंका हो गई कि विश्व के अल्प-विकसित देशो में साम्यवाद सफल हो सकता है। इस आशंका को निर्मूल बनाने और साम्यवाद के प्रसार को रोकने के लिए 20 जनवरी, 1949 को ट्रूमैन ने 'चार सूत्री कार्यक्रम' (Four Point Programme) की घोषणा की-

(i) संयुक्त राष्ट्र (The U.N.) को पूर्ण समर्थन,

(ii) विश्व के आर्थिक पुनरूद्धार कार्यक्रम को जारी रखना,

(iii) आक्रमण के विरूद्ध स्वतंत्रता-प्रेमी राष्ट्रों को सुदृढ़ बनाना एवं

(iv) अल्प-विकसित देशों के उत्थान के लिए प्राविधिकी सहायता।

1950 में अमेरिकी काँग्रेस ने अन्तर्राष्ट्रीय विकास अधिनियम (Act for International Development) द्वारा इस कार्यक्रम को स्वीकार कर लिया। रिचर्ड स्टेबिंस के अनुसार, ''यह कानून अमेरिकी विदेश नीति का मील का पत्थर था।'' आलोचकों द्वारा चार-सूत्री कार्यक्रम को शीतयुद्ध का ही अस्त्र माना गया।

इसके बाद अमेरिका ने प्रसार-निरोध की रणनीति (The Strategy of Containment) अपनाई। इसके तहत राजनीतिक तथा आर्थिक स्तर पर ही नहीं, सैनिक स्तर पर भी अमेरिका ने साम्यवादी प्रसार के विरोध का प्रयत्न किया। उसने दूसरे देशों के साथ सैनिक-संधियों और पारस्परिक-प्रतिरक्षा सहायता कार्यक्रम (Mutual Defence Assistance Programme) का सहारा लिया, इस नीति के तहत उसने 'उत्तरी अटलांण्टिक सन्धि संगठन' (NATO) जैसे सैन्य संगठन की स्थापना की, जो अमेरिकी विदेश नीति में एक नवीन, प्रयोग था। 4 अप्रैल, 1949 को अमेरिका, कनाडा, इटली, आइसलैंड, नार्वे, डेनमार्क और पुर्तगाल के बीच यह प्रथम सैनिक सन्धि सम्पन्न हो गई। नोंटों का प्रयोग विदेश नीति में सर्वथा 'नया परिवर्तन' (Innovation) था।

साम्यवाद का संकट ज्यों-ज्यों बढ़ता गया, अमेरिका सैनिक संधियों और प्रतिरक्षा संगठनों की ओर उन्मुक होता गया। जून, 1950 में उत्तरी कोरिया पर दक्षिणी कोरिया ने आक्रमण किया। इस पर संयुक्त राष्ट्र (The U.N.) ने हस्तक्षेप किया। संयुक्त राष्ट्र के अन्तर्गत अमेरिकी सेनाओं ने ही कोरिया का युद्ध लड़ा। इस घटनाक्रम ने अमेरिकी विदेश नीति में सैनिक शक्ति के महत्व को और बढ़ा दिया। कोरिया युद्ध जून, 1950 से जुलाई, 1953 तक चला। यह अवधि शीतयुद्ध के स्थान पर 'खुले संघर्ष' अथवा 'सक्रिय युद्ध' की थी। इसे अमेरिकी विदेश नीति में 'खुले संघर्ष का काल' (Period of open conflict) की संज्ञा दी जाती है। इस अवधि में अवरोध-नीति के राजनीतिक और आर्थिक पक्ष की अपेक्षा सैनिक पक्ष को महत्व देते हुए 30 अगस्त, 1951 को अमेरिका ने फिलिपिन्स के साथ प्रतिरक्षा तथा 1 सितम्बर, 1951 को आस्ट्रेलिया एवं न्यूजीलैंड के साथ एंजुस समझौता किया और इसी तरह 8 सितम्बर, 1951 को जापान के साथ एक प्रतिरक्षा-सन्धि की।

आइजनहॉवर युग (1953-61)

जनवरी, 1953 में जनरल आइजनहॉवर राष्ट्रपति बनें। कुछ सामयिक परिवर्तन को छोड़कर उनके काल में विदेश नीति में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ।

कैनेडी-युग 1960-63

कैनेडी ने अमेरिकी विदेश नीति को अनेक नूतन आयाम प्रदान किए जो निम्नलिखित है:-

(i) समझौतों और वार्ताओं द्वारा पूर्व और पश्चिम के मतभेदों को कम किया जाए, पर साथ ही साम्यवादी खतरे के विरूद्ध साहस और दृढ़ता की नीति अपनाई जाए।

(ii) विश्व में साम्यवाद के अतिरिक्त गरीबी और अधिनायक वादी या तानाशाही प्रवृत्तियाँ भी शत्रु हैं। विश्व की परेशानियों का कारण केवल साम्यवाद ही नहीं है, अतः अमेरिका को साम्यवाद का मुकाबला करने के साथ-साथ विश्व के आर्थिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों की ओर भी ध्यान देना चाहिए।

(iii) विश्व में डॉलर का मूल्य सुरक्षित रखा जाए तथा इसकी साख में कमी न होने दी जाए।

(iv) ऐसे प्रयत्न किए जाएँ कि महाशक्तियाँ एक-दूसरे के निकट आएँ तथा परस्पर समझने के लिए आदान-प्रदान को अपनाएँ, जिससे दोनों गुटों के बीच विचारों के आदान-प्रदान द्वारा संदेहों को मिटाया जा सके।

(v) साम्यवाद को सीमित् करने के लिए पूरे विश्व को यहाँ तक कि लौह दीवार के अन्दर के प्रदेशों को भी राजनीतिक एवं आर्थिक गतिविधियों का क्षेत्र बनाया जाए।

(vi) यथा-साध्य शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की भावना को अपनाया जाए।

कैनेडी का रुख अपने पूर्ववर्ती अमेरिकी राष्ट्रपतियों की तुलना में भारत के प्रति अधिक उदार रहा। 1962 में चीनी आक्रमण के समय उन्होनें भारत को बिना शर्त सैनिक, आर्थिक सहायता प्रदान की। वे भारत के महान मित्र बनकर उभरे। इस काल में भारत-अमेरिकी संबंध प्रगाढ़ हुए। कैनेडी ने दक्षिण वियतनाम को उत्तर वियतनाम के विरूद्ध युद्ध में सक्रिय मदद देने का निश्चय किया। इनके कार्यकाल में अमेरिका तथा पूर्व सोवियत संघ के बीच 'तनाव शैथिल्य' की 'देतान्त की भावना' का प्रादुर्भाव हुआ।

जॉनसन-युग 1964-68

21 नवम्बर, 1963 को राष्ट्रपति कैनेडी के बाद तत्कालीन उपराष्ट्रपति लिण्डन बी० जॉनसन अमेरिका के राष्ट्रपति बने और 1964 के निर्वाचन में विजय प्राप्त करने पर पुनः राष्ट्रपति पद पर आसीन हुए। वे एक ओर तो शीत-युद्ध के विस्तार को रोकने का नाटक करते रहे और दूसरी ओर अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उग्र और आक्रामक दृष्टिकोण अपनाते रहे। जॉनसन ने भारत के प्रति

कैनेडी की नीति का परित्याग कर दिया। वे वियतनाम में अमेरिकी बमबारी के बारे में भारत की आलोचना सहन न कर सके और इसकी प्रतिक्रिया मे भारतीय प्रधान मंत्री लालबहादुर शास्त्री की अमेरिकी यात्रा स्थगित कर दी। 1965 में भारत-पाक युद्ध में उनके प्रशासन का वरदहस्त पाकिस्तान के सिर पर बना रहा। 1967 में विद्रोही नागा नेता फिजो को अमेरिका में शरण दी गई और 1968 में भारत को दी जाने वाली आर्थिक सहायता घटा दी गई। अमेरिका के भारत-विरोधी रवैये से तत्कालीन भारतीय प्रधान मंत्री श्रीमती इंदिरा गाँधी इतनी क्षुब्ध हुईं कि वे अक्टुबर 1968 में संयुक्त राष्ट्र अधिवेशन के लिए न्यूयॉर्क गईं तथा वाशिंगटन गए बिना ही नई-दिल्ली वापस आ गईं।

निक्सन-युग 1969-74

20 जनवरी, 1969 को रिचार्ड निक्सन अमेरिका के राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। उनका कार्यकाल विदेश नीति के इतिहास में 'क्रान्तिकारी' माना जाता है, क्योंकि उन्होंनें साम्यवादी जगत के प्रति अमेरिका के नीति को नई दिशा प्रदान करते हुए अनेक दृष्टियों से अन्तर्राष्ट्रीय जगत में अमेरिकी विदेश नीति को मुखर बनाया। उनके प्रयत्नों से सुदीर्घ-काल से चला आ रहा वियतनाम युद्ध समाप्त हुआ। पूर्व सोवियत संघ के साथ निःशस्त्रीकरण वार्ताओं में प्रगति हुई। पूंजीवादी और साम्यवादी जगत् में सह-अस्तित्व की सम्भावनाओं को सबसे अधिक बल निक्सन के कार्यकाल में मिला। उनका रूख भारत विरोधी रहा तथा उनके समय में दोनों देशों के बीच संबंध जितने कटु रहे उतने पहले कभी नहीं रहे थे। उन्होंने न केवल भारत की आर्थिक सहयता ही रोकी, बल्कि सैन्य सामग्री देना भी बन्द कर दिया और हर तरह से भारत के प्रति अमैत्री प्रदर्शित की। 1971 के बाँग्लादेश के मुक्ति आन्दोलन को कुचलने में तत्कालीन पाकिस्तान सरकार को अमेरिका और चीन का प्रोत्साहन मिला।

फोर्ड-युग 1974-76

वाटरगेट जासूसी काण्ड में लिप्तता के कारण निक्सन को राष्ट्रपति पद बीच में ही छोड़ना पड़ा। फलतः 9 अगस्त, 1974 को उपराष्ट्रपति जेराल्ड फोर्ड ने अमेरिकी राष्ट्रपति के रूप में शपथ ली। भारत के प्रति फोर्ड प्रशासन का दृष्टिकोण निक्सन प्रशासन से भी अधिक कठोर रहा। अमेरिका की विदेश नीति का एक यह खेदजनक पहलू रहा है कि उसने विश्व के राष्ट्रीय आन्दोलनों और मुक्ति संघर्षों, को कभी खुले दिल से समर्थन नहीं दिया। अमेरिका रोडेशिया, और दक्षिणी अफ्रीका की रंगभेद समर्थक सरकारों का पक्ष लेता रहा। 30 अक्टूबर, 1974, दक्षिणी अफ्रीका को संयुक्त राष्ट्र से निष्काषित करने के प्रस्ताव पर अमेरिका ने वीटो का प्रयोग किया। सामान्यतः फोर्ड युग में भी निक्सन की नीतियों का ही अनुसरण किया।

जिम्मी कार्टर युग 1977-80

20 जनवरी, 1977 को डेमोक्रेटिक पार्टी के जेम्स अर्ल कार्टर (जिम्मी कार्टर) ने

अमेरिका के राष्ट्रपति के रूप में शपथ ली। काफी समय बाद डेमोक्रेटिक पार्टी का प्रत्याशी राष्ट्रपति पद पर सत्तारूढ़ हुआ। उन्होंने अफ्रीकी देशों को विश्वास दिलाया कि अफ्रीका की समस्याओं का समाधान अफ्रीकियों को खुद करना पड़ेगा, अमेरिका केवल सहायता देगी। उन्होंने इटली की जर्जर अर्थव्यवस्था में सुधार का आश्वासन दिया और नाटो के प्रति अमेरिका की प्रतिबद्धता दोहराई। पश्चिमी जर्मनी (पूर्व) के नेताओं से द्विपक्षीय और बहुपक्षीय व्यापारिक समझौते पर वार्ता तथा ब्राजील को परमाणु जानकारी देने के बारे में विचार हुआ। 1977 से 1980 के अमेरिका ने मिश्र के राष्ट्रपति अनवर सादात के माध्यम से अरब-इजराइल संघर्ष कम करने की कोशिश की। अमेरिका और क्यूबा में पहले से चली आ रही तनातनी 1979 के मध्य क्यूबा में पूर्व सोवियत संघ के सैनिकों की उपस्थिति को लेकर विस्फोटक बन गई। कार्टर ने वियतनाम के प्रति व्यावहारिक तथा सूझबूझ की नीति अपनाई। 1977 में वियतनाम को संयुक्त राष्ट्र का सदस्य बनने में सहायता प्रदान किया गया।

जनवरी, 1978 के प्रथम सप्ताह में अपनी भारत यात्रा के दौरान कार्टर ने घोषणा की कि उन्होंने तारापुर परमाणु बिजली संयंत्र के लिए श्रेष्ठ युरेनियम की एक और खेप भेजने का अधिकार दे दिया है। दोनों देश इस बात पर सहमत हुए कि वे दूसरों के साथ अपने विवाद सौहार्द्रपूर्ण ढंग से निपटाएँगे तथा परमाणु अस्त्रों के फैलाव के खतरे को रोकने के लिए और उनमें कमी करते हुए अन्ततः उन्हें समाप्त करने के लिए कार्य करेंगे। जून, 1978 में भारत के तत्कालीन प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई अमेरिका के यात्रा पर गए। विदेश नीति के क्षेत्र में कार्टर कोई महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हासिल नहीं कर सके। फलतः नवम्बर, 1980 के राष्ट्रपति पद के चुनावों में उन्हें रोनाल्ड के हाथों पराजय का सामना करना पड़ा।

रोनाल्ड रीगन युग 1981-88

20 जनवरी, 1981 को रोनाल्ड रीगन ने अमेरिका के राष्ट्रपति के रूप में शपथ ली। राष्ट्रपति पद की शपथ लेते ही रीगन ने अमेरिका के मित्रों को आश्वासन दिया-

"हम अपनी मित्रता अपनी सार्वभौमिकता पर नहीं' थोपेंगे क्योंकि हमारी अपनी सार्वभौमिकता बिक्री के लिए नहीं है।" रीगन ने अमेरिका के प्रतिद्वन्द्वियों से कहा "शान्ति स्थापना के लिए वह बातचीत कर सकते हैं, बलिदान कर सकते हैं, लेकिन आत्मसमपर्ण कभी नहीं करेंगे।" रीगन ने पूर्व सोवियत संघ के प्रति आरम्भ से ही कठोर रवैये का परिचय दिया। मार्च, 1981 में रीगन ने कहा कि पूर्व सोवियत संघ को अपने प्रभाव और हस्तक्षेप के दायरे पर अंकुश लगाना चाहिए। 19 मई, 1982 को रीगन ने पूर्व सोवियत संघ के विरूद्ध चीन से एकता की अपील की। दोनों महाशक्तियों में तनाव बढ़ता गया, जिसकी चरम परिणति उस समय देखने को मिली, जब पूर्व सोवियत संघ ने अपने सीमा क्षेत्र में दक्षिण कोरियाई यात्री विमान को गिरा दिया। 11 मार्च, 1985 को सोवियत राष्ट्रपति कास्तातिन चैरनेन्को का देहान्त हो गया और गोर्बाच्योब कम्युनिस्ट पार्टी के नए महासचिव नियुक्त हुए। उन्होंने अमेरिका के साथ सम्बन्ध सुधारने के लिए निःशस्त्रीकरण के प्रश्न को प्राथमिक महत्व दिया। उन्होंने वाशिंगटन में रीगन के साथ एक संधि पर हस्ताक्षर किया

जिसके अनुसार यह तय हुआ कि दोनों महाशक्तियाँ यूरोप महाद्वीप से मध्यम तथा अल्प-दूरी के प्रक्षेपास्त्र हटा लेंगी और उनको नष्ट कर दिया जायेगा। संधि के अनुसार अमेरिका को 180 प्रक्षेपास्त्र और पूर्व सोवियत संघ को 693 प्रक्षेपास्त्र हटाने थे। अगला शिखर सम्मेलन 1 जून, 1988 को मास्को में सम्पन्न हुआ। इस सम्मेलन के बारे में गोर्बाच्योब ने कहा कि यह परमाणु निःशस्त्रीकरण की शुरूआत है। इस सम्मेलन में दोनों नेताओं के बीच इस बात पर सहमति हो गई कि घातक हथियारों में दोनों पक्ष 50 प्रतिशत की कटौती करेंगे।

रीगन के कार्यकाल के प्रथम वर्ष में अमेरिका और चीन के संबंधों में तनाव उभरा। 16 नवम्बर, 1981 को चीन ने स्पष्ट शब्दों में धमकी दी कि यदि अमेरिका ने ताइवान को हथियार दिये तो वह अमेरिका से अपना राजदूत वापस बुला लेगा। 1984 में अमेरिकी यात्रा के दौरान चीनी प्रधानमंत्री माओं जियांग ने अमेरिका के साथ सभी प्रकार के संबंध बढ़ाने पर बल दिया। उसी साल राष्ट्रपति रीगन ने पीकिंग के एक समारोह में कहा कि "अमेरिका को चीन के साथ अपने संबंधों पर गर्व है।" 1985 में चीन के राष्ट्रपति ली सियेन नियेन अमेरिका की राजकीय यात्रा पर गए। यह किसी चीनी राष्ट्रपति की प्रथम अमेरिका यात्रा थी।

रीगन प्रशासन का रवैया भारत-विरोधी रहा। उनके प्रशासन ने पाकिस्तान का आधुनिकतम स्तर पर सैन्यकरण किया। एफ-16 विमान पाकिस्तान को देने का निर्णय किया। राजीव गाँधी के प्रधान-मंत्री बनने के बाद अमेरिका ने भारत के प्रति कुछ लचीला रूख अपनाया। अमेरिका ने उस पी0 एल0 -480 समझौते को पुनर्जीवित कर दिया जो भारत पाक युद्ध के बाद से मृत पड़ा था। जून, 1985 में राजीव गाँधी अमेरिका गए, जिससे दोनों देशों के बीच सम्बन्ध-सुधार प्रक्रिया तेज हुई तथा सहयोग के कुछ क्षेत्रों का विस्तार हुआ।

राष्ट्रपति रीगन ने दो टूक यह बात कह दी कि कम्युनिस्टों को लेटिन अमेरिका में अपनी गतिविधियों को सीमित करने के लिए एक रेखा खींचनी होगी, लेकिन उन्होंने इस बात को नजर अंदाज कर दिया कि अमेरिका लेटिन अमेरिकी देशों में हस्तक्षेप बढ़ा रहा है। लेटिन अमेरिका में रीगन के सामने कुछ निर्धारित लक्ष्य थे। जहाँ एक ओर वे क्यूबा से फिदेल फास्त्रो का प्रभुत्व समाप्त करना चाहते थे वहीं निकारागुआ में डेनिअल औरतेगा की सैंडिनिस्ता सरकार को उखाड़ने के लिये भी उत्सुक और सन्नद्ध थे। वे औरतेगा विरोधी छापामारों को भरपूर आर्थिक सहायता दे रहे थे और शस्त्र भी पहुँचा रहे थे। रीगन ने होण्डुराज में निकारागुआ के कौन्ट्रा छापामारों की प्रशिक्षण की व्यवस्था की थी और वे वहाँ से शस्त्र और प्रशिक्षण लेकर निकारागुआ में प्रवेश करते थे। कौन्ट्रा विद्रोहियों को मिलने वाली अमेरिका की सहायता से लेटिन अमेरिका के प्रायः सभी देश अप्रसन्न थे। बाद में वहाँ लोकतांत्रिक सरकार की स्थापना हुई। इस प्रकार रीगन के कार्यकाल में अमेरिकी विदेश नीति में अनेक नूतन क्षितिज उजागर हुए।

जार्ज बुश युग 1989-92

20 जनवरी, 1989 को जार्ज बुश ने अमेरिका के राष्ट्रपति के रूप में शपथ ली। वे रिपब्लिकन दल के प्रत्याशी थे। उन्होंने विदेश नीति का निर्धारण तथा संचालन पूरे अनुभव और

आत्मविश्वास के आधार पर किया। रीगन ने पूर्व सोवियत संघ के साथ जिस शिखर राजनीति की शुरूआत की थी, उसे बुश ने भी जारी रखा। बुश ने महसूस किया कि यदि अमेरिका ने गोर्बाच्योव के ग्लास्नोस्त और पेरेस्त्रोइका कार्यक्रम को भरपूर समर्थन नहीं दिया तो पूर्व सोवियत संघ के नियंत्रण वाले पूर्वी-यूरोपीय देशों की स्वतंत्रता खटाई मे पड़ सकती है। जार्ज बुश ने राष्ट्रपति गोर्बाच्योव को जर्मनी के एकीकरण के लिए तैयार करने में सफलता प्राप्त की। दोनों देशों ने परमाणु हथियारों में कटौती की घोषणा कर शीतयुद्ध को कम करने की कोशिश की। पूर्व सोवियत संघ के विघटन के बाद बोरिस येल्तसिन रूस के राष्ट्रपति बने, जिन्हें अमेरिका ने अपना पूर्ण समर्थन दिया। येल्तसिन के नेतृत्व में रूस ने समाजवादी शासन व्यवस्था को नकारते हुए अमेरिका तथा अन्य पाश्चात्य देशों के साथ मधुर सम्बन्ध स्थापित करने की नीति को अपनाया।

जार्ज बुश के नेतृत्व में अमेरिका ने दक्षिणी अफ्रीका में रंगभेद को समाप्त करने की दिशा में उल्लेखनीय भूमिका का निर्वाह किया। उन्होनें चीन सम्बन्धी नीति में कोई फेरबदल नहीं किया। बुश की दूरदर्शिता के कारण लातीनी अमेरिकी देश निकारागुआ में गृह संघर्ष हो गया।

जार्ज बुश को लगा कि पाकिस्तान सैनिक दृष्टि से अत्यधिक शक्तिशाली होता जा रहा है और वह परमाणु बम बनाने की दिशा में तेजी से बढ़ रहा है। इसलिए उन्होंने उस पर आर्थिक तथा सैन्य प्रतिबंध लगाने की बात कही। वास्तव में पूर्व सोवियत सेनाओं की अफगानिस्तान से वापसी के बाद अमेरिका की यह विवशता समाप्त हो गई कि अफगान विद्रोहियों को शस्त्र और राहत पहुँचाने के लिए वह पाकिस्तान का इस्तेमाल करे। जार्ज ने भारत के प्रति पूर्व की अमेरिकी विदेश नीति को जारी रखा। बुश प्रशासन खाड़ी युद्ध में भाग लेने वाले अमेरिकी विमानों के लिए भारत से तेल भरने की सुविधा प्राप्त करने के बहाने भारत की गुटनिरपेक्ष नीति में सेंध लगाने और भारत को खाड़ी युद्ध में घसीटने की कोशिश कर रहा था, परन्तु भारत में चन्द्रशेखर के नेतृत्व वाली जनता दल (समाजवादी) की अल्पसंख्यक सरकार ने ऐसा नहीं होने दिया।

खाड़ी के देशों में ईरान के साथ अमेरिका के सम्बन्ध लम्बे समय से ख़राब रहे, परन्तु इराक के साथ उसकी शत्रुता नहीं थी। रीगन प्रशासन के दौरान ईरान-इराक युद्ध में अमेरिका ने इराक को शस्त्रों से सहायता भी की थी। अगस्त 1990 में इराक ने अपने पड़ोसी राष्ट्र कुवैत पर आक्रमण करके उसको अपने देश में विलय कर लिया। अमेरिका के नेतृत्व में बहुराष्ट्रीय सेनाओं ने इराक को कुवैत छोड़ने के लिए बाध्य किया। कुवैत को पुनः स्वतंत्र देश के रूप में प्रतिष्ठित किया गया।

जार्ज बुश के नेतृत्व में अमेरिका ने अपनी मध्य पूर्व संबंधी नीति में परिवर्तन करते हुए यह मान लिया कि फिलिस्तीनी समस्या का समाधान किए बिना इस क्षेत्र में स्थायी शान्ति सम्भव नहीं है। 1991 में मैड्रिड सम्मेलन तथा 1992 में वाशिंगटन वार्ता के जरिए अमेरिका ने मध्य पूर्व सोवियत संघ के विघटन के कारण विश्व में द्वि-ध्रुवीय राजनीति का अवसान हुआ तथा अमेरिका विश्व की एकमात्र महाशक्ति के रूप में उभरा। यह जार्ज बुश की रणनीति की बहुत बड़ी सफलता थी। जार्ज बुश ने गर्वोक्ति के साथ कहा था, "शीतयुद्ध समाप्त हो गया है और हम इस युद्ध में

विजयी रहे हैं।" जार्ज बुश के नेतृत्व में अमेरिका की शक्ति में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई तथा सारे विश्व पर अमेरिका का वर्चस्व स्थापित हो गया।

बिल क्लिंटन युग 1993-2001

20 जनवरी, 1993 को डेमोक्रेटिक पार्टी के क्लिंटन ने अमेरिका के राष्ट्रपति के रूप में शपथ ली। क्लिंटन अपने पूर्ववर्ती राष्ट्रपतियों द्वारा प्रतिपादित विदेश नीति के अनुरूप ही आचरण करते रहे तथा अपनी विदेश नीति में कोई आधारभूत परिवर्तन नहीं कर सके।

क्लिंटन ने रूस के राष्ट्रपति येल्तसीन की नीतियों और कार्यशैली को समर्थन दिया। 1990 से यूरोप में एक के बाद एक क्रान्तिकारी घटनाएँ हुई। जर्मनी का एकीकरण, पूर्वी यूरोप के देशों में साम्यवाद का पतन, पूर्व-सोवियत संघ का विघटन तथा शीतयुद्ध की समाप्ति, पूर्वी युरोप के देशों में लोकतंत्रवादी प्रवृत्ति का अभ्युदय, युगोस्लाविया का विघटन, वारसा संधि संगठन की समाप्ति, चैकोस्लोवाकिया का चेक तथा युगोस्लाविया गणराज्य के रूप में विभाजन, युगोस्लाविया से अलग हुए गणराज्यों का अशान्त क्षेत्र बने रहना, संगठन के अस्तित्व के बावजूद उसकी परिवर्तित भूमिका तथा मास्ट्रिश्ट संधि के अनुमोदन के बाद युरोपीय एकीकरण की नवीन सम्भावनाओं ने युरोपीय राजनीति में नई सम्भावना तथा प्रवृत्तियों को जन्म दिया। अमेरिका युरोप में होनें वाले इन परिवर्तनों के परिप्रेक्ष्य में अपनी विदेश नीति के आयाम निर्धारित करता रहा। अमेरिका ने युरोपीय एकीकरण के इन सभी प्रयासों का समर्थन किया।

क्लिंटन खाड़ी-क्षेत्र में अमेरिकी प्रभाव और प्रभुत्व को बनाये रखने के लिए कृत संकल्प रहे। दक्षिणी एशियाई क्षेत्र में उन्होनें विशेष रूचि दिखाई। इस क्षेत्र में परमाणु प्रसार को रोकना, भारत तथा पाकिस्तान के मध्य तनाव को कम करना, मानवाधिकारों की सुरक्षा करना, नशीले पदार्थों की तस्करी पर अंकुश लगाना और आतंकवाद पर नियंत्रण स्थापित करना अमेरिकी विदेश नीति के मुख्य लक्ष्य रहे। क्लिंटन ने भारत के प्रक्षेपास्त्र कार्यक्रम को प्रभावित करने की दृष्टि से उसके रूस के साथ हुए क्रायोजनिक रॉकेट सौदे को निरस्त कराया।

परमाणु अप्रसार सन्धि (NPT) पर जिन राष्ट्रों ने हस्ताक्षर नहीं किये, उन राष्ट्रों पर दबाव डालकर हस्ताक्षर कराना, अमेरिकी विदेश नीति का एक प्रमुख लक्ष्य रहा है। इस नीति के तहत ही भारत, पाकिस्तान तथा उत्तरी कोरिया पर अमेरिका निरन्तर इस बात का दबाव डालता रहा कि वे इस पर हस्ताक्षर करें, परन्तु उसे सफलता नहीं मिला। पूर्ववर्ती राष्ट्रपतियों की तरह क्लिंटन की आणविक हथियारों की होड़ को सीमित करने तथा निःशस्त्रीकरण की प्रक्रिया को आगे बढाने में लगे रहे। उन्होनें अपने देश के आणविक हथियारों के उत्पादन खर्च में भी कटौती की। क्लिंटन ने रूस, युक्रेन तथा बेलारूस के साथ परमाणु हथियारों को सीमित करने संबंधी एक समझौते पर हस्ताक्षर किए।

पूर्व सोवियत संघ के पतन के साथ संयुक्त राष्ट्र (The U.N.) पर संयुक्त अमेरिका का वर्चस्व स्थापित हो गया। सुरक्षा परिषद पर अमेरिका का पूर्ण नियंत्रण रहा और उसने इससे

मनचाहे प्रस्ताव पारित करवाए। इराक, लीबिया तथा हैती के संदर्भ में अमेरिका ने अपने स्वार्थों के अनुरूप प्रस्ताव पारित करवा करके इसके महत्व और गरिमा को कम किया।

मानवाधिकारों की सुरक्षा क्लिंटन की विदेश नीति की एक महत्वपूर्ण विशेषता रही। क्लिंटन ने अपने चुनाव प्रचार के समय बार-बार इस बात को इंगित किया कि वे लोकतंत्र तथा मानवाधिकारों के संरक्षण की दिशा में प्रयत्नशील रहेंगे। उन्होंने यह भी कहा कि वे मानवाधिकारों का हनन करने वाले देशों को अलग-अलग करने का प्रयास करेंगे। 14 जून 1993 को वियना में सम्पन्न हुए मानवाधिकार सम्मेलन में अमेरिकी प्रतिनिधि ने इसी प्रकार विचार व्यक्त किये थे।

क्लिंटन के नेतृत्व में अमेरिकी विदेश नीति का लक्ष्य सभी स्तरों पर अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद का विरोध करता रहा। उनके कार्यकाल में अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद को प्रोत्साहित करने वाले पाँच देशों- क्यूबा,ईरान, इराक, उत्तरी कोरिया तथा लीबिया की सम्पत्ति भी जब्त कर ली गई। अमेरिका ने भारत में आतंकवादी गतिविधियों को प्रोत्साहित करने के कारण अनेक अवसरों पर पाकिस्तान के प्रति अपनी नाराजगी प्रदर्शित की। अमेरिका ने सूडान को आतंकवादी राष्ट्रों की सूची में डाला। क्लिंटन मुस्लिम आतंकवाद के विरूद्ध अधिक मुखरित हुए।

20 जनवरी, 1997 को बिल क्लिंटन ने दूसरी बार राष्ट्रपति के रूप में शपथ ली। उन्होंने रिपब्लिकन पार्टी के प्रत्याशी सीनेटर बाब डोल को हराया। इस पर क्लिंटन ने राजनीति को किनारे करते हुए अमेरिकी के भविष्य के लिए काम करने की घोषणा की। बोरिस येल्तसिन को अत्यधिक महत्व देने के लिए क्लिंटन आलोचना का शिकार हुए। बोस्निया, सोमालिया, हैती, पाकिस्तान तथा चीन सम्बन्धित उनके विदेश नीति की भी आलोचना हुई। आलोचकों द्वारा उनकी नेतृत्व क्षमता पर प्रश्न चिन्ह लगाया गया। उनका तर्क था कि क्लिंटन में अमेरिका जैसी विश्व की एक-मात्र महाशक्ति का नेतृत्व करने की न तो वांछित क्षमता है और नही सामर्थ्य। आलोचकों का यह भी कहना था कि क्लिंटन द्वारा अपनी विदेश नीति के सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य में मानवाधिकारों तथा लोकतंत्र की बात करना तो सहज है, लेकिन इसका आचरण-पक्ष बहुत दुष्कर है। अमेरिका का निःशस्त्रीकरण की नीति का ढोंग पीटना भी एक पाखण्ड सिद्ध हुआ। व्यापक अप्रसार सन्धि पर हस्ताक्षर करने के बावजूद परमाणु विस्फोट करना इस तथ्य का परिचायक था। अमेरिका विश्व में अपना आर्थिक साम्राज्यवाद स्थापित करने का प्रयास करता रहा जिसे न्यायसंगत नहीं माना जा सकता। अमेरिकी विदेश नीति के आलोचकों का कहना है कि विश्व मामलों में बिल क्लिंटन 'कागजी शेर' बनकर रह गए।

जार्ज बुश (जूनियर) युग 20 जनवरी, 2001 से वर्तमान तक

अमेरिका के राष्ट्रपति जार्ज बुश ने 'ग्लोबल वार्मिंग' के नियंत्रण से संबंधित क्योटो संधि से अपने को मार्च, 2001 के अंतिम सप्ताह में अलग कर लिया। इस सम्बन्ध में बुश ने कहा कि अमेरिका में ऊर्जा की कमी को देखते हुए यह संधि अमेरिका के किसी हित की पूर्ति नहीं करती।

आतंकवाद के इतिहास की अब तक की सर्वाधिक बर्बर कार्यवाही के अन्तर्गत 11

सितम्बर, 2001 को न्यूयार्क स्थित 'वर्ल्ड ट्रेड सेंटर' और वाशिंगटन स्थित पेंटागन' के भवनों को भारी हानि पुहँचाई गई। इस आतंकवादी हमले में 6000 से अधिक लोग मारे गए। अमेरिका के राष्ट्रपति जार्ज बुश ने इस चुनौती का कड़ा मुकाबला करने की घोषणा की। 7 अक्टूबर, 2001 से सैनिक कार्यवाही कर अफगानिस्तान से तालिबान शासकों का सफाया कर दिया। दिसम्बर 2001 के प्रथम सप्ताह में अफगानिस्तान में हामिद किरजई के नेतृत्व में अन्तरिम सरकार की स्थापना की गई, किन्तु आतंकवादी हमले का सूत्रधार अल-कायदा के ओसामा बिन लादेन अभी तक पकड़ में नहीं आ पाया है। 13 दिसम्बर 2001 को भारतीय संसद और 22 जनवरी, 2002 को कोलकाता स्थित अमेरिकी सेंटर पर आतंकवादी हमले ने भारत और अमेरिका को आतंकवाद के खिलाफ संघर्ष हेतु मजबूर कर दिया है। भारत और अमेरिका का आतंकवाद-विरोधी एक संयुक्त कार्यदल है, जिसकी स्थापना जनवरी, 2000 में की गई थी। अमेरिका ने अपने कानून के अन्तर्गत, लश्कर-ए-तोइबा, जैश-ए-मोहम्मद तथा हरकत-उल-मुजाहिद्दीन जैसे पाकिस्तान आधारित आतंकवादी संगठनों को अवैध घोषित कर दिया है। 16 अक्टूबर, 2003 को अमेरिका ने दाऊद इब्राहिम को विशेष रूप से नामित सार्वभौमिक आतंकवादी घोषित किया। इस मनोनयन में दाऊद इब्राहिम के अंडरवर्ल्ड और आतंकवादी सम्पर्क, भारत को अस्थिर करने के उसके प्रयास, वर्ष 1993 में मुम्बई बमकाण्ड में उसकी सक्रियता तथा लश्कर-ए-तोइबा को उसके समर्थन की पहचान की गई। इसके फलस्वरूप उसके नाम को संयुक्त राष्ट्रों की सूची में भी शामिल कर लिया गया। आतंकवाद के खिलाफ लड़ाई में पाकिस्तान का मदद पाने हेतु अमेरिका ने उसका एक अरब डालर का ऋण माफ कर दिया। उसकी सुरक्षा व्यवस्था में सुधार के उद्देश्य से अमेरिका ने 20अगस्त, 2003 को पाकिस्तान को छः सी- 130 मालवाहक युद्धक विमान बेचने पर अपनी सहमति व्यक्त कर दी।

5 सितम्बर, 2003 को राज्य सचिव कोलिन पावेल के विदेश नीति भाषण में भारत का वर्णन विश्व शक्ति के रूप में किया गया तथा कहा कि अमेरिका भारत के साथ अपने सम्बन्ध बढ़ाने पर अवश्य ध्यान देगा। सचिव पावेल ने पाकिस्तान के साथ शांति संवाद को आगे बढ़ाने के भारत के प्रयासों की सराहना की और माना कि नियंत्रण रेखा के आर-पार शीत माह के अलावा भी सीमा पर गतिविधियाँ स्थायी रूप से बंद की जानी चाहिए। 24 मई, 2002 को रूस व अमेरिका के मध्य व्यापक विनाश के नाभिकीय हथियारों के अप्रसार तथा इनमें दो-तिहाई कटौती करने से संबंधित एक ऐतिहासिक संधि पर हस्ताक्षर हुए। विश्व के दो शक्तिशाली देशों के प्रमुखों ने वर्ष 2012 तक अपने वर्तमान 6-6 हजार नाभिकीय शस्त्रों में भारी कटौती कर इन्हें 700-2200 के बीच लाने पर सहमति व्यक्त की।

मई, 2002 में एक महत्वपूर्ण फैसले में अमेरिका व युरोपीय संघ ने घोषणा की कि आतंकवादियों और उनके समर्थकों के बैंक खाते सील करने की संयुक्त कार्यवाही की जायेगी। अमेरिका और युरोपीय संघ ने आतंकवादियों और उनके समर्थकों की एक सूची पर कार्यवाही करते हुए संयुक्त रूप से 161 देशों में 8.2 करोड़ डालर के बैंक खाते और सम्पत्ति सील की है। अमेरिकी वित्त विभाग ने घोषणा की कि इसने 210 आतंकवादी संगठनों और लोगों की लगभग 3.4 करोड़ डॉलर की सम्पत्ति सील की है। अमेरिकी वित्त विभाग के अनुसार युरोपीय संघ की सूची में 18 आतंकवादी संगठन शामिल है।

20 जनवरी, 2005 से जार्ज बुश (जूनियर) का राष्ट्रपति के रूप में द्वितीय पारी शुरू हुआ है। 18 जुलाई, 2005 को भारत ने अमेरिका के साथ नागरिक उपयोग के लिए परमाणु सहयोग समझौता किया है। इस समझौते को गति प्रदान करने हेतु अमेरिका के राष्ट्रपति जार्ज बुश एक उच्च स्तरीय शिष्टमंडल के साथ 1-3 मार्च, 2006 को भारत की यात्रा पर रहे। यह उनकी पहली तथा किसी अमेरिकी राष्ट्रपति की भारत की पाँचवीं यात्रा थी।

बातचीत के बाद जारी संयुक्त घोषणा-पत्र में भारत व अमेरिका के परमाणु ऊर्जा क्षेत्र में सहयोग को 18 जुलाई, 2005 के समझौते के कार्यान्वयन के प्रति प्रतिबद्धता दोनों पक्षों ने व्यक्त की है। इस समझौते के तहत भारत अपने सैन्य उपयोग वाले परमाणु संयंत्रों को अलग कर असैन्य उपयोग वाले सभी संयंत्रों को अन्तर्राष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेंसी (IAEA) की निगरानी के अधीन लाने को सहमत हुए। इनके लिए सुरक्षात्मक मानकों के निर्धारण हेतु भारत द्वारा आई0ए0ई0ए0 से अनुरोध किया जाएगा। इससे असैन्य उपयोग वाले परमाणु संयंत्रों के लिए अमेरिका के साथ-साथ नाभिकीय आपूर्ति समूह (Nuclea Supplier's Group -NSG) का सहयोग भारत को प्राप्त हो सकेगा। इसके लिए अमेरिकी कानून में बदलाव के लिए कांग्रेस (संसद) को राष्ट्रपति बुश को मानना होगा। नाभिकीय सहयोग के लिए अपने दिशा निर्देशों में समायोजन के लिए एन0एस0जी पर भी दबाव अमेरिकी राष्ट्रपति अब बनाएँगे। परमाणु ऊर्जा क्षेत्र में हुई ताजा सहमति के तहत भारत अपने कुल 22 मौजूदा परमाणु संयंत्रों में से 14 को अंतर्राष्ट्रीय निगरानी के अधीन लाएगा। कोई भी फास्ट ब्रीडर रिएक्टर निगरानी में नहीं लाया जायेगा तथा भविष्य में स्थापित होनें वाले किसी भी रिएक्टर की श्रेणी (सैन्य अथवा असैन्य) तय करने का अधिकार भारत का होगा। परमाणु ऊर्जा क्षेत्र में इस सहमति के अतिरिक्त कृषि, अन्तरिक्ष, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी, ऊर्जा, स्वास्थ्य आदि के संबंध में कई अन्य समझौतों पर हस्ताक्षर भी दोनों पक्षों में हुए।

14.5 अमेरिका की विदेश नीति की आधुनिक प्रवृत्तियाँ

राष्ट्रपति ट्रूमैन से लेकर जार्ज (जूनियर) तक की अमेरिकी विदेश नीति का विश्लेषण करने के बाद यह कहा जा सकता है कि अमेरिकी विदेश नीति का वास्तविक उद्देश्य विश्व पर अपना सामरिक, व्यापारिक, सांस्कृति, आर्थिक, वैज्ञानिक एवं सामाजिक प्रभाव स्थापित करना रहा है। इसके लिए अमेरिका ने निम्नलिखित मार्ग अपनाए-

(i) सम्पूर्ण विश्व में सामरिक अड्डों का विस्तार,

(ii) थल, जल एवं अन्तरिक्ष में गुप्तचर तंत्र का जाल,

(iii) विश्वव्यापी संचार तंत्र का प्रभाव,

(iv) द्विपक्षीय अथवा बहुपक्षीय सामरिक, आर्थिक, व्यापारिक, साँस्कृतिक, वैज्ञानिक एवं तकनीकी समझौते की भरमार,

(v) अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं पर नियंत्रण,

(vi) साम्यवाद का विस्तार रोकने के नाम पर विश्व भर में सैनिक गुटबंदी तथा दूसरे राष्ट्रों में

आन्तरिक मामलों में परोक्ष रूप से हस्तक्षेप का प्रयास,

(vi) मानवीय अधिकारों की रक्षा एवं स्वहित-रक्षण की आड़ में छोटे देशों पर अपनी चौधराहट की कोशिश।

अमेरिकी परम्परा व समसामयिक परिवर्तन

1776 में अमेरिका को स्वतंत्रता प्राप्त होने के बाद उसनें लोकतंत्र को अपनी शासन व्यवस्था का आधार बनाया। अमेरिका में अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था का प्रचलन है। इस लोकतांत्रिक व्यवस्था में व्यक्ति-स्वतंत्रता पर बहुत बल दिया गया है। लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था ने देश की विदेश नीति के स्वरूप और लक्ष्यों को भी प्रभावित किया है। अतः अमेरिकी विदेश नीति का लक्ष्य साम्यवाद का अवरोध, पाश्चात्य यूरोप के लोकतांत्रिक राष्ट्रों के साथ सहयोग करना, लोकतंत्र की रक्षा के नाम पर हस्तक्षेप की कूटनीति का सहारा लेना तथा लोकतांत्रिक गुट का नेतृत्व करना बन गया। अमेरिका एक पूँजीवादी देश है। अमेरिकी राष्ट्रपतियों ने अपनी विदेश नीति का निर्धारण करते समय देश के पूँजीवादी स्वरूप को केन्द्र-बिन्दु बनाया। सभी राष्ट्रपतियों की कार्यशैली ने अमेरिका के 'पूँजीवादी व्यक्तित्व' को ही निखारा।

अमेरिका की विदेश नीति को प्रभावित करने में सम-सामयिक परिवर्तनों (Contemporary Shifts) की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व विश्व राजनीति में अमेरिका की सीमित भूमिका था। वह विश्व-राजनीति में अलगाव वादी नीति' (Policy of Isolation) का अनुसरण करता था, लेकिन द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद हुए परिवर्तनों ने अमेरिका को अपनी विदेश नीति में आधारभूत परिवर्तन करने के लिये बाध्य किया। अब अमेरिका विश्व की एक महाशक्ति के रूप में उभर कर सामने आया है तथा महाशक्ति के रूप में खुलकर विश्व-राजनीति में भाग लेने लगा है। पूर्व सोवियत संघ के महाशक्ति के रूप में अभ्युदय ने विश्व-राजनीति के स्वरूप में आधारभूत परिवर्तन ला दिया था। इसके साथ ही विश्व में द्वि-ध्रुवीय राजनीति (Pri-Polar Politics) और 'शीत युद्ध की राजनीति' (Politics of cold war) का विकास हुआ था। इस परिवेश में अमेरिका की विदेश नीति में परिवर्तन हुए और उसने शीतयुद्ध में साम्यवाद के अवरोध, सैनिक अड्डों की स्थापना तथा पूर्व सोवियत संघ के प्रभुत्व को रोकने के लिए 'सहायता की कूटनीत' (Diplomcy of Aid) का सहारा लिया 1962 के क्यूबा संकट के बाद शीतयुद्ध में शिथिलता आई। इसके साथ ही अमेरिका ने 'तनाव शैथिल्य' (Detente) की प्रक्रिया का सहारा लिया। 1991 में पूर्व सोवियत संघ के विघटन के साथ ही शीतयुद्ध की समाप्ति हुई। इसमें अमेरिका विजयी रहा। इसके साथ ही 'एक-ध्रुवीय विश्व' (Uni-Polar World) की अवधारणा का अभ्युदय हुआ। फलस्वरूप बदले हुए संदर्भ में अमेरिकी विदेश नीति में पुनः परिवर्तन हुए। वर्तमान में यह 'विश्व पुलिसमैन' (World Policeman) की भूमिका का निर्वाह कर रहा है।

गठबंधनों की कूटनीति

अमेरिकी ने शीतयुद्ध के समय अपनी शक्ति में वृद्धि करने हेतु विभिन्न "सैनिक-गठबंधनों' (Military Alliance) का निर्माण किया। उसने युरोप, एशिया, पूर्वोत्तर अफ्रीका तथा

लैट्रिन अमेरिका पर पूर्व सोवियत संघ के विस्तार को रोकने के लिए विभिन्न सैनिक गठबन्धनों का निर्माण किया। नाटों, सीएटो, सेन्टों तथा एन्जुस जैसे गठबन्धनों को इस श्रेणी में रखा जा सकता है। इस सब में प्रभावशाली संगठन 'नाटो' है, जिसका अस्तित्व आज भी प्रभावशाली रूप से बना हुआ है। बाकी सैनिक गठबन्धनों की उपयोगिता और सार्थकता के आगे चिन्ह लग गया है।

सामरिक शक्ति के विकास की नीति

अमेरिका आज अतुलनीय सामरिक शक्ति से सम्पन्न है। अमेरिका ने अपने परमाणु आयुधों को विभिन्न क्षेत्रों में स्थापित कर रखा है। उसने युरोप और पूर्वोत्तर अफ्रीका पर साम्यवादी विस्तार रोकने के लिए अटलांटिक महासागर व भूमध्य सागर में अपने नौसैनिक बेड़े स्थापित किए हैं। इस क्षेत्र में अमेरिकी हितों को संरक्षण देने के लिए मिश्र, सोमालिया, इजरायल, जोर्डन आदि के साथ उसके सैनिक समझौते हैं। उसने इजराइल के साथ नई सैनिक सन्धि करके वहाँ आधुनिक आयुधों का भण्डार बनाने की सुविधा प्राप्त कर ली है। और वह इस क्षेत्र मे निरन्तर निगरानी रखता है। मिस्त्र और इजराइल की सेनाओं के साथ उसके युद्धाभ्यास भी होते रहते हैं। पश्चिम एशिया, उत्तरी व पूर्वी अफ्रीका के देश अमेरिका के लिए महत्वपूर्ण है। एक तो इस क्षेत्र के तेल पर अमेरिका तथा पश्चिमी जगत के अन्य देशों का जीवन निर्भर है, दूसरी ओर यह क्षेत्र हिन्द महासागर व अटलांटिक महासागर को जोड़ता है। हिन्द महासागर में स्थित अमेरिका के डियागोर्सिया नौ-सैनिक अड्डे तक जाने का मार्ग यहीं से हैं। अमेरिका नाटो सन्धि द्वारा पश्चिमी युरोप से प्रत्यक्ष रूप से जुड़ा हुआ है। जर्मनी व तुर्की के अड्डे तो अमेरिका के प्रतीक है ही, इसके अतिरिक्त ब्रिटेन, इटली, ग्रीस नीदरलैंड आदि में भी अमेरिकी आयुध विद्यमान है। कैरिबियन सागर के द्वीप तथा अधिसंख्यक मध्य एवं दक्षिण अमेरिकी द्वीप सैन्य शक्ति से जुड़े हैं। अमेरिका का सातवाँ नौ-सैनिक बेड़ा प्रशान्त महासागर में तैनात है। परमाणु शस्त्रों से युक्त यह बेड़ा सम्पूर्ण पूर्वी एशिया व प्रशान्त महासागर मे अमेरिकी हितों का संरक्षक है। दक्षिणी प्रशान्त, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड के क्षेत्र में भी इसके युद्धपोत लाने की सुविधा दे रखी है। ताइवान, दक्षिण-कोरिया और जापान के बन्दरगाहों पर युद्धपोतों का आवागमन निरंतर बना रहता है।

दक्षिणी एशिया में अमेरिकी विदेश नीति का सबसे बड़ा शिकार भारत हुआ है। अमेरिका ने भारत के चतुर्दिक बसे छोटे-छोटे देशों को अपने वैभव-जाल में फाँस रखा है। पाकिस्तान को अमेरिका से सर्वाधिक आर्थिक और सामरिक सहायता मिली है। चूँकि चीन और पाकिस्तान दोनों ही अमेरिका के मित्र देश हैं, अतः उनका सामना भारत को स्वयं ही करना है।

अमेरिका के पूँजीवादी व्यक्तित्व का अनुरक्षण

अमेरिका के राष्ट्रपतियों ने अपनी नीतियों से देश के 'पूँजीवादी व्यक्तित्व' का अनुरक्षण किया है। वर्तमान मे भी अमेरिकी विदेश नीति इसके 'पूँजीवादी व्यक्तित्व' की सुरक्षा करने की दिशा में कृत संकल्प है। वह पूँजीवादी राष्ट्र के रूप में 'संरक्षणवाद की नीति' पर चल रहा है। विकासशील राष्ट्र अमेरिकी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के शोषण के शिकार बन रहे हैं।

संयुक्त राष्ट्र (The U.N.) की स्थापना में अमेरिका का महत्वपूर्ण योगदान रहा है और उससे सम्बद्ध महासभा, सुरक्षा परिषद, आर्थिक एवं सामाजिक परिषद, न्यास परिषद (Trusteeship Council) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय और सचिवालय के विकास में भी अमेरिकी सहयोग उल्लेखनीय रहा है। दूसरी ओर, संयुक्त राष्ट्र की विफलता के लिए भी अमेरिका कम उत्तरदायी नहीं है। चूँकि रूस कई दृष्टियों से संयुक्त राष्ट्र को उस तरह प्रभावित नहीं कर सका जिस रूप में अमेरिका कर सका है, अतः संयुक्त राष्ट्र से संबंधित संगठन प्रायः अमेरिका की इच्छानुसार ही चलते रहे हैं। इसी प्रकार अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों जैसे विश्व-बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ, विश्व खाद्य संगठन, युनीसेफ, यूनिडो, यूनेस्को आदि को भी अमेरिका ही सर्वाधिक प्रभावित करता है। पूर्व सोवियत संघ के विघटन के बाद से अमेरिका का संयुक्त राष्ट्र पर पूर्ण वर्चस्व स्थापित हो गया है। अमेरिका के दबाव के कारण ही संयुक्त राष्ट्र इराक, लीबिया तथा हैती पर आर्थिक प्रतिबंध आरोपित करने में सफल हुआ।

राष्ट्रपति सर्वोपरि

विश्व के सभी देश अपने राष्ट्रीय हितों की रक्षा के लिए अन्य देशों की जासूसी करते हैं। लेकिन अमेरिका की सेन्ट्रल इंटेलीजेंस एजेन्सी (सी0आई0ए0) तो अन्य शब्दों में हत्याएँ कराने, सरकारें उलटने तथा अन्य अनैतिक माध्यम से भी जासूसी करता है। अमेरिकी हितों की रक्षा के लिए अमानवीय हथकण्डे अपनाने के लिए कुख्यात है। अमेरिका उपग्रहों के माध्यम से भी जासूसी करता है। कभी-कभी शिक्षा, पर्यटन, धर्म आदि का सहारा लेकर भी (C.I.A.) दूसरे देशों मे अपना जाल फैला लेती है।

विश्व-शान्ति और निःशस्त्रीकरण के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण

विश्व-शान्ति, शस्त्र परिसीमन, निःशस्त्रीकरण आदि के नारे लगाने में अमेरिका को रूस के पीछे चलना पड़ा है, किन्तु इस मामले में उसका दृष्टकोण व्यवहारिक रहा है। वह विश्व-शान्ति के लिए शक्ति-संतुलन को अनिवार्य मानता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में वह अपनी शक्ति की भूमिका और उसके महत्व पर बल देता है।

वैदेशिक सहायता का उदारीकरण

शीतयुद्ध के दिनों में अमेरिका ने पूर्व सोवियत प्रभाव रोकने के लिए ही द्वितीय विश्व के देशों को प्रचुर मात्रा में सैनिक, आर्थिक तथा तकनीकी सहायता प्रदान की। अनेक अवसरों पर अमेरिका ने अन्य देशों को सहायता देते समय अनेक प्रकार की शर्तें भी आरोपित कर दीं। वर्तमान में अमेरिका वैदेशिक सहायता प्रदान करते समय उदारता से कार्य कर रहा है, लेकिन वह ऐसा करते समय मानवाधिकारों का संरक्षण करने, आतंकवाद का समर्थन नहीं करने तथा आणविक अप्रसार संधि पर हस्ताक्षर करने जैसी शर्तें रखता है।

अमेरिका ने लोकतंत्र बहाली के नाम पर अनेक बार अपने पड़ोसी देशों में हस्तक्षेप किया

है। दूसरे विश्व युद्ध के बाद भी यह सिलसिला चलता रहा। उसने 1983 में ग्रेनेडा में और 1989 में पनामा में हस्तक्षेप किया 1947 तक हैती में अमेरिकी हस्तक्षेप जारी रहा। राष्ट्रपति फ्रेंकलिन डी0 रूजवेल्ट ने हैती के संविधान का प्रारूप तैयार कराया था। अमेरिका ने 1965 में डोमिनिकन गणराज्य में दखल दिया। राष्ट्रपति लिंडन बी0 जानसन ने हस्तक्षेप को यह कहते हुए जायज ठहराया था कि डोमिनिकन गणराज्य में उन्हें अमेरिकी नागरिकों की रक्षा करनी है। ग्रेनेडा में 25 अक्टूबर 1983 को अमेरिका के 1990 सैनिक उतरे। तत्कालीन राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन ने इस हमले का कारण ग्रेनेडा में लोकतंत्र की बहाली और अमेरिकी नागरिकों की रक्षा करना बताया।

मानवाधिकारों की कूटनीति

क्लिंटन ने अपनी विदेश नीति में 'मानवाधिकारों' को अधिक महत्व दिया। उसने अपनी पूरी एशिया-नीति को मानवाधिकार कूटनीति से जोड़ दिया था। मानवाधिकार के नाम पर आर्थिक व स्मारक शक्ति बना अमेरिका दुनियाँ को नैतिक-शक्ति होने का अहसास करवाना चाहता है। वह सोचता है कि इस प्रकार वह एशियाई देशों की हीन ग्रंथि को जागृत कर सकता है।

आतंकवाद का विरोध

अमेरिका सभी स्तरों पर अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद का विरोध करता है। वह आतंकवाद कर समर्थन करने वाले देशों के प्रति कठोर रूख अपना रहा है और उनकी सम्पत्ति को जब्त करने तथा उन्हें आर्थिक सहायता से वंचित करने की नीति पर चल रहा है।

विश्व के एकछत्र नेता की भूमिका

पूर्व सोवियत संघ के विघटन के बाद अमेरिका ही विश्व की एकमात्र महाशक्ति रह गयी है, अतः विश्व राजनीति में उसका रूतबा और दबदबा बहुत अधिक बढ़ गया है। वह 'विश्व के नेता' की भूमिका का निर्वाह कर रहा है।

14.6 सारांश

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि संयुक्त राज्य अमेरिका विश्व की एक महानतम शक्ति है। अपनी विशाल आर्थिक और सैनिक सहायता द्वारा अमेरिका ने अपने लिए एक विशाल प्रभाव क्षेत्र स्थापित करने की चेष्टा की है जिसमे वह काफी हद तक सफल भी हुआ है। अमेरिका इस बात से परिचित है कि आज के वैश्विक परिवेश में युद्ध पूर्व साम्राज्यवादी व्यवस्था को कायम नही' किया जा सकता किन्तु वह अपने आर्थिक साम्राज्य के प्रसार तथा दुनिया भर में अपने सैनिक अड्डे स्थापित करने को प्रयत्नशील रहता है। अमेरिका विश्व का एक महान् लोकतंत्रात्मक देश है, लेकिन युरोप, लेटिन अमेरिका, अफ्रीका और एशिया के नस्लवादी तथा सैनिक-तानाशाही मूलक शासन-व्यवस्थाओं वाले राष्ट्रों को उसका पूरा समर्थन प्राप्त

होता रहा है। संसार के गुट-निरपेक्ष राज्य उसे खटकते हैं और वह अपनी आर्थिक सम्पदा के बल पर उन्हें खरीदने की कोशिश करता है। अमेरिका की विदेश नीति को काल्पनिक आदर्शों की दृष्टि से देखने की बजाय यदि राष्ट्रीय हितों की सिद्धि तथा शक्ति सम्पन्नता की कसौटियों पर कसा जाए तो वह मोटे तौर पर अमेरिका के लिए खरी उतरती है। पूर्व सोवियत संघ के विघटन के बाद तथा वैश्विक अर्थव्यवस्था के परिवेश में अमेरिकी विदेश नीति की भूमिका और भी अहम् हो गई है।

14.7 संदर्भ ग्रंथ

1. बी0 एम0 जैन : प्रमुख देशों की विदेश नीतियाँ
2. David Ryan : U.S. Foreign Policy in World History
3. Rogev Buckley : The United States in the Asia-Pacific since 1945
4. Geir Lundestad : The American ``Empire"
5. Almond, Gabriel: The American People and Forgin Policy
6. Ambrose, H. : Rise to Globaism: American Foreign Policy
7. Bandy, William P. : Two Hundred years of American Foreign Policy
8. Spanier, J. : American Foreign Policy since World War II
9. Voclee, William C : American Foreign Policy: An Analytical Approach.
10. Stuepak, Ronald J : American Foreign Policy: Assumption, Processes and Projections.
11. R.J. Art and S. Brown (eds), U.S. Foreign Policy: The Search for a New Role
12. J. Dllmbrell, American Foreign Policy: Canter to Linton

14.8 संबंधित प्रश्न

दीर्घ-उत्तरी प्रश्न

1. आतंकवाद समाप्त करने के संदर्भ में अमेरिकी विदेश नीति की विवेचना कीजिए।
2. अमेरिकी विदेश नीति के लक्ष्य एवं आधुनिक प्रवृत्तियाँ पर प्रकाश डालें।
3. अमेरिकी विदेश नीति के संचालन में रोनाल्ड रीगन की भूमिका का मूल्यांकन कीजिए।

लघु-उत्तरी प्रश्न

1. अमेरिकी विदेश नीति में 'पूंजीवादी व्यक्तित्व' की भूमिका
2. अमेरिकी विदेश नीति में 'मानवाधिकार तत्व' की भूमिका
3. अमेरिकी विदेश नीति में बिल क्लिंटन युग पर प्रकाश डालें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. एक आत्मनिर्भर यूरोपीय अर्थव्यवस्था की स्थापना अमेरिका ने कौन सी योजना क्रियान्वित की-

   (a) ट्रूमैन योजना (b) मार्शल योजना

   (c) प्रसार-निरोध योजना (d) कोमिनफार्म योजना

2. अमेरिका विदेश नीति में 'चार सूत्री कार्यक्रम' की घोषणा किस राष्ट्रपति के द्वारा की गई-

   (a) हेनरी ट्रूमैन (b) रिचर्ड निक्सन

   (c) जिम्मी कार्टर (d) बिल क्लिंटन

3. 'वाटरगेट काण्ड' किस राष्ट्रपति के कार्यकाल मे घटित हुआ।

   (a) लिण्डन बी0 जॉनसन (b) जिम्मी कार्टर

   (c) रिचर्ड निक्सन (d) रोनाल्ड रीगन

14.9 प्रश्नोत्तर

1. b
2. a
3. c

इकाई -15 ब्रिटेन एवं फ्रांस की विदेश नीति की सामान्य विशेषताएँ (प्रथम भाग ब्रिटेन की विदेश नीति)

इकाई की रुपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 ब्रिटिश विदेश नीति के आधार भूत तत्व

15.3 विश्व की प्रमुख शक्तियों के परिप्रेक्ष्य में ब्रिटेन की विदेश नीति : ब्रिटेन अमेरिका प्रमुख सहयोगी के रुप में

15.4 पाश्चात्य देशों के साथ क्षेत्रीय योजनाओं की नीति

15.5 ब्रिटेन एवं रुस (पूर्व सोवियत संघ)

15.6 ब्रिटेन तथा चीन

15.7 ब्रिटेन तथा भारत

15.8 ब्रिटेन एवं विश्व के अन्य क्षेत्र

15.9 सारांश

15.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

15.11 संबंधित प्रश्न

15.12 प्रश्नोत्तर

15.0 उद्देश्य

इस इकाई के अन्तर्गत यूरोप की दो शक्तियों क्रमशः ग्रेट ब्रिटेन तथा फ्रांस की विदेश नीतियों का अध्ययन किया जायेगाा अध्ययन की सुविधा के लिये इस इकाई को दो भागों में विभक्त किया गया है। प्रथम भाग में ब्रिटेन की विदेश नीति और द्वितीय भाग में फ्रांस की विदेश नीति के विभिन्न आयामों की विवेचना की जायेगी।

इस इकाई के प्रथम भाग के अध्ययन के पश्चात् आप -

* ब्रिटिश विदेश नीति के आधार एवं निर्माण प्रक्रिया से अवगत हो सकेंगे।
* विश्व के प्रमुख शक्तियों के परिप्रेक्ष्य में खासकर अमेरिका, रुस, चीन के साथ विदेश नीति की अन्तःक्रिया को जान पायें
* यूरोपीय संघ के परिप्रेक्ष्य ब्रिटिश भूमिका से अवगत होंगे तथा
* भारत तथा अन्य क्षेत्रों के साथ ब्रिटिश पर प्रकाश डाल पायेंगे।

15.1 प्रस्तावना

प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व ब्रिटेन विश्व का सबसे शक्तिशाली सम्पन्न व सबसे बड़ा साम्राज्य का स्वामी देश था। **उसके विदेश नीति का मुख्य** आधार था कि ब्रिटेन की समुद्र में सर्वोच्चता बनाये **रखी जाये। अतः ब्रिटेन की नीति का मुख्य** उद्देश्य था कि ब्रिटेन की समुद्री शक्ति को विशेष **प्राथमिकता दी जाये। अतः ब्रिटेन ने** यूरोप के शक्तिशाली शासकों, स्पेन के फिलिप्स, फ्रांस के लुई **चौदहवें व नैपोलियन और जर्मनी** के हिटलर के विरुद्ध इसलिए सफलता प्राप्त की, कि वे समुद्र पार करके उस पर आक्रमण करने में असमर्थ रहा कभी कहा जाता था ब्रिटेन वालों समुद्र पर शासन करो, तुम कभी गुलाम नहीं होगे। वायुयानों तथा अणुबमों के विकास के कारण इसका महत्व समाप्त हो गया।

कहा जाता है कि ब्रिटेन के राजनीतिज्ञों ने जिनमें बुल्जे –(ेंदर्दल्ब) प्रमुख था, यह सिद्धांत अपनाया था कि किसी राष्ट्र को इतना शक्तिशाली नहीं बनने देना चाहिए कि वह ब्रिटेन के अस्तित्व के लिए खतरा बन जाये। अतः जब स्पेन, फ्रांस, जर्मनी या रुस (पूर्व सोवियत संघ) शक्तिशाली हुए तो अन्य राष्ट्रों से मिलकर ब्रिटेन ने इसका विरोध करके अपनी स्वतंत्रता को बनाये रखा। लार्ड पामस्टर्न व डिजरायली का कथन था कि विदेश नीति में **कोई भी स्थायी** मित्र या शत्रु नहीं होता है बल्कि स्थायी स्वार्थ होते हैं। ब्रिटेन ने सदैव ऐसी नीति अपनायी जिससे उसके साम्राज्य और व्यापार तथा शक्ति का विस्तार होता रहे। अतः प्रथम महायुद्ध 1919 तक इसके साम्राज्य का विस्तार होता रहा।

प्रथम महायुद्ध में भारी क्षति, साम्राज्य का विघटन, रुस में साम्यवाद का उदय (1917), नवीन विचारधारा व नवीन शक्तियों का उदय आन्तरिक दुर्बलता तथा ब्रिटिश शासक वर्ग की अक्षमता अपने ब्रिटिश की शक्ति को कमजोर किया। प्रथम महायुद्ध के बाद पेरिस शान्ति सम्मेलन व वार्साइ सन्धि ने भविष्य में द्वितीय महायुद्ध को जन्म दिया द्वितीय विश्वयुद्ध में ब्रिटेन की शक्ति तथा स्थिति और भी बुरी तरह प्रभावित हुई, जिसके कारण वह और भी कमजोर हो गया।

दो विश्वयुद्धों के मध्यवर्ती वर्ष ब्रिटेन के अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर प्रतिष्ठा तथा प्रभाव के थे। यद्यपि जंगी बेड़े में उनसे अमेरिका के साथ समानता का स्तर मान लिया तथा यद्धोत्तर दशक में उसकी अर्थव्यवस्था भारी दबावों के मध्य लड़खड़ाती रही। द्वितीय विश्व युद्धोत्तर युग ब्रितानी नीति के सूत्रधारों के लिए सर्वथा नई स्थितियाँ लेकर आया था। ब्रिटेन अब अनुगामी देश था। शक्ति केन्द्र पश्चिम यूरोप से सुदूर पश्चिम या पूर्व में चले गये थे। अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर फैसले मास्को या वाशिंगटन में होने लगे थे। ब्रिटेन ने प्रथम विश्वयुद्ध में अपने सर्वोत्कृष्ट जवानों को खोया था। द्वितीय विश्वयुद्ध में वह अपनी पूरी सम्पदा तथा शक्ति के स्रोत खो चुका था। अपने पाँवों पर खड़ा होने के लिए भी उसे अमेरिकी सहारे की जरुरत थी। 1946 से ही साम्राज्य के एक-एक अंग विघटित होने लगे थे। सदी के मध्य तक ब्रिटेन अपने ताज का सर्वाधिक दीप्तीमान रत्न खोकर निष्प्रभ हो चुका था। 1960-61 में अफ्रीका से अपना औपनिवेशिक शिंकजा समेट लेने के बाद ब्रिटेन पुनः अपने

प्रकृति रुप में मुख्य भूमि से सटा एक लघु द्वीपसमूह सा हो गया। आणविक बम तथा प्रक्षेपास्त्रों के युंग में समुद्री परिधि उसकी रक्षा नहीं कर सकी।

15.2 ब्रिटिश विदेश नीति के आधारभूत तत्व

ब्रिटिश विदेश नीति के आधारों पर प्रकाश डालते हुए डॉ0 विजय अरोड़ा ने लिखा कि ब्रिटेन स्वभाव से परम्परावादी राष्ट्र है। (डॉ0 विजय अरोड़ा : अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति) शताब्दियों से भूगोल, समुद्री शक्ति, विदेशी व्यापार, शक्ति संतुलन और साम्राज्यवादी हित उसकी विदेश नीति के आधार रहे हैं। किसी भी विदेश मंत्री के लिए उनकी अपेक्षा करना सम्भव नहीं हुआ परन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ब्रिटिश विदेश नीति के निर्माण में कई नवीन तत्वों के प्रभाव का समावेश हुआ। ये तत्व मुख्य रुप से स्थिति परक (Situational) रहे हैं। इन तत्वों में सबसे पहला 'अन्तर्राष्ट्रीय संगठन' है। ब्रिटेन अपनी नीति और उसके क्रियान्वंयन के उपायों का निर्धारण करने से पहले अब अन्तर्राष्ट्रीय संघठनों मुख्यतः संयुक्त राष्ट्र (The U.N.) और राष्ट्र मंडल (The common wealth of Nations) की मान्य प्रथाओं और कानूनों का उल्लंघन से उत्पन्न दुष्परिणामों का विचार करने के लिए विवश रहता है। दूसरे जनतंत्र वादी राष्ट्र होने के कारण ब्रिटिश विदेश नीति के निर्माता जनमत के प्रति विशेष सचेत रहते हैं। ब्रिटेन की नीति पर जनमत का गहरा प्रभाव पड़ता है। जनमत के दबाव के कारण ही विश्वयुद्ध के बाद उसे अपने उपनिवेशों को स्वतंत्र करना पड़ा। उनके प्रति अपनी नीति बदलनी पड़ी। स्पेन से सेनाएँ वापस बुलानी पड़ी थीं। 1970 में दक्षिण अफ्रीकी क्रिकेट टीम का दौरा रद्द करना पड़ा था, इत्यादि।

विदेश नीति के निर्धारकों को ब्रिटेन में अपनी नीति के प्रति सम्बद्ध राज्यों की सम्भावित प्रतिक्रियाओं का भी ध्यान करना पड़ता है। ब्रिटिश विदेश नीति के निर्माण में विदेश विभाग की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। विदेश मंत्री इस विभाग का अध्यक्ष होता है और वह नीति निर्धारण में प्रधानमंत्री का सहयोग करता है। प्रधानमंत्री के नेतृत्व में मंत्रिमंडल देश के लिए विदेश नीति के मुख्य सिद्धांतों और आधारों का निरुपण करता है। ब्रिटेन में संसदीय सर्वोच्चता का सिद्धांत प्रचलित है। अतः मंत्री मंडल द्वारा विदेश नीति के बारे में निर्धारित किए जाने वाले सिद्धांतों तथा निर्णयों पर संसद की पुष्टि अनिवार्य है। अगर संसद मंत्रिमण्डल द्वारा अन्य देशों के साथ किये गये समझौतों और सन्धियों को पुष्ट नहीं करे तो उनका कोई अर्थ नहीं रह जाता है। इस तरह ब्रिटेन में विदेश नीति के निर्माण की एक व्यवस्थित प्रक्रिया है। देश की विदेश नीति को प्रभावित करने में घरेलू नीतियों (Domestic Policies) का भी महत्वपूर्ण स्थान रहता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जब ब्रिटेन की अर्थव्यवस्था जर्जर हो गई तथा देश के पुर्ननिर्माण की प्रक्रिया आरम्भ की गई तो उसका झुकाव अमेरिका की ओर हो गया। वह शीत युद्ध के समय अमेरिकी गुट का प्रमुख सदस्य रहा। अनुदार तत्त्वों के दबाव के कारण ब्रिटेन लम्बे समय तक दक्षिण अफ्रीका की रंगभेदी तथा उत्तरी रोडेशिया की इयान स्मिथ की सरकार का समर्थन करता रहा। यूरोपीय एकीकरण के बाद वर्तमान में आतंकवाद का विरोध करना ब्रिटिश नीति का मुख्य लक्ष्य बन गया है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से

लेकर अब तक ब्रिटेन की विदेश नीति के निर्धारण में घरेलू परिस्थितियों तथा वर्तमान नीतियों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। विन्स्टन चर्चिल, मैकमिलन, हेराल्ड विल्सन, एडवर्ड हीथ तथा मारग्रेट थैचर, जॉन मेजर तथा टोनी ब्लेयर को द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की ब्रिटिश विदेश नीति का मुख्य प्रणेता माना जाता है।

15.3 विश्व की प्रमुख शक्तियों के परिप्रेक्ष्य में ब्रिटेन की विदेश नीति

ब्रिटेन-अमेरिका प्रमुख सहयोगी के रुप में

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ब्रिटेन एक कमजोर शक्ति के रुप में उभरा। वह आर्थिक रुप से काफी कमजोर था। उसे अपने पुर्ननिर्माण तथा आर्थिक स्थिरता के लिए आर्थिक सहायता की आवश्यकता थी जो अमेरिका से ही प्राप्त हो सकती थी। अतः ब्रिटेन ने अमेरिका का सहयोग प्राप्त करने के लिए अपनी विदेश नीति का मुख्य आधार अमेरिका का समर्थन करना बना लिया। पेरिस शान्ति सम्मेलन में उसने घोषणा की थी कि वह किसी भी गुट में नहीं मिलेगा। इसके बावजूद भी ब्रिटेन ने अमेरिका से मार्शल-योजना के अन्तर्गत पर्याप्त आर्थिक सहायता प्राप्त की। श्रमदलीय विदेश मंत्री बेविन ने ट्रूमैन सिद्धांत को भी स्वीकार कर लिया। पाश्चात्य जगत का नेतृत्व धीरे-धीरे अमेरिका के हाथ में आ गया। न्यूजीलैंड और आस्ट्रेलिया ने अपनी सुरक्षा हेतु 'एंजुस पैक्ट' (Anzus Pact) किया। मध्यपूर्व में ग्रीस, फिलीस्तीन, टर्की और अन्य क्षेत्रों में से ब्रिटेन के चले जाने से जो शक्ति शून्यता पैदा हो गयी, उसे अमेरिका ने भरा। नाटो (NATO) में सम्मिलित होकर ब्रिटेन ने अमेरिका के साथ खुला सैनिक गठबंधन कर लिया और यह स्पष्ट कर दिया कि साम्यवाद के विरुद्ध संघर्ष में वह पूरी तरह अमेरिका के साथ है। 1957 में ब्रिटेन ने जोर्डन के परिप्रेक्ष्य में आइजनहॉवर सिद्धांत का समर्थन किया। 1963 में अमेरिका, रुस (पूर्व सोवियत संघ) और ब्रिटेन द्वारा मास्को में 'परमाणु प्रसार प्रतिबन्ध' सन्धि पर हस्ताक्षर किया गया।

अमेरिका के साथ सहयोग करते हुए कई बार ब्रिटेन ने अपना स्वतंत्र दृष्टिकोण भी अपनाया। उसने 1945 में अमेरिका द्वारा लैन्ड लीज (Land Lease) बन्द करने पर उसका विरोध किया। पूर्व सोवियत संघ के प्रति अमेरिका की कठोर नीति की ब्रिटेन ने सराहना नहीं की। 1950 में अमेरिका के न चाहने के बाद भी ब्रिटेन ने चीन की साम्यवादी सरकार को मान्यता दे दी। 1956 में स्वेज नहर पर मिश्र के तत्कालीन राष्ट्रपति कर्नल नासिर द्वारा राष्ट्रीकरण किए जाने पर ब्रिटेन और फ्रांस द्वारा जो आक्रामक नीति अपनाई गई उसका अमेरिका ने समर्थन नहीं किया। 1967 में अरब-इजरायल संघर्ष में भी ब्रिटिश और अमेरिकी नीतियों में निकटता नहीं थी। 1982 में फाकलैण्ड के मामले में भी ब्रिटेन ने अपनी अलग नीति अपनायी।

1987 की समाप्ति तक निःशस्त्रीकरण, खाड़ी युद्ध, चीन के सहयोग, व्यापक परमाणु निषेध (सी0टी0बी0टी0) आदि मामलों में ब्रिटेन और अमेरिका के दृष्टिकोण में कोई अन्तर परिलक्षित नहीं हुआ। मारग्रेट थेचर और जॉन मेजर के कार्यकाल में भी ब्रिटेन का अमेरिका के साथ

घनिष्ठ संबंध बना रहा। खाड़ी युद्ध में ब्रिटेन ने इराक को पराजित करने के लिए अमेरिका का साथ दिया। अमेरिका के घनिष्ठ सहयोग के रुप में अपनी भूमिका का निर्वाह करना ब्रिटेन की नियति रही है। 11 सितम्बर 2001 को अमेरिका पर हुए आतंकवादी हमले के बाद ब्रिटेन ने कंधे से कंधा मिलाकर अफगान युद्ध में अमेरिका का साथ दिया। वर्ष 2002-03 की ईराक युद्ध की गतिविधियों में भी ब्रिटेन ने अमेरिका का पूरा साथ दिया।

15.4 पाश्चात्य देशों के साथ क्षेत्रीय योजनाओं की नीति

ब्रिटेन ने अमेरिका के साथ-साथ पश्चिमी देशों के साथ भी अच्छे रिश्ते बनाने की कोशिश का 4 मार्च 1947 को उसने फ्रांस के साथ डंकर्क सन्धि (Dunkirk Treaty) की, जिसका उद्देश्य भावी जर्मनी आक्रमणों के विरुद्ध एक-दूसरे की सहायता करना था। 17 मार्च, 1948 को ब्रिटेन ने बेल्जियम, नीदरलैंड, लक्जमबर्ग और फ्रांस के साथ मिलकर ब्रूसेल्स सन्धि की। इससे पश्चिमी यूरोप संघ (Western European Union) का निर्माण हुआ। बाद में चलकर यही अब यूरोपीय संघ बन गया है। डंकर्क, ब्रूसेल्स और नाटो संधि का सदस्य बन जाने के बाद ब्रिटेन ने यूरोपीय परिषद् (Council of Europe) के निर्माण में रुचि ली।5 मई, 1949 को इस परिषद् की स्थापना हुई। जनवरी, 1958 में यूरोपीयन सामान्य मंडी के साझा बाजार की स्थापना हुई। जिसमें बेल्जियम, फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी, इटली, नीदरलैंड और लक्जमबर्ग सम्मिलित हुए। 1969 तक ब्रिटेन भी इसमें शामिल हो गया। 22 जनवरी, 1972 मे रोम-संधि से साझा बाजार का विस्तार किया गया। बाद में इन घटनाओं ने यूरोपीय एकीकरण को जन्म दिया। 1999 से यूरोप में समान मुद्रा 'यूरो' (Euro) प्रचलन में है।

15.5 ब्रिटेन एवं रुस (पूर्व सोवियत संघ)

साम्यवादी देशों में मुख्यतः पूर्व सोवियत संघ के प्रति ब्रिटेन ने द्विमुखी नीति का अनुसरण किया। एक ओर तो यूरोप में बढ़ते हुए सोवियत प्रभाव को तथा विश्व के अन्य भागों में साम्यवादी प्रसार को अवरुद्ध करने के लिए वह 'शीत युद्ध' में सम्मिलित हुआ और दूसरी ओर उसने साम्यवादी देशों के साथ अपने व्यवसायिक सम्बन्ध विकसित करने की चेष्टा की। शीत युद्ध के समय पूर्व सोवियत संघ के विरुद्ध अमेरिका के मोर्चेबन्दी में ब्रिटेन ने उसका पूरा साथ दिया। साथ ही उसने पूर्व सोवियत संघ के साथ राजनयिक, आर्थिक, व्यापारिक तथा तकनीकि संबंध स्थापित किये। ब्रिटेन ने पूर्व सोवियत संघ की पूर्वी यूरोप में 'हस्तक्षेपवादी नीति' का विरोध किया। जब पूर्व सोवियत संघ ने 1959 में हगंरी में तथा 1968 में चैकोस्लोवाकिया और 1970 में पौलैण्ड में हस्तक्षेप किया तो ब्रिटेन ने उसका विरोध किया। इसके अतिरिक्त उसने अफगानिस्तान मे भी पूर्व सोवियत संघ के हस्तक्षेप का विरोध किया।

6 दिसम्बर, 1991 को पूर्व सोवियत संघ के विघटन के बाद बोरिस येल्तसिन के नेतृत्व

वाले रुस को ब्रिटेन ने तुरंत मान्यता दी तथा सुरक्षा परिषद् में उसे पूर्व सोवियत संघ का स्थान दिलवाया। 18 अक्टूबर, 1994 को ब्रिटेन की साम्राज्ञी ने रुस की यात्रा की। यह पहला अवसर था जब ब्रिटेन की किसी साम्राज्ञी ने रुस की यात्रा की हो। ब्रिटेन के प्रबल समर्थन के कारण ही रुस जी-7 तथा नाटो का सदस्य बन सका। पूर्व सोवियत संघ के विघटन से अस्तित्व में आये 'बाल्टिक गणराज्यों' तथा मध्य एशिया में इस्लामिक गणराज्यों से भी ब्रिटेन ने अच्छे संबंध बनाये हैं।

15.6 ब्रिटेन तथा चीन

चीन के महत्व को ध्यान में रखते हुए, ब्रिटेन ने चीन को कूटनीतिक मान्यता प्रदान की। दोनों देशों के बीच व्यापारिक संबंध स्थापित हुए। मार्च 1979, में ब्रिटेन और चीन के बीच पीकिंग में 17 अरब डालर के व्यापार समझौते पर हस्ताक्षर हुए। कालान्तर में दोनों देशों के बीच सम्पर्क तथा सहयोग का विस्तार होता गया। अक्टूबर, 1986 में ब्रिटेन की महारानी ऐलिजाबेथ द्वितीय व उनके पति राजकुमार फिलिप ने चीन की यात्रा की। सितम्बर, 1991 में ब्रिटेन के प्रधानमंत्री जॉन मेजर ने चीन यात्रा की। 1989 में हुए थ्येनमन चौक पर लोकतंत्र समर्थक प्रदर्शन के हिंसात्मक दमन के बाद से चीन की यात्रा पर जाने वाले पश्चिम के किसी प्रमुख देश के नेता के रुप में मेजर पहले व्यक्ति थे। इस यात्रा ने दोनों देशों के बीच आर्थिक तथा व्यापारिक सम्बन्धों को नया मोड़ प्रदान किया। जॉन मेजर के नेतृत्व में ब्रिटेन तथा चीन के बीच हांगकांग के भविष्य को लेकर वार्ताओं के अनेक दौर चले। टोनी ब्लेयर के नेतृत्व में अनुदार दल की ब्रिटिश सरकार ने 1 जुलाई, 1997 को हांगकांग चीन को हस्तांतरित कर दिया।

15.7 ब्रिटेन तथा भारत

26 जनवरी, 1950 में भारत ने अपने को गणतंत्र घोषित किया। फिर भी वह आजतक राष्ट्रमंडल संगठन का महत्वपूर्ण सदस्य है। 1962 में चीनी आक्रमण के समय ब्रिटेन द्वारा भारत को सैनिक सहायता भी प्रदान की गयी थी और भारत-चीन विवाद में ब्रिटेन का रुख भारत के पक्ष में रहा था। लेकिन कश्मीर के प्रश्न पर उसका दृष्टिकोण प्रायः भारत विरोधी रहा है। उसने भारत के विरुद्ध सदैव पाकिस्तान का समर्थन किया। 1965 में भारत-पाक युद्ध में भी ब्रिटिश सरकार का रवैया पक्षतापूर्ण था। जॉन मेजर के प्रधानमंत्रित्व काल में भारत-ब्रिटेन संबंधों को नया आयाम मिला। इस काल में ब्रिटेन का पाक समर्थक दृष्टिकोण समाप्त हुआ तथा उसके कश्मीर समस्या पर भारत विरोधी दृष्टिकोण में परिवर्तन आया, जिस कारण इस समस्या के समाधान के लिए जनमत संग्रह कराने की पाकिस्तान की माँग को उन्होंने ठुकरा दिया। ब्रिटेन कश्मीर समस्या का शिमला समझौते के अन्तर्गत चाहने लगा। नि:शस्त्रीकरण, अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा, अर्न्तराष्ट्रीय आतंकवाद एवं प्रादेशिक विकास के मामले में दोनों देशों के बीच विचार-विमर्श शुरु हुआ है। श्रमिक दल के प्रधानमंत्री टोनी ब्लेयर ने संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद में भारत की स्थायी सदस्यता की दावेदारी का समर्थन किया है।

भारत-ब्रिटेन व्यापार 1993 में भारत ब्रिटिश सहभागिता (आई0बी0पी0) के गठन के बाद 67% बढ़ा है। ब्रिटेन भारत में लाभ क्षेत्रों जैसे तेल, गैस, पोर्ट, वित्तीय सेवाओं और सूचना प्राद्यौगिकी, विदेशी संस्थागत निवेश का एक बड़ा स्त्रोत बना हुआ है। भारत भी ब्रिटेन में एक महत्वपूर्ण निवेशक के रुप में उभरा है। परियोजनाओं की संख्या की दृष्टि से भारत ब्रिटेन के निवेशकों में आठवाँ और एशिया में दूसरा बड़ा निवेशक है। वर्ष 2003-04 में भारत 200 करोड़ पौंड की सर्वाधिक द्विपक्षीय विकास सहायता पाने वाला एकमात्र देश रहा। ब्रिटेन ने वर्ष 2004 में भारत को दी जाने वाली विकास सहायता बढ़ाकर 300 करोड़ पौंड कर दी। दोनों देशों ने पर्यावरण संरक्षण के लिए एक-दूसरे का सहयोग करने का निश्चय किया है।

15.8 ब्रिटेन एवं विश्व के अन्य क्षेत्र

पश्चिमी एशिया में ब्रिटिश विदेश नीति की काफी आलोचना हुई है। 1948, 1967 और 1973 के अरब-इजराइल युद्ध में ब्रिटेन ने इजराइल का समर्थन किया। 1956 में स्वेज संकट के समय ब्रिटिश भूमिका ने अरब देशों को नाराज किया। इस क्षेत्र में ब्रिटेन ने अपनी नीति आज तक अमेरिकी विदेश नीति के अनुरुप ही निर्धारित की है।

मारग्रेट थेचर के काल तक आयरिश रिपब्लिकन आर्मी की हिंसक गतिविधियों को कुचलने के लिए ब्रिटेन ने सख्त सैनिक कार्यवाही की। जॉन मेजर के काल से आयरिश समस्या का अब शान्तिपूर्ण हल खोजने की कोशिश की जा रही है। 17 मई, 1997 को ब्रिटिश प्रधानमंत्री टोनी ब्लेयर ने उत्तरी आयरलैंड के राजनीतिक संगठन सिनफीन से बातचीत करने की पेशकश की। इससे शान्ति प्रयासों को बल मिला है।

ब्रिटेन थेचर के प्रधानमंत्रित्व काल तक दक्षिण अफ्रीका में प्रीटोरिया की रंगभेदी सरकार को आर्थिक तथा सैनिक सहायता प्रदान करता रहा। इससे अधिकांश अफ्रीकी देश ब्रिटिश विरोधी हो गये। जॉन मेजर के नेतृत्व में ब्रिटेन ने अपनी नीति में परिवर्तन किया और दक्षिण अफ्रीका में रंगभेदी सरकार को समाप्त करने मे अफ्रीकी नेशनल कांग्रेस के नेता नेल्सन-मंडेला को मदद पहुंचाया। जॉन मेजर 1994 में दक्षिण अफ्रीका गये। नये प्रधानमंत्री टोनी ब्लेयर ने भी दक्षिणी अफ्रीका को सभी संभव सहायता प्रदान करने का आश्वासन दिया।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद दक्षिणी अमेरिका के सभी ब्रिटिश उपनिवेश एक-एक करके स्वतंत्र हो गये। अर्जेन्टाइना के पास स्थित 'फाकलैंड द्वीप' पर अभी ब्रिटेन का आधिपत्य बना हुआ है।

2 मई, 1997 को ब्रिटेन में हुए आम चुनाव के बाद 'मेजर-युग' का अन्त हुआ और 18 वर्षों के अन्तराल के बाद लेबर पार्टी के नेता टोनी ब्लेयर सत्ता में आये। लेबर सरकार ने बोस्निया तथा हर्जेगोबिना में शान्ति प्रयासों का समर्थन करने, साइप्रस के मामलों को निपटाने तथा मध्य पूर्व में शान्ति बहाल करने की कोशिशों का विश्वास दिलाया। चुनाव के समय लेबर पार्टी के

सदस्यों ने कश्मीर के परिप्रेक्ष्य में विरोधी बयान दिये थे।

15.9 सारांश

ब्रिटिश विदेश नीति समय और परिस्थितियों के अनुरुप बदलती रही है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद घटित अन्तर्राष्ट्रीय घटनाचक्र ने ब्रिटिश विदेश नीति में भारी परिवर्तन किये। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद वह महाशक्ति का दर्जा खो बैठा। अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में ब्रिटेन अभी तक अमेरिका के मुख्य सहयोगी की भूमिका का निर्वाह करता रहा है। वर्तमान में ब्रिटेन को गरीबी, बेरोजगारी, औद्योगिक अराजकता और मन्दी, मुद्रा-स्फीती, स्वेत युवकों में बढ़ती नस्लवादी प्रवृत्ति तथा विकसित राष्ट्रों के साथ बढ़ती व्यापारिक प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ रहा है। फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में ब्रिटेन की भूमिका महत्वूपर्ण है।

15.10 संदर्भ ग्रन्थ

1. Anthony Verrier : Through the looking Glass : British Foreign Policy In An Age Of Illusions
2. Michael Clarke : British External Policy Making in the 1990s.
3. Wallace : Forign Policy Process in Britain.
4. देवेन्द्र कौशिक : 'कॉमनवेल्थ ऑफ इन्डीपेन्डेंट स्टेट्स एण्ड इन्डिया' (इन्टरनेशनल स्टडीज, वाल्यूम 30, अंक 2, अप्रैल-जून, 1993)

15.11 संबंधित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में ब्रिटिश अमेरिकी सहयोग पर प्रकाश डालें।
2. ब्रिटिश विदेश नीति को प्रभावित करने वाले कारकों का विश्लेषण करें।
3. भारत-ब्रिटिश संबंधों पर एक लेख लिखें।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. ब्रिटेन की विदेश नीति के निर्धारण में घरेलू परिस्थितियों की भूमिका का उल्लेख करें।
2. पश्चिम एशिया में ब्रिटिश विदेश नीति की काफी आलोचना हुई है, कारणों पर प्रकाश डालें।

3. 21वीं शताब्दी में ब्रिटिश विदेश नीति की एक समीक्षा प्रस्तुत करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ब्रिटेन एक .... शक्ति के रुप में उभरा।

   (a) कमजोर (b) शक्तिशाली

   (c) एकमात्र (d) तटस्थ

2. 17 मार्च, 1948 को ब्रिटेन ने बेल्जियम, नीदरलैंड, लक्जमबर्ग और फ्रांस के साथ मिलकर किस संधि को मूर्त रूप दिया।

   (a) वार्सा संधि (b) ब्रूसेल्स संधि

   (c) नाटो संधि (d) एंनजुस संधि

3. ब्रिटेन के प्रबल समर्थन के कारण ही कौन सा देश जी-7 तथा नाटो का सदस्य बन सका।

   (a) चीन (b) भारत

   (c) रुस (d) पाकिस्तान

15.12 प्रश्नोत्तर

1. a
2. b
3. c

इकाई 15 फ्रांस की विदेश नीति
(द्वितीय भाग)

इकाई की रूप रेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 जनरल डिगॉल युग

15.3 जार्ज पोम्पिदू काल

15.4 जिस्कार युग

15.5 फ्रेंकोइस मित्तराँ युग

15.6 भारत व मित्तराँ युग

15.7 फ्रांस व पूर्व सोवियत संघ

15.8 फ्रांस और अन्य देश

15.9 मित्तराँ युग-एक सिंहावलोकन

15.10 जेम्स शिराक युग

15.11 सारांश

15.12 संदर्भ ग्रन्थ

15.13 संबंधित प्रश्न

15.14 प्रश्नोत्तर

15.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप

* फ्रांस की विदेश नीति से परिचित होंगे।
* खासकर फ्रांस के विभिन्न राष्ट्रपतियों के कार्यकाल जैसे डिगॉल युग, पेम्पिदू काल, जिस्कार युग, फ्रेंकोइस मित्तराँ युग तथा जेम्स शिराक युग में विदेश नीति के संचालन को समझ पायेंगे।
* तथा फ्रांस के साथ विभिन्न देशों के सम्बन्धों से अवगत हाग।

15.1 प्रस्तावना

दो विश्वयुद्धों के मध्यकाल में फ्रांस की विदेश नीति के दो केन्द्र बिन्दु जर्मनी संबंध और ब्रिटेन से सहयोग के लिए निरन्तर सम्पर्क थे। फ्रांस की भौगोलिक स्थिति ने भी उसे यूरोप में प्राकृतिक

सीमा की खोज के लिए बाध्य कर दिया था। सन् 1991 के पश्चात महाद्वीप में जर्मनी को सदा के लिए दुर्बल बनाना और सुरक्षा के लिए पूर्वी यूरोप के साथ लघु मैत्री सन्धि व रूस से संधि करना आदि उसके उद्देश्य थे। औद्योगिक विस्तार, सांस्कृतिक प्रसार, आर्थिक पुर्नगठन, जर्मनी से क्षतिपूर्ति की अदायगी की माँग आदि विदेश में फ्रांस के राष्ट्रीय स्वार्थ थे। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद फ्रांस ने जो भी शक्ति और ख्याति अर्जित की वह द्वितीय विश्वयुद्ध में धूल में मिल गयी। युद्ध और अस्थिर शासन ने फ्रांस को इतना निःशक्त बना दिया कि वह प्रभावशाली विदेश नीति नहीं अपना सका। मार्च 1947, में उसने ब्रिटेन के साथ डंकर्क संधि की, तत्पश्चात अमेरिका के साथ मार्शल योजना में भागीदार बनकर उसने अमेरिका से पर्याप्त सहायता प्राप्त की। वह अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में अमेरिका तथा ब्रिटेन का साथ देने लगा। जर्मनी के मामलों में भी उसने पूर्व सोवियत संघ के विरुद्ध संयुक्त राज्य तथा ब्रिटेन का साथ दिया। इस तरह फ्रांस की स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में 'पराश्रित' की सी बनी रही।

15.2 जनरल डिगॉल युग (अन्तर्राष्ट्रीय गौरव की पुनः प्राप्ति की चेष्टा)

1958 के मध्य तक फ्रांस अपनी राजनीतिक अस्थिरता के कारण अर्न्राष्ट्रीय क्षेत्र में कोई प्रभावशाली कदम नहीं उठा सका। किन्तु उसके बाद उसकी स्थिति में परिवर्तन आया। मई 1958, मे पियरे फिलमिन सरकार का पतन हो जाने के बाद डिगॉल के प्रधानमंत्रित्व में फ्रांस में पाँचवें गणतंत्र का उदय हुआ। असेम्बली नें डिगॉल को 6 मास के लिए संसदीय हस्तक्षेप से मुक्त समस्त अधिकार सौंप दिए। उन्होंने 3 जून, 1959 को एक साँविधानिक कानून का निर्माण किया। जिससे संसदीय सुधारों को राष्ट्रीय असेम्बली में प्रस्तुत न कर सीधे मतदाता के सम्मुख प्रस्तुत किया जा सकता था। 4 सितम्बर, 1959 को पाँचवें गणतंत्र का नवीन संविधान प्रकाशित हुआ। जिसके अनुसार संसद की अनेक शक्तियाँ राष्ट्रपति को हस्तांतरित कर दी गयीं। दिसम्बर 1959, को राष्ट्रपति के चुनाव में डिगॉल बहुमत से राष्ट्रपति निर्वाचित हो गए। डिगॉल ने फ्रांस की समस्या का दृढ़ता से सामना किया और उसे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में सम्मान दिलाया।

फ्रांस ने नवीन संविधान के अनुसार 2 अक्टूबर, 1958 को गिनी राज्य को स्वतंत्र मान लिया और 23 नवम्बर, को वह संयुक्त राष्ट्र का सदस्य बन गया। राष्ट्रपति डिगॉल ने शासन की बागडोर अपने हाथों में लेते ही अपना ध्यान अल्जीरिया की तरफ केन्द्रित किया। डिगॉल के पूर्ववर्ती सभी फ्रेंच नेता कह चुके थे कि फ्रांस अल्जीरिया में अपने अधिकारों को कभी समाप्त नहीं करेगा। लेकिन डिगॉल ने 1 जुलाई, 1962 को अल्जीरिया को स्वतंत्रता प्रदान कर दी और इस प्रकार अल्जीरिया फ्रांस संघर्ष का अन्त हो गया।

राष्ट्रपति डिगॉल की चिन्ता यही रही है कि फ्रांस किसी न किसी प्रकार अपने विलुप्त अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान को पुनः प्राप्त कर ले। इसलिए वह अपने राष्ट्र को अमेरिकी प्रभाव से मुक्त कराने लगे और दूसरी तरफ ब्रिटेन के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने की चेष्टा में लगे रहे। इसलिए साम्यवादी देशों के साथ उन्होंने मधुर सम्बन्ध स्थापित किये। 1963 में मास्को में हुई अणु-परीक्षण निरोध संधि

पर चीन और फ्रांस ने हस्ताक्षर नहीं किये। दोनों ने यह तर्क दिया कि संधि का उद्देश्य पूर्व सोवियत संघ, अमेरिका और ब्रिटेन द्वारा अणु शस्त्रों के क्षेत्र में अपना एकाधिकार स्थापित करना है एवं उनका प्रयोजन यह है कि अन्य देश इस शक्ति का विकास न कर पायें। फ्रांस ने वियतनाम में अमेरिका की कार्यवाही की निन्दा की। यूरोपीय साझा बाजार में ब्रिटेन के प्रवेश को रोकने की डिगॉल की नीति ने पश्चिमी गुटों में फूट का संकेत दिया। 1963 में फ्रांसीसी सरकार द्वारा चीन की साम्यवादी सरकार को मान्यता प्रदान कर देने और दोनों राष्ट्रों के बीच राजदूतों का आदान प्रदान हो जाने की घटना से यह और भी स्पष्ट हो गया कि राष्ट्रपति डिगॉल का अपना प्रथम मार्ग है। जो नाटो राज्यों के भिन्न है। दक्षिण-पूर्वी एशिया के क्षेत्र के तटस्थीकरण के प्रश्न पर अमेरिका और उसके साथी राज्यों ने डिगॉल का विरोध किया। तीसरे गुट की रचना के लिए उन्होंने फ्रांस को पूर्वी यूरोपीय देशों के निकट लाना चाहा ताकि विश्व राजनीति में दो गुटों की पद्धति से अतिरिक्त भी कुछ हो। इसी नीति को अपनाकर उन्होंने ब्रिटेन के यूरोपीय साझा बाजार में सम्मिलित होने का विरोध किया था। फ्रांस में जनरल डिगॉल का अभ्युदय एक युगान्तकारी घटना थी। उन्हें वास्तविक रुप में फ्रंास की विदेश नीति का सूत्रधार माना जा सकता है। उन्होंने अपने करिश्माई व्यक्तित्व से फ्रंास को अमेरिका के वर्चस्व या दबदबे से मुक्त कराने में सफलता अर्जित करके उसे अन्तर्राष्ट्रीय जगत में सम्मानपूर्ण स्थान दिलाया।

15.3 जार्ज पोम्पिदू का काल

जनरल डिगॉल की कुछ नीतियों के कारण फ्रांस की जनता ने 29, अप्रैल 1969 में हुए जनमत संग्रह के जरिए उन्हें हरा दिया। 1 जून को फ्रांस में राष्ट्रपति पद के लिए चुनाव हुए और जार्ज पोम्पिदू चुने गये। उनकी सरकार ने डिगॉल शासन की अपेक्षा ब्रिटेन के प्रति नरम रुख अपनाया जिससे वह साझा बाजार में शामिल हो सका। चैकोस्लोवाकिया में रूसी हस्तक्षेप की घटना के बाद फ्रांस ने नाटो संगठन में बने रहना अधिक उपयोगी और आवश्यक समझा। राष्ट्रपति पोम्पिदू ने अपेक्षाकृत अधिक सहयोगपूर्ण और नरम रुख अपनाते हुए डिगॉल की इस मुख्य माँग का निर्वहन किया कि राष्ट्रीय सम्प्रभुता किसी भी कीमत के हाथों में नहीं जानी चाहिए। राष्ट्रपति ने अमेरिका से संबंध-विच्छेद करने में विश्वास नहीं किया। उन्होंने अनुभव किया कि यूरोप अपनी राजनीतिक आकांक्षाओं, परम्पराओं और विशेषताओं के कारण अमेरिका से भिन्न है। इंग्लैड और अमेरिका के स्वभाविक संबंधों को फ्रांस ने 'यूरोपीय दृष्टिकोण' के विरुद्ध नहीं माना। डिगॉल की तरह पोम्पिदू ने भी फ्रांस को परमाणु शक्ति के रूप में देखना चाहा। अन्तर्राष्ट्रीय विरोधों के बावजूद जून, 1972 में फ्रांस ने दक्षिण प्रशान्त महासागर में अपने परमाणु परीक्षण किये। अक्टूबर 1973, में अरब-इजराइल युद्ध के कारण विश्व में जब तेल संकट उत्पन्न हुआ तो अमेरिका ने तेल का उपयोग करने वाले देशों की संयुक्त कार्यवाही द्वारा उनका सामना करने की योजना बनाई। फ्रांस ने अपने को इस योजना से पृथक रखा।

15.4 जिस्कार युग

2 अप्रैल, 1974 को पोम्पिदू की मृत्यु के बाद जिस्कार दे एस्तें राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। उन्होंने भी अरब देशों पर संयुक्त रुप से दबाव डालने के बजाय द्विपक्षीय आधार पर सहयोग बढ़ाने

की नीति जारी रखी। बाद में अमेरिकी राष्ट्रपति फोर्ड के साथ जिस्कार की भेंट से फ्रांस ने भी तेल उपभोक्ताओं देशों के साथ सहयोग किया। फ्रांस ने अरब-इजराइल युद्ध के समय पश्चिम एशिया के देशों के निर्माण पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। जो अगस्त, 1974 में उठा लिया गया।

राष्ट्रपति जिस्कार ने अफगानिस्तान में पूर्व सोवियत संघ सैनिक हस्तक्षेप के प्रश्न पर अमेरिका और अन्य पश्चिमी राष्ट्रों को बिना शर्त समर्थन देने से इन्कार कर दिया। उन्होंने स्पष्ट किया कि फ्रांस ऐसा कोई भी उग्र दृष्टिकोण अपनाने के पक्ष में नहीं है जिससे शीत-युद्ध फिर से शुरु हो जाये। फ्रांस अपने दृष्टिकोण का निर्धारण अपने महाद्वीप के हितों और विश्व-शांति तथा सुरक्षा के संदर्भ में ही करेगा। अफगानिस्तान में रूसी हस्तक्षेप के सम्बन्ध में पाश्चात्य देशों की जो बैठक हुई, उसमें फ्रांस ने भाग नहीं लिया। राष्ट्रपति ने स्पष्ट किया कि फ्रांस ऐसी किसी बैठक के पक्ष में नहीं और न ही ऐसे किसी भी बैठक में भाग लेना चाहता है, जो विरोधी दृष्टिकोण को प्रोत्साहित करता हो। गुटों की पुनः स्थापना का विरोध आवश्यक है क्योंकि इससे केवल अन्तर्राष्ट्रीय तनाव बढ़ेगा और फ्रांस द्वारा स्वतंत्र नीति अपनाये जाने की क्षमता समाप्त हो जाएगी।

जिस्कार के कार्यकाल से ही भारत के साथ फ्रांस के सम्बन्ध मधुर बने रहे। दोनों देशों के प्रतिनिधि मंडल एक दूसरे देश की यात्रा करते रहे। जनवरी, 1976 में फ्रांसीसी प्रधानमंत्री की यात्रा से भारत और फ्रांस के बीच संबन्धों को और सुदृढ़ करने में सहायता मिली। दोनों देशों ने तकनीकि आर्थिक, उद्योग तथा औद्योगिकी के क्षेत्र में एक दूसरे को मदद पहुंचाने हेतु सहमत हुए। अक्टूबर, 1976 में भारतीय संसदीय प्रतिनिधि मंडल ने फ्रांस की यात्रा की। मार्च, 1977में भारत मे ऐतिहासिक सत्ता परिवर्तन हुआ और जनता पार्टी की सरकार बनी। नई सरकारें परम्परागत मैत्री-नीति के अनुकूल फ्रांस के साथ भारत के मैत्री संबंधों का विकास करती रही। जून, 1977 में राष्ट्रमंडल सम्मेलन से लौटते समय भारत के प्रधानमंत्री ने पेरिस में फ्रांस के राष्ट्रपति के साथ उपयोगी विचार-विमर्श किया। उसी समय भारत-फ्रांसीसी अन्तरिक्ष समझौते पर हस्ताक्षर हुए। जुलाई, 1978 में फ्रांस और भारत के बीच विज्ञान और प्रौद्यौगिकी पर एक करार हुआ। दिसम्बर, 1978 में फ्रांस के विदेश-व्यापार मंत्री नई दिल्ली आये। दोनों पक्षों में इस बात पर सहमति हुई कि अगले चार वर्षों के भीतर द्विपक्षीय व्यापार को दुगुना किया जाए और अन्य देशों में संयुक्त उद्यम स्थापित किए जायें। राष्ट्रपति जिस्कार ने जनवरी, 1980 में भारत की यात्रा की। वे भारत की यात्रा पर आने वाले फ्रांस के पहले राष्ट्रपति थे। फ्रांस के राष्ट्रपति और भारत के प्रधानमंत्री के द्वारा 27 जनवरी, 1980 को संयुक्त घोषणा की गयी, जिसमें कहा गया कि ऐसी परिस्थितियों का निर्माण हो जिसमें सभी राष्ट्रों की स्वतंत्रता, सम्प्रभुता तथा प्रादेशिक अखंडता सुरक्षित रह सके और वे बिना किसी बाहरी हस्तक्षेप के अपने भविष्य का निर्धारण कर सकें। नई दिल्ली में हस्ताक्षरित इस विज्ञप्ति में अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर चिन्ता व्यक्त करते हुए कहा गया कि फ्रांस द्वारा 'तनाव शैथिल्य' की नीति और भारत द्वारा 'गुट-निरपेक्षता' की नीति अपनाये जाने के कारण दोनों देशों पर विशेष दायित्व आ गया है। द्विपक्षीय सहयोग को बढ़ाने मे यह यात्रा बहुत सफल रही और सात संधि पत्रों तथा समझौता ज्ञापनों पर हस्ताक्षर किए गए।

15.5 फ्रेंकोइस मित्तराँ युग

मई, 1981 में फ्रेंकोइस मित्तराँ फ्रांस के राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। उनकी समाजवादी सरकार ने पहले की भाँति अमेरिका से पृथक अपने राष्ट्रीय हित के आधार पर फ्रांस द्वारा स्वतंत्र नीति अपनाई

जाने की घोषणा की। उन्होंने अमेरिकी नीति की आलोचना की और कहा कि 'तृतीय विश्व' के देशों के प्रति अमेरिका की नीति मुख्यतः अपने सामरिक हितों से प्रेरित है। राष्ट्रपति ने लैटिन अमेरिकी देशों के प्रति अमेरिका की नीति की आलोचना की और स्पष्ट शब्दों में कहा कि पाश्चात्य जगत को इस क्षेत्र के अत्याचारी तथा अलोकतांत्रिक शासकों को समर्थन देने के बजाए इस क्षेत्र में पीड़ित लोगों का समर्थन करना चाहिए। पूर्व राष्ट्रपति की भांति मित्तराँ ने भी 'गुट-टकराव' की नीति का विरोध किया।

15.6 भारत और मित्तराँ

मित्तराँ काल में भारत और फ्रांस के बीच सहयोग के आयामों का और अधिक विस्तार हुआ। श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने नवम्बर, 1981 में फ्रांस की यात्रा की। संयुक्त विज्ञप्ति में दोनों देशों द्वारा एक 'तीसरी शक्ति' (Third Power) के रुप में कार्य करने पर बल दिया गया। फ्रांस ने तृतीय विश्व के गरीब राष्ट्रों के प्रति अपनी चिन्ता व्यक्त करते हुए भारत के साथ महाशक्तियों (Super Powers) से दूरी बनाए रखने का निश्चय किया। दोनों पक्षों ने संयुक्त घोषणा में भय, प्रभुत्व और अहंकार पर आधारित संबंधों के आचरण का विरोध करते हुए विदेशी प्रभुत्व या बाहरी हस्तक्षेप से देशों की स्वाधीनता की रक्षा करने के अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के कर्तव्य पर जोर दिया। अक्टूबर, 1982 में भारत और फ्रांस के बीच मिराज विमान संबंधी समझौता हुआ और आर्थिक तथा सैनिक क्षेत्र में सहयोग का मार्ग प्रशस्त हुआ। जून, 1983 में इलेक्ट्रानिक्स, कम्प्यूटर तथा सूचना विज्ञान से सम्बद्ध भारत-फ्रांस समझौता ज्ञापन पर हस्ताक्षर किए। दोनों देशों ने एक दूसरे के यहां उच्च स्तरीय यात्रा की। 1984-85 में भी भारत-फ्रांस के सम्बन्ध निरन्तर विकसित होते रहे। विदेश मंत्री को अप्रैल 1984 में पेरिस यात्रा के दौरान भारत-फ्रांस द्विपक्षीय वार्ता हुई। एक दूसरे के यहाँ उच्च स्तरीय यात्राएँ सम्पन्न की गयीं जिसमें फ्रांस की नेशनल असेम्बली के अध्यक्ष की फरवरी, 1984 में तथा भारत के उप राष्ट्रपति की जुलाई, 1984 में फ्रांस यात्रा महत्वपूर्ण थी। अगस्त 1984, में फ्रांस ने भारत के साथ आधुनिकतम लम्बी दूरी के हवा से हवा में मार करने वाले तथा इन्फ्रारेड सीकर प्रक्षेपास्त्रों की आपूर्ति के लिए समझौता किया। वर्ष, 1986 तक दोनों देशों के बीच सहयोग के अनेक क्षेत्रों का विस्तार हुआ।

15.7 फ्रांस और सोवियत संघ

पूर्व सोवियत संघ के साथ फ्रांस की समाजवादी सरकार के सम्बन्ध अच्छे रहे। जून, 1973 में ब्रेझनेव ने फ्रांस की तथा अक्टूबर, 1975 में राष्ट्रपति जिस्कार ने पूर्व सोवियत संघ की यात्रा की। जिसमें दोनों देशों के बीच सहयोग-सूत्र विकसित हुए। जून, 1977 में ब्रेझनेव ने पूर्व सोवियत संघ के राष्ट्रपति के रूप में पेरिस की सबसे पहली यात्रा सम्पन्न की। अमेरिका और रूस के सम्बन्ध स्थापित करने की आवश्यकता महसूस की और फ्रांस ने भी यह स्पष्ट किया कि वह सोवियत संघ को यूरोप में एक महत्वपूर्ण मित्र और भागीदार मानता है। राष्ट्रपति मित्तराँ ने 23 जून, 1984 को अपनी पूर्व सोवियत संघ की यात्रा समाप्त की। यात्रा का कोई विशेष परिणाम तो नहीं निकला परन्तु दोनों देशों ने विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दों पर अपनी स्थिति से एक दूसरे को अवगत कराया। फ्रांस के राष्ट्रपति ने वार्ता के दौरान चैरनैन्को को स्पष्ट कर दिया कि फ्रांस परमाणु शस्त्रों की स्पर्धा को कम करने

का पक्षधर है। वह चाहता है कि जेनेवा वार्ताएँ पुनः आरम्भ हों। पूर्व सोवियत संघ ने इस विचार से सहमति प्रकट करते हुए यह भी स्पष्ट कर दिया कि वार्ताएँ तभी प्रारम्भ हो सकती हैं जब अमेरिका अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन करे।

15.8 फ्रांस और अन्य देश

फ्रांस ने अफगानिस्तान में रूसी हस्तक्षेप (1979) और पोलैण्ड के प्रश्न (1981) पर अमेरिकन नीति का समर्थन नहीं किया और ऐसे विकल्प का सुझाव दिया जिससे संघर्ष तीव्र न हो तथा शान्ति वार्ता की स्थापना हो। संसार में युद्ध और तनाव को कम करने की दृष्टि से राष्ट्रपति मित्तराँ ने घोषणा की कि फ्रांस अपनी 'शस्त्र-विक्रय-नीति' (Arms Sales Policy) में परिवर्तन करेगा। फ्रांस ने भारत की गुट निरपेक्षता की नीति की हमेशा सराहना की और यह मत प्रस्तुत किया कि ऐसे विश्व में जो दो विरोधी गुटों में विभाजित है, ऐसी नीति का विशेष महत्व है। फ्रांस द्वारा दोनों महाशक्तियों अमेरिका और रूस के स्वतंत्र नीति अपनाये जाने पर टिप्पणी करते हुए मित्तराँ ने कहा 'फ्रांस अपनी भौगोलिक और राजनीतिक परिस्थितियों के कारण एक सैनिक गठबंधन से सम्बद्ध है। हम पिछले दो विश्व-युद्धों के केन्द्र रहे हैं। हम एक छोटे से महाद्वीप यूरोप पर स्थित हैं, जहाँ एक महाशक्ति की सैनिक सर्वोच्चता पूर्ण रूप से स्थापित है। फिर भी हम सोवियत संघ को अपना शत्रु नहीं मानते हैं। किन्तु हमें यह देखना है कि हम पूर्ण रूप से सुरक्षित रहें। मेरा दृष्टिकोण केवल सुरक्षात्मक है, किन्तु इसमें एक गठबंधन निहित है। इस गठबंधन में केवल हम ही एक ऐसे राष्ट्र हैं, जिसने अपने निर्णय की स्वतंत्रता को बनाए रखा है। हम नाटो के सैनिक कमान से सम्बद्ध नहीं हैं तथा मैं एक ऐसी स्वतंत्रता बनाए रखने पर बल देता हूँ। मैं यह नहीं चाहता कि अटलांटिक संगठन हमारे अस्तित्व के सभी पहलुओं को निर्धारित करे। मैं यह नहीं चाहता हूँ कि यह गठबंधन विश्व राजनीति के दाँवपेंच का एक तत्व समझा जाए। मैं अन्तर्राष्ट्रीय बहिष्कार नीति में विश्वास नहीं करता। इस स्थिति ने अमेरिका के साथ हमारे संबंधों में कुछ कठिनाइयाँ उत्पन्न कर दी हैं। मैं अपने दृष्टिकोण को बदलने नहीं जा रहा।' अक्टूबर, 1978 में फ्रांस के राष्ट्रपति जिस्कार और जर्मनी के चांसलर स्कीमिड की मुलाकात से मध्य यूरोप की राजनीति में सययोग और मैत्री के एक नये युग की शुरुआत हुई।

15.9 मित्तराँ युग एक सिंहावलोकन

समाजवादी नेता फ्रेंकोइस मित्तराँ लगातार 14 वर्षों तक राष्ट्रपति रहे। जनरल डिगॉल के पराभाव के बाद फ्रांसीसी विदेश नीति पर सर्वाधिक प्रभाव उन्हीं का रहा। उन्होंने 'यूरोपीय मंच' पर फ्रांस को गौरवपूर्ण ढ़ंग से प्रतिष्ठित किया। उन्होंने तृतीय विश्व के एशियाई, अफ्रीकी और लेटिन अमेरिकी देशों के साथ फ्रांस के घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किये। उन्होंने पूर्व सोवियत संघ तथा पूर्वी यूरोप के साम्यवादी राष्ट्रों के साथ भी मधुर सम्बन्ध स्थापित किए। मित्तराँ ने अमेरिका के साथ 'समान स्तरीय संबंध' विकसित किए और यूरोपीय एकीकरण की प्रक्रिया में पूरा योगदान दिया। उन्होंने फ्रांस की आणविक क्षमता में अनवरत वृद्धि की और प्रशान्त महासागरीय क्षेत्र के देशों के भारी विरोध के बावजूद एक के बाद एक आणविक विस्फोट किये। इस तरह उनके नेतृत्व में फ्रांस एक बड़ी शक्ति के रुप में उभर कर सामने आया।

15.10 जेम्स शिराक युग

गॉलिस्ट पार्टी के नेता जेम्स शिराक 7 मई, 1995 को सम्पन्न हुए चुनाव में राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। उनके सम्मुख विदेश नीति के बारे में अनेक समस्याएँ उत्पन्न हुई। उनके सम्मुख एकीकृत यूरोप की अवधारणा, तृतीय विश्व के देशों के साथ पारम्परिक सम्बन्धों में शिथिलता नहीं आने देना, परमाणु परीक्षणों का विकल्प खुला रखने तथा अमेरिका के साथ सम्बन्धों के निर्धारण करने जैसे मुख्य प्रश्न उपस्थित हुए। उनके समय निम्नलिखित बिन्दुओं पर ध्यान दिया गया।

1. अब फ्रांस ने आँख बन्द कर किसी कार्यवाही का समर्थन करना छोड़ दिया। उदाहरण के लिए 'खाड़ी-युद्ध' के समय उसने अमेरिका के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर कार्य किया था। लेकिन जब अमेरिका ने युद्ध की समाप्ति के बाद इराक पर बमबारी की तो फ्रांस ने उसका विरोध किया।

2. फ्रांस ने सोवियत संघ के उत्तराधिकारी रुस और पूर्व सोवियत संघ से अलग हुए मध्य एशिया के गणराज्यों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध विकसित करने की कोशिश की।

3. फ्रांस यूरोपीय एकीकरण की प्रक्रिया का प्रबल समर्थक रहा है। उसने यूरोपीय एकीकरण की प्रतीक सन्धि पर हस्ताक्षर किए थे। इस सन्धि में बीसवीं शताब्दी के अन्त तक एक ही बाजार, एक ही मुद्रा और एक ही केन्द्रीय बैंक का प्रावधान था। 1 जनवरी, 1987 से 'यूरोपीय मुद्रा संस्थान' कार्य कर रहा है। वर्ष 1999 से यूरोपीय संघ के सदस्य देशों में 'एकल मुद्रा' व्यवस्था लागू है। संधि में एकीकृत बाजार और मुद्रा के बाद संघ के सभी सदस्य देशों की एक साझा विदेश और प्रतिरक्षा नीति के निर्माण का प्रावधान है।

4. फ्रांस उत्तरी अटलांटिक संधि संगठन (नाटो) का सदस्य फिर बन गया। राष्ट्रपति जनरल डिगॉल के शासनकाल में इसने नाटो की सदस्यता का परित्याग कर दिया था।

5. पश्चिमी यूरोप के देशों - ब्रिटेन, इटली, बेल्जियम, लक्जमबर्ग, हालैंड इत्यादि के साथ फ्रांस ने घनिष्ठ संबंध बनाए;

6. प्रशान्त महासागरीय देशों, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड तथा पपुआ न्यूगिनी के भारी विरोध के बावजूद फ्रांस ने इस क्षेत्र में भूमिगत आणविक विस्फोट का सिलसिला जारी रखा।

7. फ्रांस संयुक्त राष्ट्र की गतिविधियों में प्रमुखता से भाग लेता रहा। उसन सयुक्त राष्ट्र को दिये जाने वाले अंशदान का भी समय पर भुगतान किया। समय-समय पर संयुक्त राष्ट्र के अपील पर संघ के शान्ति मिशनों में अपने सैनिक भेजे हैं।

8. निःशस्त्रीकरण की प्रक्रिया को फ्रांस ने अपना समर्थन दिया और व्यापक परमाणु प्रतिबन्ध सन्धि पर भी हस्ताक्षर किए।

9. विकसित राष्ट्रों के संगठन जी-8 का फ्रांस एक महत्वपूर्ण सदस्य देश है।

10. राष्ट्रपति डिगॉल के समय जो फ्रांस और चीन के बीच सम्बन्ध बने उसे शिराक ने और मजबूती प्रदान किया।

11. फ्रांस ने राष्ट्रपति शिराक की न्यूयार्क में 23 सितम्बर, 2003 को हुई, प्रेस कान्फ्रेंस में भारत की सुरक्षा परिषद की स्थायी सदस्यता की दावेदारी का पुनः समर्थन किया। इसने भारत के पाकिस्तान के साथ बेहतर सामान्य रिश्तों के लिए उठाए गए कदमों का भी समर्थन किया है। तत्कालीन प्रधानमंत्री अटल बिहारी बाजपेयी ने फ्रेंच अध्यक्षता में 1-8 जून को आयोजित 'जी-8 विस्तारिक संवाद' में भाग लिया जो जी-8 के एविअन में विकासशील देशों के समूह के नेताओं के साथ पहली बार हुए सलाहकार सम्मेलन के सम्बन्ध में था। बातचीत के दौरान प्रधानमंत्री ने भारत विकास पर्यावरण और बहुपक्षीय व्यापार मुद्दों पर विचार किया। भारत-फ्रांस संवाद का 11 वाँ दौर 19 जनवरी, 2004 को नई दिल्ली में हुआ जिसमें भारतीय दल का प्रतिनिधित्व ब्रजेश मिश्रा, राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार और फ्रेंच पक्ष का प्रतिनिधित्व राष्ट्रपति शिराक के राजनीतिक सलाहकार ने किया। भारत ने फ्रांस से मिशन-2000 के साथ-साथ अत्याधुनिक हथियार खरीदे हैं। दोनों देश नेनोटेक्नोलॉजी, सूचना प्रौद्योगिकी, औद्योगिक अनुसंधान, पर्यावरण तथा जल क्षेत्र में सहयोग करने की दिशा में आगे बढ़ रहे हैं। दो भारतीय उपग्रह इनसैट 3-ए और इनसैट 3-ई कोरु (फ्रेंच गुआना) के गिरमाना लांचर से अप्रैल, 2003 और सितम्बर, 2003 में सफलतापूर्वक प्रक्षेपित किए गए। दोनों देशों के बीच नागरिक संवाद के साथ-साथ सांस्कृतिक सम्बन्धों को भी आगे बढ़ाया जा रहा है। 17-20 मई, 2003 को कान फिल्म समारोह में तत्कालीन सूचना और प्रसारण राज्य मंत्री रवि शंकर प्रसाद ने भारतीय प्रतिनिधित्व मंत्रीमण्डल का प्रतिनिधित्व किया, कृषि, मत्स्य, ग्रामीण विकास, वन और खाद्य उद्योग क्षेत्रों में समझौते हुए हैं। वर्तमान में भी दोनों देश आपसी सूझ-बूझ के साथ आगे बढ़ रहे हैं।

15.11 सारांश

1789 की फ्रांस की राज्य क्रांति ने समानता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व के नारे लगाकर विश्व में प्रजातांत्रिक भावना फैला दी और यह माना कि सम्प्रभुता जनता में निवास करती है। फ्रांस की राज्य क्रांति के संदेश ने प्रजातांत्रिक सम्प्रभु के आपसी सम्बन्धों का श्रीगणेश किया और आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों का सूत्रपात किया। प्रथम विश्वयुद्ध और दूसरे विश्वयुद्ध में विजेता गुट में होने के बावजूद फ्रांस को काफी हानि हुई थी। द्वितीय विश्वयुद्ध के परिणामस्वरुप विश्व का नक्शा ही बदल गया। साम्राज्यवादी व उपनिवेशवाद समाप्त हो गया। तानाशाहों की शक्ति समाप्त हो गयी। अणुशक्ति व आणविक शस्त्रों का विकास हुआ। द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका, सोवियत संघ, जर्मनी, जापान व इटली शक्तिशाली देश थे परन्तु युद्ध के उपरान्त अब पूर्व सोवियत संघ (रूस) और अमेरिका का वर्चस्व हो गया। ऐसी स्थिति में फ्रंसीसी राजनेताओं ने एक प्रभावी विदेश नीति की आवश्यकता महसूस की। 1949 से 1959 के दशक में जनवादी चीन एक महाशक्ति का रूप ग्रहण

करने लगा था। कोरिया में बराबरी पर युद्ध समाप्त करने को बाध्य, हंगरी के सहायतार्थ कुछ भी कर सकने में असमर्थ वियतनाम में बुरी तरह उलझा सर्वशक्तिमान अमेरिका का विश्व नेतृत्व का सपना टूटने लगा था। यद्यपि उसका व्यामोह अभी पूरी तरह समाप्त नहीं हुआ था। ऐसे में फ्रांसीसी नेता डिगॉल ने पेकिंग की ओर सद्भावना का हाथ बढ़ाकर पुराने शक्ति संतुलन में बदलाव के संकेत दिया। अमेरिका की नीतियों से स्वतंत्र अपनी नीति जर्मनी, पूर्व सोवियत संघ तथा पूर्वी दक्षिणी-पूर्वी एवं पश्चिमी एशिया के सन्दर्भ में पाँचवें गणतंत्र की नीतियों में पुनरीक्षण की ताजगी तथा दिशा परिवर्तन स्पष्ट था। अमेरिका नेतृत्व वाले सन्धि संगठनों, नाटो, सेंटो, सियटो आदि के प्रति रवैये में परिवर्तन हुआ। सभी क्षेत्रों में प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय उलझन के सन्दर्भ में फ्रांस की प्रतिक्रिया स्वतंत्र रूप से व्यक्त की जाने लगी। अपने छोटे से आणविक अस्त्रागार की व्यवस्था करके डिगॉल ने लगभग एक शताब्दी पुरानी सुरक्षा समस्या का भी बहुत कुछ समाधान कर लिया था।

विश्व परिप्रेक्ष्य में शक्तियों के घात-प्रतिघात से लाभ उठाना कुशल राजनेता की विभूति होती है। पाँचवें गणतंत्र के जनक ने ठीक यही काम किया। स्वतंत्र नीति से संयुक्त राज्य को रोष तथा क्षोभ दोनों ही हुए। ब्रिटेन की कुछ उलझनें बढ़ीं, किन्तु कुल मिलाकर फ्रांस का हित हुआ। अल्जीरिया उल्झन को समाप्त करके तथा अफ्रीकी उपनिवेशकों को स्वतंत्रता प्रदान करके डिगॉल ने अपने देश के राजनयिक सम्बन्धों के एक नये युग का सूत्रपात किया।

डिगॉल की नीति अवसर तथा स्थिति की आवश्यकता क अनुरुप नया दिशा संधान करती रही। वह जर्मनी के विरुद्ध पूर्व सोवियत संघ से पूर्व सोवियत संघ के विरुद्ध अमेरिका से, अमेरिका के विरुद्ध चीन से हाथ मिलाता रहा। डिगॉल के बाद भी फ्रांस की नीतियों का लहजा तथा शैली बहुत कुछ वही रही। इसके अतिवादों का परित्याग किया जाने लगा है। स्वतंत्र विदेश नीति ने फ्रांस की प्रतिष्ठा में वृद्धि की है। आणविक अस्त्रागार ने उसे सुरक्षा का आत्मविश्वास प्रदान किया है। मध्यम स्तर के देशों में फ्रांस अग्रगण्य है। लेकिन वर्तमान में बढ़ते बेरोजगारी तथा अर्थतंत्र में आए कमजोरी ने राष्ट्रपति शिराक के सामने कई चुनौतियां खड़ी की हैं।

15.12 संदर्भ ग्रन्थ

1.	Black & Thompson	:	Forign Policies in a Changing world.
2.	Dr. Vijay Arora	:	International Politics (Hindi)
3.	Edward Mortimer	:	France and the Africans 1944-60 A Political History
4.	Maurice Larkin	:	France Since the popular front government and people - 1936-96
5.	Kenneth Mour'e & Martin S. Alexander	:	Grisis and Renewal in France 1918-62
6.	D.L. Hanely, A.P. Kerr : and N.H. Waites		Contemporany France, Politics and Society since 1945

15.13 संबंधित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. जनरल डिगॉल की विदेश नीति का विश्लेषण कीजिए।
2. फ्रेंकोइस मित्तराँ काल में भारत व फ्रांस संबंध पर प्रकाश डालें।
3. फ्रांस की विदेश नीति का एक सार विश्लेषण प्रस्तुत करें।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. फ्रांस एवं अमेरिकी संबंध
2. फ्रांस एवं चीन संबंध
3. फ्रांसीसी विदेश नीति में जेम्स शिराक का योगदान

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. फ्रांस ने अल्जीरिया को कब स्वतंत्रता प्रदान की -

(a) 1962 (b) 1961

(c) 1963 (d) 1964

2. भारत की यात्रा पर आने वाले पहले राष्ट्रपति कौन थे।

(a) जनरल डिगॉल (b) गार्ज पोम्पिदू

(c) जिस्कार (d) मित्तराँ

3. फ्रेंकोइस मित्तराँ कितने वर्षों तक राष्ट्रपति रहे।

(a) 5 वर्ष (b) 10 वर्ष

(c) 15 वर्ष (d) 14 वर्ष

15.14 प्रश्नोत्तर

1. a
2. c
3. d

इकाई-16 रूस एवं चीन की विदेश नीति की सामान्य विशेषताएँ (प्रथम भाग- रूस की विदेश नीति)

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 रूसी विदेश नीति के सम्मुख प्रमुख चुनौतियाँ

16.3 सोवियत संघ के विघटन के बाद रूसी विदेश नीति के आधार तथा प्राथमिकताएँ

16.4 रूस एवं अमेरिका

16.5 रूस एवं अन्य पश्चिमी यूरोप के राष्ट्र

16.6 रूस तथा उत्तर अटलांटिक सन्धि संगठन

16.7 रूस तथा चीन

16.8 रूस तथा जापान

16.9 रूस तथा भारत

16.10 रूस तथा 'राष्ट्रकुल'

16.11 रूस की अन्य नीति

16.12 सारांश

16.13 सन्दर्भ ग्रन्थ

16.14 सम्बन्धित प्रश्न

16.15 प्रश्नोत्तर

16.0 उद्देश्य

इस इकाई के अन्तर्गत हम क्रमशः रूस तथा चीन की विदेश नीतियों का अध्ययन करेंगे। प्रस्तुत इकाई को दो भागों में विभाजित किया गया है। प्रथम भाग में रूस तथा दूसरे भाग में चीन की विदेश नीति के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डाला जाएगा।

प्रथम इकाई के अध्ययन के बाद आप

- सोवियत संघ के विघटन के बाद रूसी विदेश नीति के आधार, चुनौतियों एवं भावी परिदृश्य से अवगत होंगे।
- रूस का विभिन्न देशों के साथ (जैसा अमेरिका, चीन, यूरोपीय राष्ट्र जापान इत्यादि) सम्बन्धों को समझ पायेंगे।
- वर्तमान बदलते वैश्विक परिदृश्य में रूस एवं भारत के सम्बन्धों के महत्त्व एवं प्रभाव का विश्लेषण कर पायेंगे।

16.1 प्रस्तावना

रूस की बोल्शेविक क्रान्ति विश्व की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व विश्व में प्रभाव डालने वाली अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना थी तथा इसका समस्त विश्व पर प्रभाव पड़ा। लेनिन ने अत्यन्त व्यावहारिक नीति अपनाई। उसकी मृत्यु के बाद ट्राटस्की व अन्य समस्त विश्व में साम्यवाद के प्रसार के पक्ष में थे, परन्तु स्टालिन ने रूस की विदेश नीति को नयी दिशा दी। इतिहासकार इ0एच0 कार के अनुसार–

"The emergence of Stalin had been said to indicate the return of Russia to the policy of purely national rather than class interests and the abandonment of communism in favour of state socialism or even state capitalism.

शुमां के अनुसार–

"The year 1921 marked a turning point both in internal politics and in the foreign relations of the soviet government."

रूस की विदेश नीति के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है क्योंकि इसका निर्माण समय और परिस्थितियों के अनुसार किया गया है और समयानुसार इसमें परिवर्तन होते रहे। रूस की विदेश नीति ने समयानुसार अनेक रूप धारण करते हुए, अपने लक्ष्य प्राप्ति में सफलता पाई। रूस ने कभी जर्मनी से ब्रेस्ट लिटोवस्क (Brest Litovsk) व रैपोलो (Repello) की सन्धि की, फिर मित्र राष्ट्रों से सन्धि की, राष्ट्रसंघ का समर्थन किया तथा कामिन्टर्न (Comintern) द्वारा साम्यवाद के प्रसार का प्रयास किया तथा हिटलर के नाजी जर्मनी का विरोध किया, फिर पोलैंड का बंटवारा हिटलर से मैत्री करके किया, फिर हिटलर से युद्ध किया। द्वितीय महायुद्ध के बाद शीतयुद्ध में पक्षकार बना। संयुक्त राज्य (U.S.) से संघर्ष किया तथा 1971 में भारत से उसी प्रकार की मैत्री सन्धि की जैसी फ्रांस व रूस ने 1894 में की थी तथा चीन से कटुता उत्पन्न की और अब रूस का झुकाव अमेरिका से व पश्चिमी देशों व संयुक्त जर्मनी से मधुर सम्बन्ध बनाने की ओर है। अतः इसकी विदेश नीति के सम्बन्ध में मतभेद स्वाभाविक है।

रूस की विदेश नीति को कई भागों में विभक्त किया गया है और इसके बारे में विभिन्न मत प्रकट किए गए हैं। कुछ विद्वानों का कथन है कि देश की विदेश नीति भौगोलिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों और विस्तारवादी नीतियों से निर्धारित होती है। अतः साम्यवाद रूस की नीति भी जार की नीतियों की अनुकरण मात्र है। जिस प्रकार जार का उद्देश्य रूस के साम्राज्य और शक्ति का विस्तार करना था वहीं साम्यवादी सरकार का भी रहा है। जार भी पूर्वी यूरोपीय देशों पर प्रभाव स्थापित करने का इच्छुक था। वहीं रूस की साम्यवादी सरकार ने भी द्वितीय महायुद्ध के बाद स्टालिन के समय में लिथोनिया, लिटेविया, इस्थूनिया को अपना अंग बनाकर व पूर्वी यूरोपीय देशों में पोलैंड, रूमानिया, बुल्गारिया, अल्बानिया आदि पर प्रभाव स्थापित करके किया। यही नहीं जार की महत्त्वाकांक्षा से कहीं अधिक साम्यवादी सरकार ने विस्तार किया।

हंगरी व चैकोस्लोवाकिया जो आस्ट्रिया हंगरी साम्राज्य के अंग थे तथा पूर्वी जर्मनी पर अधिकार करने की महत्त्वकांक्षा शायद ही किसी शासन में रही है। परन्तु साम्यवादी शासन ने वहाँ पर भी प्रभाव स्थापित किया और अफगानिस्तान पर भी अधिकार जमाने की चेष्टा की जिसके कारण ब्रिटिशकालीन भारत में अफगान युद्ध होते रहे तथा चीन और जापान पर कुछ क्षेत्रों के अधिकार के कारण अब भी तनाव है। अतः इस पक्ष के विचारकों का कथन है कि रूस की नीति अब भी जार की विस्तारवादी नीतियों से प्रभावित है तथा जापान और फ्रांस तथा उसके मित्र-राष्ट्रों व ब्रिटेन से उसके उसी प्रकार के सम्बन्ध हैं, जो जार के समय से चले आ रहे हैं।

दूसरे पक्ष का कथन है कि रूस की साम्यवादी सरकार द्वारा व चलाई गई नवीन साम्यवादी नीति थी, जो विश्व में समाजवादी क्रान्ति लाने के लिए पथ-प्रदर्शन का कार्य कर रही थी जैसा कि कामिन्टर्न (comintern) की स्थापना और रूस की साम्यवाद सरकार द्वारा विश्व में साम्यवादी सिद्धान्त के प्रसार के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहने से स्पष्ट है। साम्यवादी सरकार विश्व में श्रमिकों के कल्याण, साम्यवादी के विकास और शोषित जनता के विकास के लिए निरन्तर प्रयत्नशील है तथा निर्गुट देशों की सहायता व 1971 में भारत की सन्धि से, वियतनाम में अमेरिका का विरोध और विश्व में पूँजीवाद के विरोध से इसकी प्रगतिशील नीतियाँ स्पष्ट हो जाती हैं।

परन्तु तीसरे पक्ष का कथन है कि रूस की विदेश नीति व्यावहारिक है। यह न तो पूर्ण रूप से ज़ारशाही का अनुकरण मात्र है और न ही पूर्ण रूप से साम्यवादी विचारधारा पर आधारित है बल्कि यह दोनों का सम्मिश्रण हैं।

कोई भी देश अपनी विदेश नीति में ऐतिहासिक गतिविधियों, भौगोलिक परिस्थितियों और राजनीतिक वातावरण से प्रभावित होता है। केवल कुछ अन्तर किया जा सकता है जैसे जार की नीति साम्राज्यवादी नीति थी परन्तु 1991 से पहले रूस की साम्यवादी सरकार की नीति समाजवादी नीति थी जो असमानता, शोषण, उपनिवेशवाद व धार्मिक कट्टरता के विरोध पर आधारित थी। परन्तु रूस की विदेश नीति समय-समय पर बदलती रही है। तथा इस सम्बन्ध में इसकी किसी एक निश्चित धारा का निर्धारण कर पाना कठिन है। केवल यह कहा जा सकता है कि रूस की विदेश नीति परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होती रही है।

1917 में लेनिन के नेतृत्व में पूर्व सोवियत संघ में साम्यवादी क्रान्ति हुई जिससे वहाँ साम्यवादी शासन व्यवस्था स्थापित हुई थी। लेनिन के बाद स्टालिन, निकिता ख़ुश्चेव, ब्रेझनेव और मिखाइल गोर्बाच्चोव पूर्व सोवियत संघ के प्रमुख शासक रहे। 1991 में अपने विघटन तक पूर्व सोवियत संघ विश्व-राजनीति को बहुत हद तक प्रभावित करता रहा। 11 मार्च, 1985 को मिखाइल गोर्बाच्चोव, चैरनेन्को के उत्तराधिकारी बने। पहले वे पूर्व सोवियत संघ के साम्यवादी दल के महासचिव और बाद में राष्ट्रपति के रूप में सत्तारूढ़ हुए। वे अपनी कार्यशैली में 'इतिहास पुरुष' बन गए। उनकी 'ग्लासनोस्त' (खुलेपन) तथा 'पेरेस्त्रोइका' (पुनर्निर्माण) की नीति ने केवल पर्व सोवियत संघ में ही अपितु सम्पूर्ण पूर्वी यूरोप में साम्यवाद के 'सुदृढ़ दुर्ग' को ध्वस्त कर दिया।

उन्होंने अपनी नीतियों से नागरिकों को सर्वसत्तावादी तानाशाही से मुक्त करा दिया। 25 दिसम्बर, 1991 को मिखाइल गोर्बाच्चोव ने पूर्व सोवियत संघ के राष्ट्रपति पद से त्याग पत्र दे दिया। 26 दिसम्बर को उन्होंने पूर्व सोवियत संघ के विधिवत रूप से विघटन की घोषणा की। इसके साथ ही 75 वर्षीय पूर्व सोवियत संघ विश्व मानचित्र से ओझल हो गया। डा0 प्रभुदत्त शर्मा ने पूर्व सोवियत संघ के महाशक्ति के रूप में पतन तथा इसका अनेक गणराज्यों में विघटन से विश्व राजनीति पर पड़े प्रभाव को विश्लेषित करते हुए लिखा है कि इसने विश्व राजनीति के परिदृश्य को ही बदल कर रख दिया। पूर्वी यूरोप में साम्यवाद का अवसान हुआ और वहाँ बहुदलीय लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं की स्थापना हुई वारसा सन्धि संगठन को समाप्त कर दिया गया तथा पूर्वी यूरोप के सोवियत सेनाओं को वापस बुला लिया गया। पूर्व सोवियत संघ के विघटन के कारण उत्तर अटलांटिक सन्धि संगठन (नाटो) का भी औपचारिक महत्त्व ही रहा गया। इस प्रकार पूर्व सोवियत संघ के विघटन से विश्व राजनीति में भारी उथल-पुथल हुई।

16.2 रूसी विदेश नीति के सम्मुख प्रमुख चुनौतियाँ

पूर्व सोवियत संघ की जगह विश्व मानचित्र पर रूस ने ली। यह पूर्व सोवियत संघ के विशाल भू-भाग का प्रतिनिधित्व करता है। क्रेमलिन यहीं स्थित है। पूर्व सोवियत संघ के प्रमुख शहर, औद्योगिक तथा सैनिक प्रतिष्ठान भी यहीं स्थित थे। मिखाइल गोर्बाच्चोव के राष्ट्रपति काल में ही बोरिस येल्तसिन एक नेता के रूप में उभरे थे। अमेरिका तथा अन्य पाश्चात्य राष्ट्रों द्वारा उन्हें महत्त्व मिलने लगा था। 1991 में गोर्बाच्चोव से 'परमाणु बटन' उन्हें ही प्राप्त हुआ। बोरिस येल्तसिन ने रूसी विदेश नीति की प्राथमिकताओं, सिद्धान्तों तथा उद्देश्यों का निरूपण किया। इसीलिए उन्हें रूसी विदेश नीति के 'निर्माता तथा सूत्रधार' की संज्ञा से विभूषित किया गया। सत्ता संभालने के साथ ही उनके सम्मुख विदेश नीति का निर्धारण करते समय कई चुनौतियाँ मौजूद थीं। रूस की जर्जर आर्थिक स्थिति तथा दूरावस्था, साम्यवादी तत्त्वों की चुनौती, रूस विशुद्ध रूप से यूरोपीय देश के रूप में, पूर्व सोवियत संघ से अलग हुए गणराज्यों के साथ सम्बन्धों के निर्धारण का प्रश्न शीतयुद्ध की समाप्ति तथा अमेरिका के साथ नये सिरे से सम्बन्धों के निर्धारण का प्रश्न, चीन और जापान के साथ सम्बन्धों के निर्धारण का प्रश्न, पूर्व सोवियत संघ के उत्तराधिकारी की भूमिका और उभरते प्रश्न जैसी तमाम चुनौतियाँ बोरिस येल्तसिन के समक्ष मुँह बाये खड़ी थीं।

16.3 सोवियत संघ के विघटन के बाद रूसी विदेश नीति के आधार तथा प्राथमिकताएँ

राष्ट्रपति बोरिस येल्तसिन ने नवीन अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य में राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा को विदेश नीति का आधार बनाया। देश में फिर से साम्यवाद न उभरे, इसके लिए रूस ने अमेरिका तथा अन्य पाश्चात्य देशों का सहयोग प्राप्त किया। कुछ करने के पहले देश के लोकतान्त्रिक स्वरूप की सुरक्षा का विशेष ध्यान रखा गया। रूस यूरोपीय एकीकरण की प्रक्रिया में भाग लेता

रहा। उसने ब्रिटेन, फ्रांस तथा जर्मनी जैसे यूरोपीय राष्ट्रों से सम्बन्ध स्थापित किए। रूस अपने आपको पूर्व सोवियत संघ के उत्तराधिकारी के रूप में देखता है। 1991 में रूस अपनी जर्जर अर्थव्यवस्था तथा अन्य आन्तरिक समस्याओं से भली-भाँति परिचित था। अतः राजनीति में मुखरित भूमिका का निर्वाहन करने के स्थान पर रूस आन्तरिक समस्याओं का समाधान करने की दिशा में अधिक कृतसंकल्प था। इसलिए वह इराक, हैती, बोस्निया, हर्जेगोविना तथा लीबिया जैसी ज्वलन्त विश्व-समस्याओं के समाधान की दिशा में परोक्ष भूमिका का निर्वाह करता रहा है। रूस ने अमेरिका के साथ आणविक हथियारों और प्रक्षेपास्त्रों के परिसीमन करने सम्बन्धी विभिन्न समझौते पर हस्ताक्षर करते हुए अपने सैनिक व्यय में भारी कटौती की। 1996 में रूस ने व्यापक परमाणु परीक्षण निषेध सन्धि (सी0टी0बी0टी0) को पारित करवाने में अहम भूमिका का निर्वाह किया। बोरिस येल्तसिन ने हमेशा संयुक्त राष्ट्र (The U.N.) की नीतियों का समर्थन किया।

16.4 रूस एवं अमेरिका

पूर्व सोवियत संघ के विघटन के बाद बोरिस येल्तसीन रूसी गणराज्य के राष्ट्रपति बने। उन्होंने सत्तारूढ़ होते ही अनेक अवसरों पर स्पष्ट किया कि अगर अमेरिका और अन्य पाश्चात्य देशों ने उनके देश की आर्थिक सहायता नहीं की तो स्थितियाँ बेकाबू हो जायेंगी तथा पुनः साम्यवादी तत्त्व हावी हो जायेंगे। अमेरिका ने बोरिस येल्तसिन को लोकतान्त्रिक शक्तियों का प्रतीक समझकर, रूस में लोकतन्त्र को अक्षुण्ण बनाए रखने तथा साम्यवाद को पुनः नहीं उभरने देने के लिए उसे पर्याप्त रूप से आर्थिक सहायता प्रदान की। रूस के प्रति अमेरिका की विदेश नीति इस मूल धारणा पर आधारित थी कि अगर बोरिस येल्तसिन को समय पर आर्थिक सहायता प्रदान नहीं की गई तो उनकी कठिनाइयाँ बढ़ जायेंगी तथा रूस में पुनः साम्यवाद का पुनरागमन हो जायेगा। येल्तसिन और साम्यवादियों के बीच संघर्ष में अमेरिका ने येल्तसिन को पूरा समर्थन दिया। अन्य पाश्चात्य देशों ने भी ऐसा ही किया। इस समर्थन के सहारे बोरिस येल्तसिन ने साम्यवादियों की सशक्त चुनौतियों को कुचल दिया और अपनी सत्ता सुरक्षित कर ली। अमेरिका के प्रयासों से रूस जी-7 राष्ट्रों के संगठन से न केवल आर्थिक सहायता प्राप्त करने में सफल रहा बल्कि वह इसका नियमित सदस्य भी बन गया। रूस अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में अमेरिका के साथ किसी तरह से टकराहट पालने के पक्ष में नहीं रहा। यद्यपि वह अमेरिका की इराक, लीबिया तथा हैती सम्बन्धी नीति से सहमत नहीं रहा फिर भी उसने अपनी आन्तरिक स्थिति के कारण इन मामलों में अमेरिका विरोधी स्वर उजागर नहीं किये। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में स्वतन्त्र नीति का अनुसरण करने से रोकने के लिए अमेरिका ने रूस के ऊपर दबाव बनाए रखा। जब रूस ने भारत को क्रायोजनिक इंजिन सप्लाई और आणविक रिएक्टर प्रदान करने सम्बन्धी समझौता किया तो अमेरिकी दबाव के कारण उसे रद्द करना पड़ा। रूस की चीन तथा इराक नीति अमेरिका को पसन्द नहीं थी। फिर भी दोनों देशों के बीच सार्थक संवाद की प्रक्रिया जारी है। 20 मार्च, 1997 को फिनलैंड की राजधानी हेलसिंकी में दोनों देशों के राष्ट्रपतियों ने आपसी हितों का विचार-विमर्श किया। 11 सितम्बर,

2001 को अमेरिका पर हुए आतंकवादी हमले के बाद दोनों देशों ने एक-दूसरे के साथ सहयोग किया। अमेरिकी राष्ट्रपति बिल क्लिंटन ने 3 से 5जून, 2000 तक मास्को की यात्रा की। इस यात्रा में दोनों देशों के राष्ट्राध्यक्षों के बीच विश्व शान्ति, नाभिकीय शस्त्रों के नियन्त्रण तथा अन्य मुद्दों पर शिखर वार्ता हुई। विकासशील देशों की ओर से बढ़ रहे मिसाइलों के खतरे से निपटने हेतु बिल क्लिंटन और पुतिन ने सितम्बर, 2000 में आपस में निर्णय किया। वर्तमान राष्ट्रपति जार्ज बुश (जूनियर) का भी रूस से सहयोग जारी है।

16.5 रूस एवं अन्य पश्चिमी यूरोप के राष्ट्र

बोरिस येल्तसिन के नेतृत्व में रूस अन्य पाश्चात्य राष्ट्रों के साथ अपने सम्बन्धों में सुधार लाने तथा उन्हें सुदृढ़ करने में लगा रहा है। इस नीति का परिणाम यह हुआ कि यूरोप के प्रमुख राष्ट्रों के साथ सम्बन्धों में उत्तरोत्तर सुधार आया। जॉन मेजर के नेतृत्व में ब्रिटेन, फ्रांसिस मित्तराँ तथा शिराक के नेतृत्व में फ्रांस तथा चांसलर हेल्मुट कौल के नेतृत्व में जर्मनी ने बोरिस येल्तसिन को सभी क्षेत्रों में सहयोग दिया। इन राष्ट्रों ने रूस को विपुल आर्थिक सहायता प्रदान की। ये राष्ट्र बोरिस येल्तसिन को अमेरिका की तरह ही लोकतन्त्र का प्रतीक मानते रहे। इटली, बेल्जियम, हालैंड, लक्जमबर्ग तथा स्कैन्डेनेवियन राष्ट्रों के साथ भी रूस ने अपने सम्बन्धों में सुधार किया। रूस ने जर्मनी से अपनी सेनाओं को हटा दिया। इस नवीन परिवेश में रूस, यूरोपीय साझा बाजार की पूर्व सदस्यता प्राप्त करने की दिशा में प्रयत्नशील रहा है। वह यूरोपीय एकीकरण की प्रक्रिया का भी समर्थक रहा है।

16.6 रूस तथा उत्तर अटलांण्टिक सन्धि संगठन

शीतयुद्ध के समय अमेरिका ने पूर्व सोवियत संघ से अपने सहयोगी पाश्चात्य राष्ट्रों की सुरक्षा के लिए 'उत्तरी अटलांटिक सन्धि संगठन' (NATO) की नींव डाली। यह विश्व का सबसे शक्तिशाली सैनिक संगठन है। इतिहास की यह 'एक विचित्र विडम्बना ही मानी जाएगी कि जिस संगठन का जन्म ही पूर्व सोवियत संघ के विरुद्ध हुआ था, उसके उत्तराधिकारी के रूप में जून, 1994 में रूस भी इस संगठन का सदस्य बन गया जो बोरिस येल्तसिन की दृढ़ इच्छा-शक्ति को प्रदर्शित करता है। उन्होंने ऐसा करके यूरोप में तनाव के वातावरण को कम किया।

16.7 रूस तथा चीन

पूर्व सोवियत संघ और चीन के बीच हुए विवाद तथा संघर्ष की स्थिति ने न केवल साम्यवादी शिविर अपितु सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित किया था। बोरिस येल्तसिन ने बदले हुए परिवेश में चीन के साथ सम्बन्ध सुधारने की नीति का सहारा लिया। 19 दिसम्बर, 1992 को अपनी चीन यात्रा के समय वहाँ के नेताओं से द्विपक्षीय मामलों पर बातचीत की। 1995

में दोनों देशों के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का विकास करने तथा सीमाओं पर तैनात सैनिकों में कमी करने बारे में सहमति हुई थी। 28 दिसम्बर, 1996 को चीनी प्रधानमन्त्री ली फंग की रूस यात्रा के समय दोनों देशों के मध्य घनिष्ठ सैन्य और आर्थिक सहयोग बढ़ाने से रूस चीन सम्बन्धों में सुधार बोरिस येल्तसिन की विदेश नीति की एक उल्लेखनीय सफलता रही। वर्तमान में भी दोनों देशों के बीच अच्छे सम्बन्ध चल रहे हैं।

16.8 रूस तथा जापान

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से ही जापान एक आर्थिक शक्ति के रूप में उभरा है। वह रूस को आर्थिक मदद देने में सक्षम है। 1993 में बोरिस येल्तसिन ने अपनी जापान यात्रा के समय जापान से अपने देश को आर्थिक सहायता प्रदान करने की माँग की। जापान ने अमेरिकी दबाव के कारण आंशिक रूप से रूस की आर्थिक सहायता की, लेकिन वह द्वितीय विश्वयुद्ध के समय पूर्व सोवियत संघ द्वारा युद्ध विजित क्षेत्र कुरील (क्यूराइल) द्वीपों को पुनः जापान को लौटाने के लिए रूस पर निरन्तर दबाव डालता रहा। अपने सम्बन्ध सुधारने हेतु रूस ने जापान से द्वितीय विश्वयुद्ध अपराधों के लिए क्षमायाचना की है।

16.9 रूस तथा भारत

यह महाशक्ति एवं विकासशील देश के मध्य सर्वोत्कृष्ट सम्बन्धों का उदाहरण भारत व पूर्व सोवियत सम्बन्धों को माना जा सकता है। दोनों देशों के बीच विभिन्न उतार-चढ़ावों के बावजूद कभी संघर्ष की सीमा तक न पहुँचने वाले सम्बन्धों के राजनैतिक स्वरूप की एक गहन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि रही है। भारत एवं पूर्व सोवियत संघ के सांस्कृतिक एवं आर्थिक सम्बन्ध प्राचीन रहे हैं जबकि राजनैतिक सम्बन्ध नवीन रहे हैं।

इन दोनों राष्ट्रों के बीच सम्बन्ध एक दूसरे पर आधिपत्य स्थापित करने हेतु न होकर दोनों देशों के लोगों के आपसी सद्भावना के परिचायक रहे हैं। अनेक अवसरों, विशेषकर कश्मीर के मामले तथा 1971 के भारत-पाकिस्तान युद्ध के समय रूस ने भारत की अविस्मरणीय सहायता की है। रूस-भारत सम्बन्धों का सबसे दुखद पहलू तब आया जब अमेरिकी दबाव में आकर उसने भारत को क्रायोजनिक इंजिन सप्लाई सम्बन्धी समझौते को रद्द कर दिया। 1991 में पूर्व सोवियत संघ के विघटन के बाद रूस ने भारत के साथ पूर्व सोवियत संघ द्वारा की गई उस सन्धि का नवीनीकरण किया, जिसकी अवधि अगस्त, 1991 में समाप्त हो रही थी। 1993 में रूसी राष्ट्रपति बोरिस येल्तसिन ने अपनी भारत यात्रा के दौरान स्पष्ट किया कि वह भातर की रक्षा-सम्बन्धी आवश्यकताओं विशेषकर कल पुर्जों की सप्लाई जारी रखेगा। 28 जून, 1994 को तत्कालीन भारतीय प्रधानमन्त्री पी0वी0 नरसिम्हाराव ने रूस की यात्रा की और वहाँ नौ समझौते पर हस्ताक्षर हुए। 5 नवम्बर, 1994 को रूसी संसद के निचले सदन के अध्यक्ष ईवान पी0 रिबकिन

ने नई दिल्ली में एक संवाददाता सम्मेलन को सम्बोधित करते हुए भारत की रक्षा क्षमता का समर्थन किया और कहा कि रूस को भारत के साथ अपनी परम्परागत पुरानी मित्रता बरकरार रखनी चाहिए। उन्होने कहा कि पुराना परम्परागत मित्र सैंकड़ों नये मित्रों से बेहतर है। 15 नवम्बर, 1996 को भारत ने रूस से सुखोई 30 विमान सौदे की अन्तिम स्वीकृति प्राप्त की। 2001 तक रूस ने भारत को 40 विमान प्रदान किए। 1997 में एच0डी0 देवगौड़ा के प्रधानमन्त्रित्व काल में दोनों देशों के बीच छह समझौतों पर हस्ताक्षर किए गए। इस अवसर पर रूसी राष्ट्रपति ने अमेरिकी विरोध के बावजूद भारत में परमाणु रिएक्टर लगाने तथा पाकिस्तान को रूसी हथियारों की बिक्री करने पर पाबन्दी लगाने की घोषणा की। 29 मार्च, 1997 को दोनों देश 21वीं शताब्दी में भी आपस में सैन्य सहयोग जारी रखने के लिए सहमत हुए।

रूस के राष्ट्रपति ब्लादीमीर पुतिन ने अक्टूबर, 2000 के प्रथम सप्ताह में भारत की यात्रा की। संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् के विस्तार होने की स्थिति में 1 नवम्बर, 2001 को रूस ने भारत की दावेदारी का समर्थन किया और भारत को एक मजबूत उम्मीदवार बताया। प्रधानमन्त्री अटल बिहारी वाजपेयी और रूस के राष्ट्रपति ब्लादीमीर पुतिन के बीच लगातार सम्पर्क बने रहे। प्रधानमन्त्री ने 11-13 नवम्बर, 2003 को क्षेत्रीय वार्षिक सम्मेलन के लिए मास्को की यात्रा की। दोनों देशों के नेताओं ने 'विश्व चुनौतियों' पर घोषणा' और 'विश्व सुरक्षा और स्थायित्व के खतरे सम्बन्धी प्रस्तावों पर हस्ताक्षर किए। प्रधानमन्त्री की यात्रा के दौरान जिन अन्य द्विपक्षीय दस्तावेजों पर हस्ताक्षर हुए वे थे– [विदेश मन्त्रालय वार्षिक प्रतिवेदन, 31 मार्च, 2004]

1. आन्ध्रप्रदेश सरकार और रूसी परिसंघ के तेतरास्तान गणराज्य के बीच व्यापार, आर्थिक, वैज्ञानिक, तकनीकी और सांस्कृतिक सहयोग पर समझौता।

2. रूसी वैज्ञानिक अकादमी (आर0ए0एस0) और भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी के बीच वैज्ञानिक सहयोग और आदान-प्रदान कर समझौता।

3. शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए बाहरी अन्तरिक्ष के उपयोग हेतु रूस की विमानन और अन्तरिक्ष एजेंसी (रोसाविकासमोस) और भारतीय अन्तरिक्ष अनुसंधान संगठन (इसरो) के बीच आपसी सहमति।

4. रूस की विज्ञान अकादमी और विज्ञान विभाग के बीच वैज्ञानिक सहयोग के प्रोटोकॉल पर भारत के विदेश मन्त्रालय और रूस परिसंघ के द्विपक्षीय राजनयिक दस्तावेजों के संयुक्त प्रकाशन पर प्रोटोकॉल।

5 दिसम्बर, 2002 में राष्ट्रपति ब्लादिमीर पुतिन की भारत यात्रा के दौरान आर्थिक, वैज्ञानिक और तकनीकी सहयोग बढ़ाने और मजबूत करने की संयुक्त घोषणा के क्रियान्वयन के लिए उठाए गए कदमों पर प्रतिवेदन।

6. वनेशतोरगबैंक (वी0टी0बी0) और भारत निर्यात ऋण गारण्टी निगम (ई0सी0जी0सी0) के बीच समझौता ज्ञापन।

दोनों देशों के बीच वर्तमान में भी अच्छे सम्बन्ध जारी हैं। 14 मार्च, 2004 को रूस में राष्ट्रपति पद के लिए चुनाव हुए। इस चुनाव में ब्लादिमीर पुतिन 4 वर्ष के कार्यकाल के लिए पुनः चुने गए।

16.10 रूस तथा 'राष्ट्रकुल'

12 दिसम्बर, 1991 को कजाकिस्तान की राजधानी अल्याअता में पूर्व सोवियत संघ से अलग हुए 12 में से 11 गणराज्यों (जार्जिया को छोड़कर) ने एक समझौते पर हस्ताक्षर करके स्वतन्त्र राष्ट्रों के 'राष्ट्रकुल' (C.I.S.) की स्थापना की। लास एंजिल्स ओलम्पिक खेलों में इन गणराज्यों ने 'राष्ट्रकुल' की टीम के रूप में भाग लेकर एकजुटता प्रदर्शित की। राष्ट्रकुल के सदस्य अपने आपसी विवाद सुलझाने हेतु अग्रसर हैं। रूस ने युक्रेन के साथ मिलकर कालासागर में स्थित सोवियत जहाजी बेड़े के बँटवारे के प्रश्न को सुलझा लिया है। रूस ने आर्मीनिया, बेलारूस, जार्जिया, कजाकिस्तान और किरगिस्तान के साथ द्विपक्षीय सुरक्षा सन्धि की है। चेचन्या रूसी संघ के 21 गणराज्यों में से एक है। इसके रूसी संघ के निर्माण के साथ ही संघर्ष की शुरुआत हो गई थी। फिलहाल रूस चेचन्या में युद्ध-विराम चल रहा है।

16.11 रूस की अन्य नीति

पूर्व सोवियत संघ की तहत रूस भी निःशस्त्रीकरण की नीति पर चलता रहा है। 3 जनवरी, 1993 को तत्कालीन अमेरिकी राष्ट्रपति जार्ज बुश तथा रूसी राष्ट्रपति बोरिस येल्तसिन ने मास्को में स्टार्ट-II सन्धि पर हस्ताक्षर किये। परमाणु हथियारों को कम करने की दिशा में यह एक महत्त्वपूर्ण कदम था। 1996 में रूस ने व्यापक परमाणु परीक्षण निषेध सन्धि (सी0टी0बी0टी0) पर हस्ताक्षर किए। रूस ने संयुक्त राष्ट्र में पूर्व सोवियत संघ का स्थान ले लिया, लेकिन पहले की तुलना में सुरक्षा परिषद में उसकी स्थिति कमजोर हुई है। इराक और लीबिया पर लगाये गये आर्थिक प्रतिबन्धों, सर्बिया में 'नाटो' देशों के सैनिक कार्यवाही तथा हैती में अमेरिकी कार्यवाही तथा बुतरस घाली को पुनः महासचिव के रूप में नियुक्त नहीं होने के सम्बन्ध में रूस की विवशता के दर्शन किए जा सकते हैं। सुरक्षा परिषद आज अमेरिका के हाथ का खिलौना बन गई है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष तथा विश्व बैंक से ऋण प्राप्त करने की विवशता भी रूस को अमेरिका के वर्चस्व को स्वीकार करने के लिए विवश करती है। उपर्युक्त समस्याओं के बावजूद भी रूस संयुक्त राष्ट्र (The U.N.) के शान्ति प्रयासों का समर्थक रहा है।

16.12 सारांश

रूस (पूर्व सोवियत संघ) के विदेश नीति के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। एक पक्ष के विचारकों का कथन है कि रूस की नीति अब भी जार के विस्तारवादी नीतियों से प्रभावित है।

दूसरे पक्ष का मानना है कि रूसी सरकार द्वारा चलाई गई नई साम्यवादी नीति विश्व में समाजवादी क्रान्ति लाने के लिए पथ-प्रदर्शन का कार्य कर रही है। तीसरे पक्ष का यह मानना है कि यह न तो पूर्ण रूप से साम्यवादी विचारधारा पर आधारित है और न ही पूर्ण रूप से जारशाही का अनुकरण, बल्कि यह दोनों का सम्मिश्रण हैं। सच्चाई तो यह है कि रूस (पूर्व सोवियत संघ) अपनी विदेश नीति में ऐतिहासिक गतिविधियाँ, भौगोलिक परिस्थितियों और राजनीतिक वातावरण से प्रभावित होता रहा है।

पूर्व सोवियत संघ के विघटन (1991) के पश्चात् राष्ट्रपति गोर्बाच्योव से नेतृत्व का भार बोरिस येल्तसीन के कन्धों पर आ गया। उसने रूसी विदेश नीति की प्राथमिकताओं, सिद्धान्तों तथा उद्देश्यों का निरूपण किया, इसीलिये उन्हें रूसी विदेश नीति के 'निर्माता तथा सूत्रधार की संज्ञा से विभूषित किया जाता है। वर्तमान रूसी विदेश नीति ने नवीन अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य में राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा को ही प्राथमिकता प्रदान की है। इसीलिए रूस ने अमेरिका की वर्चस्वता, यूरोपीय एकीकरण, अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के बढ़ते महत्त्व, आतंकवाद का विरोध, विश्व व्यापार संगठन, भूमंडलीकरण, सी0टी0बी0टी0 आदि ज्वलन्त समस्याओं के प्रति समर्थन एवं सहयोग जारी रखा है। रूस ने चीन एवं जापान से अच्छे सम्बन्ध विकसित करने की भरपूर कोशिश जारी रखी है तथा अपने पुराने परम्परागत मित्र राष्ट्र जैसे भारत को भी सहयोग एवं बनाए रखने का दृढ़ संकल्प व्यक्त किया है। पुतिन के नेतृत्व में रूस स्वयं को एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में प्रतिष्ठित करने की दिशा में उन्मुख है।

16.13 सन्दर्भ ग्रन्थ

1 Seweryn Bialer and Michael Mandelbaum (edt.) : Gorbachev's Russia and American Foreign Policy

2. Vernon Aspaturian : Process and Power in Soviet Foreign Policy (Bostan : Little Brown, 1971)

3 Kegley : Foreign Policy USA/USSR

4. Vijay Chawla : India and the super powers.

16.14 सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. सोवियत संघ के विघटन के बाद रूसी विदेश नीति के आधार, प्राथमिकताएँ एवं चुनौतियों पर एक लेख लिखें।
2. रूस एवं अमेरिका के सम्बन्ध का विश्लेषण कीजिए।
3. रूस एवं चीन के सम्बन्धों पर प्रकाश डालें।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. रूस तथा भारत सम्बन्ध
2. रूस तथा जापान सम्बन्ध
3. सोवियत संघ के विघटन के कारण

वस्तुनिष्ठ प्रश्न :

1. सोवियत संघ में बोल्शेविक क्रान्ति कब हुई थी।

   (a) 1917 (b) 1919

   (c) 1921 (d) 1920

2. सोवियत संघ का विघटन कब हुआ।

   (a) 1990 (b) 1991

   (c) 1992 (d) 1993

3. 'ग्लासनोस्त' तथा 'पेरेस्त्रोइका' का नारा किसने दिया।

   (a) येल्तसिन ने (b) ब्रेझनेव ने

   (c) गोर्बाचोव ने (d) पुतिन ने

16.15 प्रश्नोत्तर

1. a
2. b
3. c

इकाई-16 रूस एवं चीन की विदेश-नीति की सामान्य विशेषताएँ
(द्वितीय भागः चीन की विदेश नीति)

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य
16.1 प्रस्तावना
16.2 चीनी विदेश नीति के लक्ष्य
16.3 चीनी विदेश नीति के साधन
16.4 चीनी विदेश नीति : अवस्थाएँ एवं परिप्रेक्ष्य
16.5 चीन-अमेरिका सम्बन्ध
16.6 चीन और रूस सम्बन्ध
16.7 एशिया, अफ्रीका एवं लेटिन अमेरिका की प्रति चीन की विदेश नीति
16.8 चीन और भारत
16.9 चीन एवं अन्य राष्ट्र
16.10 चीनी विदेश नीति की उपलब्धिया
16.11 चीनी विदेश नीति की आलोचना
16.12 चीनी विदेश नीति का मूल्यांकन
16.13 सारांश
16.14 संदर्भ ग्रन्थ
16.15 सम्बन्धित प्रश्न
16.16 प्रश्नोत्तर

16.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप

- चीनी विदेश नीति की विभिन्न अवस्थाएँ एवं परिप्रेक्ष्य, लक्ष्य एवं साधन से अवगत होंगे;
- चीन का विभिन्न शक्तिशाली राष्ट्रों के साथ सम्बन्धों का आकलन कर सकेंगे;
- दक्षिण एशिया में चीन की भूमिका से परिचित हो पायेंगे;
- चीनी विदेश नीति की आलोचना, उपलब्धियाँ एवं मूल्यांकन कर सकेंगे।

16.1 प्रस्तावना

अक्टूबर 1949 को साम्यवादी चीन की स्थापना के उपरान्त 30 दिसम्बर 1949 को उसे मान्यता प्रदान करने वाला, वर्मा (म्यांमार) के बाद, भारत दूसरा गैर-साम्यवादी देश था

[भीमसन्धु, अनरिजोल्ड कनफ्लिक्ट : चाइना एंड इंडिया, नई दिली 1988, पृ0 82] च्यांग-काई-शेक और राष्ट्रवादी दल चीन के गृह-युद्ध में साम्यवादियों के हाथों बुरी तरह पराजित हुआ। अमेरिका ने च्यांग-काई-शेक के शासन को वर्षों तक भरपूर सहायता दी, लेकिन माओ-त्से-तुंग के नेतृत्व में साम्यवादी सेना ने अमेरिकी की मनोकामना पूरी नहीं होने दी। च्यांग-काई-शेक ने भाग कर चीन की मुख्य भू-भाग जमीन से कुछ ही मील दूर फारमोसा द्वीप में शरण लेकर वहाँ 'निर्वासित सरकार' स्थापित कर ली। अमेरिका तथा संयुक्त राष्ट्र (The U.N.) इसी राष्ट्रवादी चीन को मान्यता देते रहे। चीन की मान्यता का प्रश्न 1949 से 25 अक्टूबर, 1971 तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक विवादास्पद विषय बना रहा। आखिर 26 अक्टूबर, 1971 को यह स्थिति समाप्त हो गई। संयुक्त राष्ट्र महासभा ने राष्ट्रवादी (ताइवान या फारमोसा) सरकार के स्थान पर जनवादी (साम्यवादी) चीन को वैधानिक प्रतिनिधि मानने का अल्बानिया का प्रस्ताव 35 के विरुद्ध 46 मतों से स्वीकार कर लिया। इसके साथ ही चीन, संयुक्त राष्ट्र का सदस्य बन गया और सुरक्षा परिषद में उसे 'स्थायी सदस्यता' भी प्राप्त हो गई।

16.2 चीनी विदेश नीति के लक्ष्य

सितम्बर, 1949 में जन-परामर्श सम्मेलन में चीन की विदेश नीति के लक्ष्यों का निरूपण इन शब्दों में किया गया - 'चीन गणराज्य की विदेश नीति का उद्देश्य देश की स्वतन्त्रता, सम्प्रभुता एवं प्रादेशिक सम्मान की रक्षा करना, स्थायी विश्व-शान्ति को सुरक्षित रखना, विभिन्न राज्यों में मैत्रीपूर्ण सहयोग को प्रोत्साहित करना तथा आक्रमण व युद्ध की साम्राज्वादी नीति का विरोध करना है। चीनी गणराज्य विदेशों में बसने वाले चीनियों के उचित अधिकारों और हितों की रक्षा के लिए भरसक प्रयास करेगा। वह उन सभी लोगों को राजनीतिक शरण प्रदान करेगा जो जनहित, शान्ति तथा जनतन्त्र के लिए संचालित संघर्ष में भाग लेने के कारण अपनी सरकारें द्वारा पीड़ित हों।'' जब 1 अक्टूबर, 1949 को चीन की साम्यवादी सरकार की स्थापना हुई तो विदेश नीति के निम्नांकित उद्देश्य घोषित किए गए-

1. चीन की स्वतन्त्रता और अखंडता की रक्षा करना;
2. स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए उन सभी देशों के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना जो राष्ट्रवादी चीन से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर चुके हों,
3. साम्राज्यवादियों और विशेषतः अमेरिका के विरुद्ध संघर्ष में साम्यवादी देशों का साथ देना; एवं
4. प्रवासी चीनियों के हितों और अधिकारों की रक्षा करना आदि।

चीनी विदेश-नीति के ये सभी लक्ष्य तथा उद्देश्य बड़े आकर्षक हैं, लेकिन इनकी व्याख्या चीन स्वेच्छाचारी एवं विस्तारवादी दृष्टि से करता है जिसका कोई भी शान्तिप्रिय राष्ट्र स्वागत नहीं करेगा। वर्तमान में चीन की विदेश नीति का लक्ष्य देश को महाशक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करना है।

16.3 चीनी विदेश नीति के साधन

चीन विस्तारवाद और साम्राज्यवाद का समर्थक रहा है। जिस किसी भी भू-भाग पर उसका कभी अस्थायी या नाम मात्र का भी अधिकार रहा था, उसे वर्तमान में वह अपना 'खोया हुआ भाग'

मानता है। चीन की विदेश नीति के साधन नैतिक सीमाओं से सम्बद्ध नहीं हैं, अपने लक्ष्यों को पाने के लिए वह कोई भी साधन अपनाने में संकोच नहीं करता। युद्ध एवं हिंसा, लम्बे संघर्ष की खोज, साम्यवादी प्रचार, सैनिक सहायता कार्यक्रम, शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व, दोहरी नीति एवं आर्थिक सहायता की नीति, चीनी विदेश-नीति के मुख्य साधन हैं।

16.4 चीनी विदेश नीति : अवस्थाएँ एवं परिप्रेक्ष्य

डाक बार्नेट के अनुसार ''पेकिंग की नीति कभी भी केवल चिकनी-चुपड़ी बातों अथवा दबावों की नहीं रही। इसमें प्रलोभन, धमकी और तोड़-फोड़ का विभिन्न अनुपात में सम्मिश्रण रहा है।'' चीन अपनी विदेश नीति के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए देशकाल और परिस्थितियों के अनुसार कभी एक तत्त्व पर जो कभी दूसरे तत्त्व पर बल देता रहा है। उसका उद्देश्य यही रहा है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिस्थितियों को अपने अनुकूल बनाकर उनका भरपूर लाभ उठाए जाए और अपने प्रभाव क्षेत्र का विस्तार किया जाए। चीनी विदेश नीति में 1949-1953 काल को आन्तरिक पुनर्गठन का युग, 1954-1959 काल को उदारवादी युग, 1959-1969 काल को नया उग्रतावादी युग 1970-1981 काल को सहयोग और मैत्री की कूटनीति का युग के रूप में देखा जाता है। 1982 के बाद के काल को मार्क्सवाद को तिलांजलि और आधुनिकीकरण की नीति के रूप में देखा जा रहा है।

16.5 चीन अमेरिका सम्बन्ध

अमेरिका ने नवोदित चीन को न केवल मान्यता देने से इंकार कर दिया बल्कि संयुक्त राष्ट्र (U.N.) में उसके प्रवेश के विरुद्ध भी मोर्चाबन्दी की। अमेरिका की नीति लम्बे समय तक यही रही कि चीन के साथ मैत्री और सहानुभूति रखने वाले देश अमेरिका के मित्र नहीं माने जा सकते। 1950 में कोरिया युद्ध में संयुक्त राष्ट्र संघीय सेनाओं ने अमेरिकी कमान के नेतृत्व में युद्ध लड़ा। जब संयुक्त राष्ट्र संघीय सेनाएँ 38वीं अक्षांश रेखा को पार कर 'यालू' नामक स्थान पर पहुँची तो उत्तर कोरिया की ओर से चीनी सैनिक टिड्डी दल की भाँति उन पर टूट पड़े। कोरिया का युद्ध तब अमेरिका एवं चीन का युद्ध बन गया। इसके बाद अमेरिका ने फारमोसा (ताइवान) को चीन की सम्भावित आक्रमण से सुरक्षित रखने के लिए खुलकर सैनिक सहायता देने का निर्णय लिया। इससे दोनों देशों के बीच कटुता बढ़ी। चीन ने वाशिंगटन-विरोधी प्रचार अभियान तीव्र करते हुए अमेरिका को साम्राज्यवादी राष्ट्र करार दिया।

1950 के दशक में हिन्द-चीन के प्रश्न पर अमेरिकी हस्तक्षेप के कारण भी दोनों देशों के बीच कटुता बढ़ती गई। तिब्बत की क्रान्ति के बारे में अमेरिका के रवैये से भी चीन को भारी क्षोभ हुआ। 1960 में जापान तथा अमेरिका के बीच जो पारस्परिक सहयोग एवं सुरक्षा की सन्धि हुई, उससे भी चीन की नाराजगी बढ़ी। पीकिंग रेडियो ने अमेरिका पर एशिया में साम्राज्यवादी षड्यन्त्र रचने का आरोप लगाया। 1962 में क्यूबा-संकट के समय चीन द्वारा अमेरिका के विरुद्ध भारी विषवमन किया गया। सम्पूर्ण चीन में क्यूबा समर्थक विशाल प्रदर्शन संगठित किए गए, क्यूबा समर्थक नारे लगाये गए और क्यूबा के नेताओं के चित्रों का प्रदर्शन किया गया। 1962 में अमेरिका ने चीनी आक्रमण के विरुद्ध भारत को जो प्रभावशाली सैनिक सहायता भेजी, उससे भी चीन के आक्रोश में वृद्धि हुई। राष्ट्रपति जॉनसन ने भी चीन को मान्यता देने से इंकार कर दिया। ताइवान और वियतनाम सम्बन्धी प्रश्न दोनों देशों के बीच तनाव का मुख्य कारण बने रहे। अमेरिकी विदेश मन्त्री ने 16 मार्च, 1969 को अपने वक्तव्य में चीन के प्रति अमेरिकी नीति का उल्लेख करते हुए 10 सत्रों का

प्रतिपादन किया। अमेरिकी विदेश मन्त्री के इस वक्तव्य के प्रति चीन सरकार की प्रतिक्रिया विरोधपूर्ण रही।

रिचर्ड निक्सन 20 जनवरी, 1969 को अमेरिका के राष्ट्रपति बने। उन्होंने चीन से सामान्य सम्बन्ध स्थापित करने की दिशा में विशेष प्रयत्न किए। अमेरिका के चीन से सम्बन्ध सामान्य बनाने के पीछे उद्देश्य एक ओर से वियतनाम युद्ध से ससम्मान पीछा छुड़ाना और दूसरे, सोवियत प्रभुत्व को सफल चुनौती देते हुए राजनीतिक क्षेत्र में पीकिंग-पिंडी वाशिंगटन धुरी का निर्माण कर शक्ति-सन्तुलन अपने पक्ष में करना था। अमेरिका, चीन जैसे विशाल देश के साथ व्यापक व्यापारिक और आर्थिक सम्बन्ध को भी इच्छुक था। चीन को यह आशंका थी कि सोवियत रूस के नेतृत्व के चुनौती देने के लिए वह अमेरिका जैसे सबल राष्ट्र को अपने पक्ष में कर ले। अमेरिका और चीन पर 'आगामी दशक' (Next Decade) नामक प्रथम राष्ट्रीय समारोह न्यूयार्क में 20-21 मई, 1969 को हुआ। लगभग 2500 व्यक्तियों ने, जिनमें चीन के विभिन्न क्षेत्रों के विशेषज्ञ भी सम्मिलित थे, इस समारोह में भाग लिया। सम्बन्ध सुधारने हेतु दोनों देशों के बीच 'पिंगपोंग कूटनीति' का सूत्रपात हुआ। अमेरिका ने चीन के साथ व्यापार, यात्रा और जहाजरानी सम्बन्धी कानूनी रुकावटों में ढील दे दी तथा अपने टेबल टेनिस टीम को पिंगपोंग खेलने के लिए चीन भेजा। 21 फरवरी, 1972 को राष्ट्रपति निक्सन पीकिंग पहुंचे। दोनों देशों ने एक-दूसरे के यहाँ सम्पर्क कार्यालय खोलने का निश्चय किया। यद्यपि इन कार्यालयों को दूतावासों की संज्ञा नहीं दी गई, तथापि व्यवहार में इनका कार्य दूतावास जैसा ही रखा गया।

20 जनवरी, 1977 को जिम्मी कार्टर अमेरिका के राष्ट्रपति बने। दोनों देशों के बीच ताइवान सम्बन्धी मतभेद थे, फिर भी कार्टर ने चीन के प्रति अपनी नीति में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किया और चीन को विभिन्न किस्म के हथियारों तथा विद्युत आणविक उपकरणों के निर्यात पर लगे प्रतिबन्धों में ढील देने का निश्चय किया। 1 जनवरी, 1979 को कार्टर ने चीन के साथ राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करने की घोषणा की। दोनों देश एक दूसरे के करीब आए। अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप का विरोध दोनों ने एक स्वर से किया। कार्टर ने कहा कि रूसी सैनिक शक्ति का मुकाबला करने के लिए अमेरिका, चीन और जापान को एक हो जाना चाहिए।

पूर्व सोवियत संघ के विरुद्ध 'वाशिंगटन-पीकिंग-पिंडी-धुरी' को रीगन प्रशासन ने और शक्तिशाली बनाया। अमेरिका को शक था कि पीकिंग और इस्लामाबाद (पाकिस्तान) के बीच ऐसा गुप्त समझौता है जिसके अन्तर्गत परमाणु बम तथा आणविक शस्त्र बनाने की जानकारी चीन से पाकिस्तान पहुँच रही है। रोनाल्ड रीगन के दूसरे कार्यकाल में दोनों देशों के बीच सम्बन्ध और भी सुदृढ़ हुए। लेकिन दोनों देशों के सम्बन्धों में खटास उस समय आई जब मई-जून, 1987 में लोकतन्त्र के लिए जन-आन्दोलन को 4 जून को सैनिक कार्यवाही द्वारा कुचल डाला गया। अमेरिका ने इस दमन के विरोध में चीन को शस्त्रास्त्र की आपूर्ति पर प्रतिबन्ध लगा दिया। प्रतिबन्धों के बावजूद बुश प्रशासन चीन के साथ सहयोग जारी रखने के पक्ष में था'

बिल क्लिंटन के कार्यकाल में चीन तथा अमेरिका के सम्बन्धों में उतार-चढ़ाव की स्थिति देखी गई। चीन द्वारा पाकिस्तान को एम-II प्रक्षेपास्त्रों से सम्बन्धित प्रौद्योगिकी की आपूर्ति करने, चीन द्वारा अमेरिका-विरोध के बावजूद निरन्तर आणविक विस्फोट करने तथा मानवाधिकारों के संरक्षण जैसे मुद्दों को गिनाया जा सकता है। अमेरिका ने चीन पर दबाव डालने के उद्देश्य से अपने एम0टी0सी0आर0 (M.T.C.R.) के अन्तर्गत चीन पर प्रतिबन्ध आरोपित कर दिए लेकिन चीन ने अमेरिका की इस नीति का सफलता के साथ प्रतिकार किया। अमेरिका ने 1994-95 के लिए चीन को 'मोस्ट फेवर्ड नेशन'का दर्जा दे दिया था। यह चीन की विदेश-नीति की एक महत्त्वपूर्ण सफलता थी।

16.6 चीन और रूस सम्बन्ध

1 अक्टूबर, 1949 को चीन की स्थापना के तत्काल बाद चीन-सोवियत मैत्री तेजी से विकसित हुई, लेकिन कुछ ही वर्षों बाद दोनों देशों के बीच साम्यवादी शिविर के नेतृत्व के लिए स्पर्द्धा तथा संघर्ष प्रारम्भ हो गया। दोनों देशों के बीच साम्यवादी शिविरों तथा सीमाओं पर होने वाले सशस्त्र संघर्षों ने इस विवाद को और भी अधिक तीव्र कर दिया। चीन-पूर्व सोवियत संघ संघर्ष के भौगोलिक, वैचारिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा व्यक्तिगत कारण रहे। पूर्व सोवियत नेता मार्शल स्टालिन की मृत्यु के बाद चीनी नेता माओत्से-तुंग ने साम्यवादी आन्दोलन का नेतृत्व करने का अपना दावा प्रस्तुत किया लेकिन तत्कालीन पूर्व सोवियत संघ के प्रधानमन्त्री निकिता खुश्चेव ने उनका यह दावा अस्वीकार कर दिया। इससे चीन और पूर्व सोवियत संघ के बीच संघर्ष खुले रूप में प्रारम्भ हो गया। चीन ने पूर्व सोवियत संघ की शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति को 'संशोधनवादी नीति' करार देकर उसकी कड़ी आलोचना की तथा पूर्ण सोवियत संघ विरोधी प्रचार-युद्ध प्रारम्भ कर दिया। दोनों देशों के सम्बन्ध अत्यन्त खराब हो गए तथा साम्यवादी शिविर में गम्भीर फूट पड़ गई। पूर्व सोवियत नेता ब्रेझनेव के शासनकाल तक चीन-पूर्व सोवियत संघर्ष की स्थिति बनी रही, लेकिन पूर्व सोवियत संघ में मिखाइल गोर्बाच्योव के सत्ता में आने के साथ ही इन सम्बन्धों में सुधार हुआ। 1991 में सोवियत संघ के विघटन के बाद रूस का उदय हुआ।

रूस के राष्ट्रपति पुतिन ने दिसम्बर 2002 में चीन की यात्रा की। इस यात्रा म पुतिन और चीन के राष्ट्रपति जियांग जेमिन एवं अन्य नेताओं के बीच महत्त्वपूर्ण द्विपक्षीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर चर्चा हुई। कई समझौतों पर हस्ताक्षर किए गए। इससे आपसी सम्बन्ध मजबूत हुए हैं। रूस और चीन ने उत्तर कोरिया और अमेरिका से राजनयिक सम्बन्ध सामान्य बनाने का अनुरोध करते हुए कोरियाई प्रायद्वीप को परमाणु हथियारों से मुक्त रखने के लिए भी कहा। इसके उपरान्त रूसी एवं चीनी नेताओं की बैठक के पश्चात् एक संयुक्त घोषणा-पत्र जारी किया गया, जिसमें कहा गया कि उत्तर और दक्षिण कोरिया के बीच तनाव घटाने और उत्तर कोरिया एवं जापान के बीच सम्बन्ध फिर से कायम करने में समर्थन दिया जाएगा। घोषणा-पत्र में कहा गया कि विश्व की नियति और पूर्वोत्तर एशिया की सुरक्षा के लिए कोरियाई प्रायद्वीप का परमाणु रहित दर्जा महत्त्वपूर्ण है। वैश्विक चेतावनियों की उपेक्षा करते हुए उत्तर कोरिया ने एक भूमिगत परमाणु परीक्षण 9 अक्टूबर, 2006 को किया। इस परीक्षण की विश्व भर में कड़ी आलोचना हुई है। अमेरिका ने परीक्षण को उत्तेजक कार्यवाही कहा है। चीन ने इसका खुलकर विरोध नहीं किया है। इस मुद्दे पर सुरक्षा परिषद की 14 अक्टूबर, 2006 की बैठक में विचार किया गया। सर्वसम्मति से पारित प्रस्ताव के द्वारा उत्तर कोरिया पर कुछ सैन्य प्रतिबन्ध लगाए गए हैं।

16.7 एशिया, अफ्रीका एवं लेटिन अमेरिका के प्रति चीन की विदेश नीति

विश्व के द्विध्रुवीय विभाजन के युग में चीन अपने को तृतीय विश्व के राष्ट्रों में ही मानता रहा, अतः चीन ने सदा से तृतीय विश्व के देशों के साथ अपने सम्बन्धों को प्राथमिकता दी है। अगर यह कहा जाए कि चीनी विदेश नीति का सारा ध्यान तृतीय विश्व की ओर केन्द्रित था तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। तृतीय विश्व से यहाँ पर आशय एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका से है। तृतीय विश्व के सम्बन्ध में चीनी विदेश नीति की निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ दृष्टिगत होती हैं।

(i) चीन ने साम्राज्यवाद, पूँजीवाद, उपनिवेशवाद और नव-उपनिवेशवाद के विरोध

का जोर-शोर से नारा लगाकर एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका के पराधीन राष्ट्रों की जनता का समर्थन प्राप्त करने की नीति का सहारा लिया है। उसने इन पराधीन राष्ट्रों की जनता के 'राष्ट्रीय आत्मनिर्णय' के अधिकार का समर्थन किया है। इस तरह से उसने तृतीय विश्व में अपने आपको 'स्वतन्त्रता के मसीहा' के रूप में प्रतिष्ठित करने का भरसक प्रयास किया है।

(ii) चीन ने एशिया तथा अफ्रीका के मुक्ति-आन्दोलनों का समर्थन करते हुए उन्हें सैनिक, आर्थिक तथा राजनयिक समर्थन प्रदान किया है। अंगोला, मोजाम्बिक, पुर्तगाल, गिनी तथा नामीबिया के मुक्ति आन्दोलनों द्वारा स्वतन्त्रता के लिए किए जाने वाले आन्दोलनों को चीन द्वारा दी जाने वाली सहायता के परिप्रेक्ष्य में इस तथ्य को देखा जा सकता है।

(iii) चीन ने प्रसिद्ध क्रान्तिकारी नेता चे-ग्वेवारा के द्वारा मध्य तथा दक्षिणी अमेरिका में अमेरिका के प्रभुत्व को समाप्त करने तथा उसके पिट्ठू सरकारों को अपदस्थ करने के लिए 'छापामार युद्ध' प्रारम्भ करने के प्रयासों का समर्थन किया है। ऐसा करके चीन ने अपनी 'क्रान्तिकारी छवि' को लेटिन अमेरिकी देशों में निखारा।

(iv) चीन ने अपने आपको विशुद्ध तृतीय विश्व के राष्ट्रों के अगुआ के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए अमेरिका तथा उसके पाश्चात्य सहयोगी राष्ट्रों तथा पूर्व सोवियत संघ के विरुद्ध प्रचार-प्रसार युद्ध की नीति का सहारा लिया। उसने अमेरिका के लिए 'साम्राज्यवादी', पाश्चात्य राष्ट्रों के लिए 'पिछलग्गू' तथा पूर्व सोवियत संघ के लिए 'संशोधनवादी' जैसी अपमानित करने वाली शब्दावली का सहारा लेकर राष्ट्रों को तृतीय विश्व के देशों में बदनाम करने का जोर-शोर से अभियान छेड़ दिया। इस नीति के द्वारा चीन तृतीय विश्व के राष्ट्रों का विश्वास तथा समर्थन अर्जित करने में सफल रहा है।

(v) चीन ने तृतीय विश्व में रह रहे प्रवासी चीनियों के हितों की रक्षा करने की नीति को भी सर्वोच्च प्राथमिकता दी है।

(vi) चीन ने अमेरिका के विरुद्ध लोहा लेने वाले राष्ट्रों-उत्तरी कोरिया, उत्तरी वियतनाम, तथा क्यूबा का पूर्ण समर्थन करके इन देशों में साम्यवादी सत्ताओं को सुरक्षित रखने में अहम भूमिका का निर्वाह किया है।

(vii) चीन ने तृतीय विश्व का नेतृत्व अपने हाथ में लेने की दृष्टि से पहले तो नेहरू की विदेश नीति की आलोचना करना प्रारम्भ किया और बाद में 1962 में भारत पर आक्रमण करके उसके हाथों से तृतीय विश्व के नेतृत्व को ग्रहण करने का प्रयास किया।

(viii) चीन दक्षिण अफ्रीका की रंगभेदी सरकार का निरन्तर विरोध करता रहा है, और उसके बहुसंख्यक काले अश्वेतों के नेता नेल्सन मंडेला को निरन्तर समर्थन देता रहा है। चीन ने मंडेला के नेतृत्व में अफ्रीकी नेशनल कांग्रेस को अपना पूर्ण समर्थन दिया।

(ix) चीन, एशिया और अफ्रीका के अविकसित और आर्थिक दृष्टि से पिछड़े देशों को आर्थिक और तकनीकी तथा सैनिक सहायता प्रदान कर रहा है। तथा साथ-ही-साथ हथियारों का भी निर्यात कर रहा है।

(x) अरब-इजराइल संघर्ष में चीन ने सदैव अरबों तथा फिलिस्तीनियों का साथ दिया

है। साथ ही उसने अरबों और इजराइलियों के बीच सम्पन्न होने वाले समझौते का स्वागत किया है।

(xi) चीन ने व्यापक परमाणु परीक्षण निषेध सन्धि पर हस्ताक्षर करने से पूर्व आणविक विस्फोट कर तृतीय विश्व में अपना रुतबा कायम किया। तृतीय विश्व के देशों में यह धारणा बनी कि केवल चीन ही अमेरिका का मुकाबला कर सकता है।

16.8 चीन और भारत

ऐतिहासिक रूप से प्राचीन काल में भारत व चीन से प्रमुख सभ्यताएँ रही हैं जो आपसी सहअस्तित्व के आधार पर स्थापित थीं। बाद के साम्राज्यवादी ताकतों के प्रभाव से दोनों के बीच सहयोगात्मक सम्पर्क नहीं रहे, परन्तु भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का नेतृत्व चीन के महत्त्व से अनभिज्ञ नहीं था। इसीलिए भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने कई प्रस्तावों के माध्यम से चीन के प्रति अंग्रेजी नीतियों की कटु आलोचनाएँ कीं। 1931 में जब जापान ने मंचूरिया पर आक्रमण किया तब भारत ने उसकी निन्दा करते हुए चीन के साथ सहानुभूति व्यक्त की तथा प्रतीकात्मक समर्थन स्वरूप 'चीन दिवस' मनाया। 1927 में ब्रुसेल्स में हुए पददलित राष्ट्रों के सम्मेलन में भी दोनों ने एशिया में साम्राज्यवाद का विरोध करते हुए भारत-चीन सहयोग की आवश्यकता पर बल दिया। 1937 के चीन-जापान युद्ध में भी भारत ने चीन का समर्थन किया। यही नहीं, अक्टूबर, 1949 को साम्यवादी चीन की स्थापना के उपरान्त 30 दिसम्बर, 1949 को उसे मान्यता प्रदान करने वाला, बर्मा (म्यॉमार) के बाद, भारत दूसरा गैर-साम्यवादी देश था। इस पृष्ठभूमि में दोनों के बीच मधुर सम्बन्धों की स्थापना की सम्भावनाओं से इंकार नहीं किया जा सकता। दोनों के मधुर सम्बन्ध बने भी तथा मित्रता की पराकाष्ठा स्वरूप "चीनी-हिन्दी भाई-भाई" के स्वर्णिम युग की स्थापना में बदले। 1959 में तिब्बत के प्रश्न पर प्रारम्भ हुई कड़वाहट की परिणति अक्टूबर 1962 में भारत पर चीन के आक्रमण के रूप में हुई, उसके बाद दोनों देशों के सम्बन्धों में कई उतार-चढ़ाव देखे जा सकते हैं। चीन की विदेश नीति का एक मुख्य तत्व यह है कि वह उन सभी राष्ट्रों के माध्यम से भारत की नाकेबन्दी करे जो या तो उनकी नीतियों के समर्थक हैं या प्रत्यक्ष/परोक्ष रूप से उससे सहायता चाहते हैं। भारतीय उपमहाद्वीप में पाकिस्तान चीन का अच्छा साथी बन गया है और चीनी नेता भारत के विरोध में हिन्द-महासागर की जल सीमा का अतिक्रमण करते देखे गए हैं। यह स्थिति भारत के लिए चिन्ताजनक है। सोवियत-भारत मैत्री-सन्धि के बाद तो चीन का यह पूर्ण प्रयास रहा है कि पेकिंग-पिंडी-वाशिंगटन धुरी का सुदृढ़ निर्माण हो जाए। चीन भारत के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने से भी नहीं चूकता। सिक्किम के भारत में विलय के अवसर पर चीन ने भारत विरोधी वक्तव्य दिये। उसने अरुणाचल प्रदेश के कतिपय भाग पर अपना अधिकार जताया।

1980 के बाद चीन-भारत सम्बन्धों में सुधार का जो क्रम प्रारम्भ हुआ, वह वर्तमान में भी जारी है। भारतीय राष्ट्रपति डा0 शंकर दयाल शर्मा तथा प्रधानमन्त्री राजीव गाँधी और पी0वी0 नरसिम्हाराव की चीन यात्रा ने नये वातावरण को जन्म दिया। चीनी प्रधानमन्त्री ली फंग तथा राष्ट्रपति जेमिन जिंग की भारत यात्रा ने भी इन सम्बन्धों को सुधारने की दिशा में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। दोनों देशों के बीच सीमाओं से सैन्य तनाव में कमी करने तथा पर्यटन, व्यापार और अन्य क्षेत्रों में विभिन्न समझौते हुए। 13 जनवरी, 2002 को चीन के प्रधानमन्त्री जू रोंग जी भारत की 6 दिवसीय यात्रा पर राजधानी दिल्ली पहुँचे। इस यात्रा के दौरान भारतीय प्रधानमन्त्री अटल बिहारी वाजपेयी तथा चीनी प्रधानमन्त्री जू रोंग जी की उपस्थिति में दोनों देशों के मध्य छह महत्त्वपूर्ण समझौतों

पर हस्ताक्षर किए गए। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण पूर्वोत्तर राज्यों में चीन की ओर से अचानक आने वाली बाढ़ की पूर्व चेतावनी हासिल करने के उद्देश्य से चीन द्वारा ब्रह्मपुत्र नदी के विभिन्न जलीय आँकड़ों को उपलब्ध कराने के लिए दी गई सहमति है। भारत के प्रधानमन्त्री अटल बिहारी बाजपेयी 22 से 27 जून, 2003 तक चीन की यात्रा पर रहे। चीनी प्रधानमन्त्री बेन जियाबाओ और अटल बिहारी बाजपेयी ने जिस संयुक्त घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर किए उसके प्रमुख बिन्दु इस प्रकार थे :

(i) दोनों देशों के बीच रक्षा सम्बन्धी आदान-प्रदान बढ़ाया जाएगा।

(ii) द्विपक्षीय आर्थिक सम्बन्धों को प्रोत्साहित करने का प्रयास किया जाएगा।

(iii) दोनों राष्ट्र एक-दूसरे के विरुद्ध बल प्रयोग करने की धमकी नहीं देंगे।

(iv) दोनों राष्ट्रों के बीच सीमा-विवाद शान्तिपूर्ण ढंग से निपटाया जाएगा तथा विशेष दूत नियुक्त किये जायेंगे।

(v) दोनों देश अपनी भूमि का प्रयोग दूसरे देशों में विरोधी गतिविधियों के लिए नहीं होने देंगे।

(vi) दोनों देशों के बीच पर व्यापार को प्रोत्साहित करने के लिए नाथूला दर्रा खोला जाएगा। [2006 में यह दर्रा व्यापार के लिए खोल दिया गया है]

(vii) पंचशील के आधार पर द्विपक्षीय सम्बन्ध बनेंगे।

घोषणा-पत्र के अतिरिक्त दोनों राष्ट्रों के बीच नौ अन्य समझौतों पर भी हस्ताक्षर किए गए जो निम्नलिखित हैं :

1. शिक्षा क्षेत्र : विशेषज्ञों के अनुभव का आदान-प्रदान, अध्ययन, डिग्री मान्यता, प्राथमिक-माध्यमिक शिक्षा, अध्यापन तकनीक आदि।
2. वीजा : पर्यटन-तीन माह, व्यवसायी-छह माह।
3. सूचना प्रौद्योगिकी : प्रत्येक वर्ष 25 छात्रवृत्तियाँ, दोनों राष्ट्रों के शिक्षाओं का आदान-प्रदान।
4. समुद्र विज्ञान व तकनीक : तटीय क्षेत्र प्रबन्धन, समुद्री ऊर्जा व समुद्री संसाधन।
5. गैर-पम्परागत ऊर्जा क्षेत्र : लघु जल विद्युत, पवन ऊर्जा परियोजनाएँ, विकास व अनुसंधान।
6. सांस्कृतिक क्षेत्र : दोनों राष्ट्रों की राजधानियों में सांस्कृतिक केन्द्रों की स्थापना, विभिन्न सांस्कृतिक क्षेत्रों में आदान-प्रदान।
7. न्यायिक क्षेत्र : विविध सहयोग, न्यायिक प्रशिक्षण आदि।
8. विज्ञान व प्रौद्योगिकी : अनुसंधान क्षेत्र में आदान-प्रदान तथा संयुक्त अनुसंधान।
9. आंधारभूत क्षेत्र : संचार, सूचना व कम्प्यूटर के क्षेत्र में हुए नवीनतम अनुसंधानों का आदान-प्रदान।

दोनों देशों के नेता आपसी सम्बन्ध सुधारने हेतु प्रयत्नशील हैं। द्विपक्षीय सम्बन्धों में सुधार लाने की प्रक्रिया के तहत अक्टूबर, 2003 से चीन के विदेश मन्त्रालय ने अपनी वेबसाइट पर अधिकाधिक मानचित्र में सिक्किम को अलग राष्ट्र के रूप में दिखाना बन्द कर दिया। अप्रैल-मई, 2004 में जारी अपनी महत्त्वपूर्ण वार्षिक प्रतिवेदन में चीन ने सिक्किम को भारत का अभिन्न अंग स्वीकार कर लिया। दोनों देशों के सम्बन्धों में प्रगाढ़ता के लिए कदम बढ़ाते हुए भारत और चीन ने 11 अप्रैल, 2005 को नई दिल्ली में करीब चार दशकों से विवादित सीमा मुद्दे आपसी तालमेल मे सलझाने सम्बन्धी एक ऐतिहासिक समझौते पर हस्ताक्षर किए। चीन के प्रधानमन्त्री बेन जियाबाओ

और प्रधानमन्त्री डा0 मनमोहन सिंह ने एक संयुक्त घोषणा समेत दोनों देशों के बीच आर्थिक, व्यापार एवं रक्षा क्षेत्रों के साथ हवाई यातायात से जुड़े कुल 12 समझौतों पर हस्ताक्षर किए। चीन के प्रधानमन्त्री ने इस अवसर पर सुरक्षा परिषद् में भारत की स्थाई सदस्यता का परोक्ष रूप से समर्थन किया।

16.9 चीन एवं अन्य राष्ट्र

चीन के ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी जैसे प्रमुख पाश्चात्य देशों के साथ सभी क्षेत्रों में सम्बन्ध है। चीन के फ्रांस के साथ जनरल डिगॉल के समय से ही मधुर सम्बन्ध रहे हैं। राष्ट्रपति शिराक भी चीन के साथ अपने सम्बन्धों को महत्त्व देते रहे हैं। जर्मनी विश्व का एक प्रमुख औद्योगिक राष्ट्र है। चीन उसकी उन्नत प्रौद्योगिकी से लाभ उठाने की दिशा में भी तत्पर रहा है। चीन के यूरोपीय देशों के साथ सम्बन्धों में निरन्तर सुधार हो रहा है। इस तरफ से अब चीन-विश्व के सभी महत्त्वपूर्ण देशों के साथ अपने सम्बन्धों का सतत विकास कर रहा है।

16.10 चीनी विदेश नीति की उपलब्धियाँ

चीन की विदेश नीति की उपलब्धियों में निम्न को शामिल किया जा सकता है :

(i) चीन अनेक झंझावातों और तूफानों के बाद आज भी साम्यवादी राष्ट्र के रूप में अपना अस्तित्व कायम रखने में सफल रहा है। इसके विपरीत पूर्व सोवियत संघ तथा पूर्वी यूरोप में साम्यवाद का अवसान हो गया।

(ii) 1971 तक अमेरिका और कतिपय पाश्चात्य देशों ने वास्तविकताओं की अनदेखी करते हुए चीन को मान्यता नहीं दी तथा राष्ट्रवादी चीन को ही वास्तविक चीन के रूप में स्वीकार करने की नीति का सहारा लिया लेकिन 1971 में अन्तर्राष्ट्रीय वास्तविकताओं ने अमेरिका को चीन को मान्यता देने के लिए विवश कर दिया।

(iii) 1971 में चीन का संयुक्त राष्ट्र (The U.N.) की सुरक्षा परिषद की स्थायी सदस्यता प्राप्त करना तथा राष्ट्रवादी चीन का निष्कासन चीनी विदेश नीति की एक उल्लेखनीय सफलता है। इससे उसकी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा में भारी वृद्धि हुई है। वास्तविक रूप में उसे महाशक्ति का दर्जा प्राप्त हुआ है।

(iv) चीन तृतीय विश्व का पहला देश है जिसने विदेशी सहायता के बिना भी अपने देश का आर्थिक विकास किया है। आत्म निर्भरता के सिद्धान्त का अनुसरण करके ही उसने आर्थिक विकास के नये सोपान प्राप्त किये हैं।

(v) चीन विश्व की महाशक्ति बनने की सभी क्षमताओं से युक्त हो गया है। वर्तमान में वह विश्व की एक प्रमुख आणविक शक्ति बन गया है। उसने अन्तरिक्ष में भी अनेक यान भेजकर अपने को अन्तरिक्ष शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

(vi) वर्तमान में चीन 'अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी निवेश' का एक प्रमुख केन्द्र बन गया है। कुछ वर्षों से भारत की तुलना में चीन में भारी मात्रा में पूँजी निवेश हुआ है। यह चीनी विदेश नीति की सफलता मानी जायेगी।

(vii) 1 जुलाई, 1997 को ब्रिटिश उपनिवेश 'हांगकांग' का चीन को हस्तान्तरण उसकी विदेश नीति की एक उल्लेखनीय सफलता है।

(viii) चीन जिस तरह से अपना आधुनिकीकरण कर रहा है, वह विश्व को आश्चर्य में डालता है। ऐसी सम्भावना है कि आने वाले दशकों में चीन अमेरिका को भी पीछे छोड़ देगा।

(ix) 11 अप्रैल, 2005 को चीन के प्रधानमन्त्री ने भारत को एक महत्त्वपूर्ण राष्ट्र के रूप में मान्यता देते हुए मित्रता का हाथ बढ़ाया व सुरक्षा परिषद् में स्थायी सदस्यता के समर्थन का भारत को विश्वास दिलाया।

16.11 चीनी विदेश नीति की आलोचना

चीनी विदेश नीति की आलोचना करते समय निम्नलिखित तर्क दिए जा सकते हैं :

(i) चीनी विदेश नीति में 'स्थायित्व' का अभाव पाया जाता है।

(ii) अनेक आलोचक इसे 'लक्ष्यहीन' विदेश नीति की संज्ञा देते हैं।

(iii) चीन द्वारा अपने देश में मानवाधिकारों का हनन करने से भी उसकी विदेश नीति विश्वव्यापी आलोचना का पात्र बनी है।

(iv) चीन की कथनी और करनी में बहुत अन्तर पाया जाता है। एक तरफ 'पंचशील' तथा 'हिन्दी-चीनी भाई-भाई' का नारा लगाता रहा और दूसरी ओर उसने भारत पर निर्लज्जतापूर्वक आक्रमण करके इस सिद्धान्त की धज्जियाँ बिखेर दीं। एक तरफ वह पूँजीवाद को कोसता रहा तो दूसरी ओर वह अमेरिका के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करके पूँजीवादी प्रवृत्तियों को प्रश्रय देता रहा।

(v) चीनी विदेश नीति के साधन सशस्त्र संघर्ष, अन्य देशों पर आक्रमण करना, अन्य देशों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करना, सीमा विवाद खड़े करके तनाव उत्पन्न करने की नीति तीव्र आलोचना के विषय बने हैं।

16.12 चीनी विदेश नीति का मूल्यांकन

चीन के विदेश नीती के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमें 'राष्ट्रीय हित' का तत्त्व सर्वोपरि रहा है। इसके परिप्रेक्ष्य में चीनी विदेश नीति के लक्ष्यों, साधनों तथा स्वरूप में परिवर्तन आता रहा है। इसके अनुरूप ही उसने उग्रवाद से उदारीकरण की यात्रा तय की है। वर्तमान में चीनी विदेश नीति में स्थायित्व झलकने लगा है और वह अपने को प्रमुख औद्योगिक शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करने की दिशा की ओर अग्रसर है। चीन विदेशी निवेशकों के लिए आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है। अमेरिकी तथा पाश्चात्य जगत् के अनेक बहुराष्ट्रीय निगम यहाँ भारी पूँजी निवेश कर रहे हैं।

16.13 सारांश

अक्टूबर, 1949 को साम्यवादी चीन की स्थापना हुई, भारत मान्यता प्रदान करने वाला दूसरा गैर साम्यवादी देश था। च्यांग-काई-शेक ने भागकर 'फारमोसा' द्वीप में 'निर्वासित सरकार' स्थापित कर ली। अक्टूबर, 1971 तक अमेरिका तथा संयुक्त राष्ट्र, इसी राष्ट्रवादी चीन को मान्यता देते रहे। 26 अक्टूबर, 1971 को यह स्थिति समाप्त हो गई, चीन न केवल संयुक्त राष्ट्र का सदस्य

बना, बल्कि सुरक्षा परिषद में भी 'स्थायी सदस्यता' प्राप्त हुई।

चीन ने अपने विदेश नीति के उद्देश्यों में चीन की स्वतन्त्रता एवं अखंडता, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, अमेरिका एवं साम्राज्यवादी देशों का विरोध प्रवासी चीनियों के हितों और अधिकारों की रक्षा करना है। वर्तमान में चीन की विदेश नीति का लक्ष्य एक महाशक्ति के रूप में प्रतिष्ठित होता है। चीनी विदेश नीति में 1949-53 काल को आन्तरिक पुनर्गठन का युग, 1954-59 काल को उदारवादी युग, 1959-69 को उग्रतावादी युग, 1970-81 काल को सहयोग और मैत्री युग तथा 1982 के बाद वर्तमान को आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का युग कहा जा सकता है।

1979 से पहले चीन एवं अमेरिकी सम्बन्ध महत्त्वपूर्ण रही, कारण चाहे कोरिया युद्ध हो या ताइवान (फारमोसा) को अमेरिकी सैनिक सहायता, जापान-अमेरिकी सहयोग, क्यूबा संकट, भारत-चीन युद्ध के समय भारत को अमेरिकी सहायता या फिर वियतनाम संकट। अमेरिकी-चीन राजनयिक सम्बन्ध राष्ट्रपति कार्टर के कार्यकाल से प्रारम्भ हुआ। अनेक बाधाओं के बावजूद अमेरिका ने चीन को 'मोस्ट फेबर्ड नेशन' (MFN) का दर्जा 1994-95 से दे रखा है। यह चीनी विदेश नीति एक सफलता है।

चीन-सोवियत संघ (पूर्व) सम्बन्ध प्रारम्भ के कुछ वर्षों के बाद ही कटुतापूर्ण हो गई, लेकिन गोर्बाच्योव के शासन काल से रूस एवं चीन सम्बन्धों में सुधार हुए। एशिया, अफ्रीका एवं लेटिन अमेरिका के प्रति चीन की प्राथमिकता रही है, क्योंकि चीनी विदेश नीति का सारा ध्यान तृतीय विश्व की ओर केन्द्रित था। चीन ने तृतीय विश्व का नेतृत्व अपने हाथ में लेने की दृष्टि से पहले तो नेहरू की आलोचना की और बाद में 1962 में भारत पर आक्रमण किया। अरब-इजराइल युद्ध में भी चीन ने फिलिस्तीनियों का ही पक्ष लिया है। तृतीय विश्व के देशों में यह विश्वास बना है कि केवल चीन ही अमेरिका का मुकाबला कर सकता है।

1962 के भारत-चीन युद्ध से पहले दोनों देशों में मधुर सम्बन्ध थे, लेकिन युद्धोत्तर काल 1980 तक दोनों देशों का करीब-करीब सम्बन्ध-विच्छेद था। 1980 के बाद राष्ट्रपति डा० शंकर दयाल शर्मा, प्रधानमन्त्री श्री राजीव गाँधी एवं श्री पी०वी० नरसिम्हाराव की चीन यात्रा ने नये वातावरण को जन्म दिया। चीनी प्रधानमन्त्री ली फंग तथा राष्ट्रपति जेनिन जिंग ने भी भारत यात्रा कर सम्बन्धों को आगे बढ़ाया। वर्तमान में दोनों देशों के बीच साकारात्मक सम्बन्ध विकसित करने के प्रयास जारी हैं। दोनों देशों ने जून, 2003 में एक संयुक्त घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर किए तथा नौ अन्य समझौतों पर भी हस्ताक्षर किए।

चीनी विदेश नीतियों की सफलताओं में - एक साम्यवादी राष्ट्र बने रहना, सुरक्षा परिषद की स्थायी सदस्यता प्राप्त करना, अमेरिकी MFN दर्जा प्राप्त करना, आत्म-निर्भरता एवं विश्व की महाशक्ति बनने की सभी क्षमताओं से युक्त होना, वर्तमान में अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी-निवेश का केन्द्र होना, ब्रिटिश उपनिवेश हांगकांग को प्राप्त करना इत्यादि शामिल है।

16.14 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. भीम सन्धु : अनरिजोल्ड कनफ्लिक्ट : चाईना एंड इंडिया, नई दिल्ली 1988
2. बी०एन० मलिक : दी चाइनिज बिट्रेयल, नई दिल्ली-1971
3. David Shambaugh : Patterns of Interaction in sino Thomas W. Robinson edt. American Relations.
4. पी०सी० चक्रवर्ती : इंडियाज चाईना पालिसी
5. मथुरा लाल शर्मा : प्रमुख देशों की विदेश नीतियाँ

16.15 सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. एशिया, अफ्रीका एवं लेटिन अमेरिका के प्रति चीन की विदेश नीति का एक समीक्षा कीजिए।
2. चीनी विदेश नीति पर वैश्वीकरण का प्रभाव का विश्लेषण कीजिए।
3. चीन-अमेरिका सम्बन्ध पर एक लेख लिखें।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. चीन-भारत विवाद एवं सहयोग
2. चीनी विदेश नीति की सफलता का मूल्यांकन
3. चीन-रूस सम्बन्ध

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. साम्यवादी चीन की स्थापना कब हुई।

   (a) 1948 (b) 1949

   (c) 1947 (d) 1950
2. भारत-चीन सशस्त्र संघर्ष कब हुई।

   (a) 1962 (b) 1964

   (c) 1965 (d) 1966
3. वर्तमान में चीन का राष्ट्रपति कौन है।

   (a) माओत्से-तुंग (b) जू रोंगजी

   (c) जियांग जेमिन (d) इनमें से कोई नहीं।

16.16 प्रश्नोत्तर

1. (b)
2. (a)
3. (c)

इकाई-17 भारत की विदेश नीति : मुख्य निर्धारक तत्त्व तथा वैश्विक परिवेश में उसकी भूमिका

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य
17.1 प्रस्तावना
17.2 भारतीय विदेश नीति से सम्बन्धित ऐतिहासिक तथ्य
17.3 भारतीय विदेश नीति के उद्देश्य
17.4 भारतीय विदेश नीति के लक्ष्य
17.5 भारतीय विदेश नीति के निर्धारक तत्त्व
17.6 भारतीय विदेश नीति के अध्ययन के विभिन्न काल खंड प्रथम खंड
17.7 द्वितीय काल खंड
17.8 तृतीय काल खंड
17.9 चतुर्थ काल खंड
17.10 भारतीय विदेश नीति एवं वैश्वीकरण
17.11 भारतीय विदेश नीति एवं चुनौतियाँ
17.12 भारतीय विदेश नीति का मूल्यांकन
17.13 सारांश
17.14 संदर्भ ग्रन्थ
17.15 सम्बन्धित प्रश्न
17.16 प्रश्नोत्तर

17.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप

- भारतीय विदेश नीति से सम्बन्धित ऐतिहासिक तथ्य, उद्दश्य, लक्ष्य एवं निर्धारक तत्त्व से अवगत हो सकेंगे।
- भारतीय विदेश नीति के विभिन्न काल खंडों को समझ सकेंगे।
- वैश्विक राजनीति के सन्दर्भ में भारत के समक्ष चुनौतियों एवं भूमिका का आकलन कर पायेंगे।

17.1 प्रस्तावना

इस इकाई के अन्तर्गत स्वतन्त्रता के उपरान्त भारत के विदेश नीति का अध्ययन करेंगे। भारत की सभ्यता तथा भारत के इतिहास की एक लम्बी परम्परा है। परन्तु सदियों की राजनीतिक दासता के विरुद्ध एक लम्बे संघर्ष से ही भारत को राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। भारत का राष्ट्रीय

आन्दोलन विश्व के तमाम उपनिवेशों के लिए राजनीतिक स्वतन्त्रता संघर्ष हेतु एक प्रेरणास्रोत बनी। भारत की स्वतन्त्रता द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् प्राप्त हुई और उस समय विश्व राजनीति शीत-युद्ध के दौर में प्रवेश कर चुकी थीं। स्वतन्त्र भारत के लिए विश्व राजनीति के एक मुश्किल दौर में अपनी विदेश नीति का निर्माण तथा क्रियान्वयन एक बड़ी चुनौती थी। भारत की विदेश नीति का निर्धारण, शीतयुद्ध के दौर में गुट-निरपेक्षता की नीति को एक श्रेष्ठ नीति के रूप में अपनाया तथा तीसरी दुनिया के राष्ट्रों को प्रेरित किया कि उसके लिए यह विदेश नीति का सर्वोत्तम विकल्प है। भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के प्रति आस्था तथा इनसे सहयोग के सिद्धान्त को अपने संविधान में भी स्थान दिए। महाशक्तियों के साथ सम्बन्ध, पड़ोसी राष्ट्रों के साथ विषम परिस्थितियों के रहते सम्बन्ध निर्धारण, अन्तर्राष्ट्रीय जगत में घटित होने वाली घटनाओं के परिदृश्य में विदेश नीति का संचालन, आर्थिक तथा वाणिज्यिक सम्बन्धों का ऐसा समायोजन जो राष्ट्रीय सम्मान तथा सम्प्रभुता के अनुरूप हो, विदेश नीति की चुनौतियाँ थीं। भारत की विदेश नीति की स्वतन्त्रता के बाद के वर्षों तक इन चुनौतियों के अतिरिक्त अन्य भी दूसरी चुनौतियों का सामना करना पड़ा। इस इकाई के अन्तर्गत इन्हीं प्रसंगों के सन्दर्भ में भारत की विदेश नीति का अध्ययन करने का प्रयास किया जा रहा है।

17.2 भारतीय विदेश नीति से सम्बन्धित ऐतिहासिक तथ्य

स्वतन्त्र भारत की विदेश नीति की विशेषताओं तथा इसके आधारभूत निर्धारक तत्त्वों को आवश्यक रूप से पंडित नेहरू के अभिभाषणों में देखा जा सकता है। अपने एक भाषण में उन्होंने कहा "जो भी विदेश नीति हम निर्धारित करें, किसी देश की विदेशी मामलों को सम्पादित करने के लिए यह जानना आवश्यक है कि उसके लिए सर्वाधिक लाभप्रद क्या है? हम अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना की बात कर सकते हैं या हम शान्ति एवं स्वतन्त्रता की बात कर सकते हैं, तथा हम इनके अर्थों के बारे में स्पष्ट हो सकते हैं, परन्तु अन्तिम विश्लेषण कोई भी सरकार उस देश की हित के लिए कार्य करते हैं, जिसका कि वह शासन करती है और इसीलिये कोई सरकार कोई ऐसा दुस्साहस नहीं कर सकती जो कि तत्काल अथवा दीर्घकाल उसके राष्ट्र के अहित में हो।" इस भाषण से यह स्पष्ट होता है कि नेहरू को शुरू से ही यह अहसास था कि किसी भी विदेश नीति का मूलभूत उद्देश्य अपने हितों का प्रोत्साहन में संवर्द्धन है।

1946 में नेहरू के एक भाषण को प्रायः भारत की विदेश नीति का आधारभूत मानदंड माना जाता है। इस भाषण में उन्होंने कहा, "हम यथासम्भव यह प्रयास करेंगे कि एक दूसरे के खिलाफ संघर्षरत गुटीय राजनीति से अलग रहेंगे। ऐसी राजनीति विश्व को भूतकाल में दो विश्व-युद्धों में ढकेल दिया था और यह एक बार पुनः कहीं अधिक बड़े पैमाने पर दुनिया को नष्ट कर सकती है। हम यह मानते हैं कि शान्ति तथा स्वतन्त्रता अविभाज्य हैं तथा किसी भी एक क्षेत्र में स्वतन्त्रता की अवलेहना, दूसरे क्षेत्र में स्वतन्त्रता के लिए खतरा होता है और इससे संघर्ष तथा युद्ध जन्म लेते हैं। विशेष रूप से औपनिवेशिक तथा दूसरों पर निर्भर राष्ट्रों तथा उनकी जनता के बारे में चिन्तित हैं। साथ ही हम सिद्धान्त तथा व्यवहार में सभी जातियों के लिए अवसर को समानता के सिद्धान्त को मान्यता देते हैं।"

किसी भी देश की विदेश नीति उन विश्व की परिस्थितियों के सन्दर्भ में उस देश की आन्तरिक आकांक्षाओं तथा आवश्यकताओं की अभिव्यक्ति होती है। इसीलिए किसी भी विदेश नीति की संरचना तथा इसकी गतिशीलता के पीछे उस राष्ट्र के इतिहास, उसकी भौगोलिक स्थिति, उसकी संस्कृति तथा दर्शन, तथा उन आर्थिक और सामाजिक शक्तियों का समागम होता है। यदा-

कदा कुछ व्यक्ति ऐसे अवश्य उजागर होते हैं जो उस देश की आकांक्षाओं का मूर्त रूप है। नेहरू को ऐसे ही व्यक्तित्व के रूप में देखा जा सकता है।

भारत की विशालता, ऐतिहासिक परम्परा की जड़ें तथा संस्कृति हजारों वर्ष पुरानी हैं। इसकी भू-राजनैतिक स्थिति नेहरू के ही शब्दों में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के चौराहे पर स्थित है। इसके पूर्व में दक्षिण-पूर्व एशिया और पश्चिम में पश्चिमी एशिया जैसे सामरिक क्षेत्र हैं, तो उत्तर में चीन और दक्षिण में हिन्द महासागर है। भारतीय सभ्यता का इतिहास तथा एक राष्ट्रीय शक्ति के रूप में भारत की पहचान बहुत पुरानी है। पुराणों तथा लेखों में भारत की पहचान हिमालय से समुद्रपर्यन्त उस क्षेत्र के रूप में की गई है जो कि एक चक्रवर्ती सम्राट के योग्य शासन हेतु भू-भाग समझा जाता था। अगर विचारधारा को देखें तो कौटिल्य के अर्थशास्त्र, महाभारत के शान्तिपर्व तथा कई सूत्रों तथा स्मृतियों में ऐसी टीकाएं मिलती हैं जो विदेश नीति तथा राजनय के महत्त्व को दर्शाती हैं। दूतों के आवागमन की परम्परा, रामायण, महाभारत, चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार, हर्षवर्धन या कुषाणों के काल से ही देखी जाती है। स्पष्ट है कि विदेश नीति नियोजन और राजनयिक सम्पर्कों की परम्परा में भारत चीन या यूरोपीय देशों से पीछे नहीं रहा। परन्तु यह भी ध्यान में रखा जाना चाहिए कि यूरोपीय औपनिवेशिक शक्तियों के आगमन से इसमें व्यवधान पड़ा। यह मात्र एक संयोग नहीं है कि नेहरू के द्वारा भारत की विदेश नीति की आधारशिला, अशोक तथा बुद्ध के शाश्वत सिद्धान्तों पर रखीं।

स्वतन्त्रता से पूर्व भारत की विदेश नीति के प्रवक्ता के रूप में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस केन्द्र में रही, परन्तु कांग्रेस के बाहर ऐसी कई विभूतियाँ रहीं जो इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाहन करती रहीं इनमे राजा वीरेन्द्र प्रताप, वीर सावरकर, लाला लाजपत राय, लाला हरदयाल, वीरेन्द्र नाथ चट्टोपाध्याय, मानवेन्द्र नाथ राय, तथा रवीन्द्रनाथ टैगोर जैसे नाम सम्मिलित किए जा सकते हैं।

1947 में भारत की स्वतन्त्रता के समय, अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त जन्में शीतयुद्ध के दौर से गुजर रहा था। नवोदित राष्ट्रों के समक्ष यह एक बड़ी चुनौती थी कि एक लम्बे स्वतंत्रा संग्राम से हासिल अपनी स्वतन्त्रता को बनाए रखा जाए। साथ ही राष्ट्र निर्माण भी एक बड़ी चुनौती थी। जे0बी0 बन्दोपाध्याय के शब्दों में किसी भी विदेश नीति का निर्माण आवश्यक रूप से उस राष्ट्र द्वारा, अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में उद्देश्यों तथा साधनों के विकल्प की प्रक्रिया है। सर्वप्रथम तो यह आवश्यक है कि एक विस्तृत लक्ष्य को निर्धारित कर लिया जाए, जो विदेश नीति को एक उद्देश्य तथा दिशा प्रदान करें। ऐसे लक्ष्य को आवश्यक रूप से स्थिर नहीं होना चाहिए। यह लक्ष्य अवधारणात्मक रूप में दीर्घकालीन होना चाहिए और तत्कालिक उद्देश्य इससे सम्बन्धित होना चाहिए। इस लक्ष्य को अस्पष्ट नहीं होना चाहिए, बल्कि ऐसा होना चाहिए जिसकी परिभाषा की जा सकी और जिसके विविध घटकों को विभाजित किया जा सके।

वे पुनः लिखते हैं कि विदेश नीति किन्हीं निश्चित परिस्थितियों की तथा संस्थाओं की सीमाओं के अन्तर्गत सम्भाव्य की कला या विज्ञान नाम है। विदेश नीति के अन्तर्गत विवेकपूर्ण निर्णयों की समस्या, संभावित साधनों तथा लक्ष्यों में से चयन करने का नाम है ताकि अधिकतम राष्ट्रीय हितों की प्राप्ति हो सके।

भारत की विदेश नीति के आधारभूत उद्देश्य सरल तथा स्पष्ट हैं। भारत सरकार के एक प्रकाशन ''स्वतन्त्र भारत के बढ़ते हुए कदम'' के अनुसार इन उद्देश्यों में स्वतन्त्रता प्राप्ति से अब तक कोई परिवर्तन नहीं हुआ। ये उद्देश्य निम्नलिखित हैं :

भारतीय विदेश नीति के उद्देश्य :

(i) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा कायम रखना और इसे प्रोत्साहित करना।

(ii) सभी पराधीन देशों की स्वतन्त्रता को प्रोत्साहन देना क्योंकि भारत की दृष्टि में उपनिवेशवाद केवल मूल मानव अधिकारों का उल्लंघन ही नहीं बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का निरन्तर कारण रही है।

(iii) नस्लवाद का विरोध तथा ऐसे समाज के विकास का समर्थन जिसमें रंग, जाति, और वर्ग के किसी भेद-भाव के लिए कोई स्थान न हो।

(iv) अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शान्तिपूर्ण समाधान।

(v) इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए तथा सम्पूर्ण मानवता के व्यापक हितों को ध्यान में रखते हुए सभी अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों और विशेष रूप से संयुक्त राष्ट्र को सक्रिय योग देना।

17.4 भारतीय विदेश नीति के लक्ष्य

इन उद्देश्यों के सन्दर्भ में भारत की विदेश नीति के लक्ष्यों (goals) को निम्नांकित रूप में दर्शाया जा सकता है :

(i) जातीय भेद-भाव तथा साम्राज्यवाद का प्रबल विरोध

(ii) शक्ति-राजनीति की अपेक्षा राष्ट्रों की आधारभूत, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक विकास पर बल।

(iii) एशियाई देशों की उपेक्षा न करने तथा उन पर बलात् कुछ न थोपने पर आग्रह;

(iv) एक स्वतन्त्र तथा **असंलग्न** नीति पर बल;

(v) संयुक्त राष्ट्र तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में विश्वास

(vi) शीतयुद्ध तथा क्षेत्रीय सैनिक संगठनों से बचाना;

(vii) अन्तर्राष्ट्रीय तनावों को कम करने वाले और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की सम्भावनाओं को बढ़ाने वाले प्रयासों में विश्वास

प्रायः उपर्युक्त लक्ष्यों को विदेश नीति के सिद्धान्तों के रूप में भी वर्णित किया जाता है। स्पष्ट है कि इन उद्देश्यों तथा लक्ष्यों में आदर्शवाद और यथार्थवाद का एक सुन्दर समन्वय है। प्रत्येक राष्ट्र अपनी नीतियों में राष्ट्रीय हितों को सर्वोपरि महत्त्व देता है। तथा एक विदेश नीति की सफलता की सबसे बड़ी कसौटी भी यही है कि वे राष्ट्रीय हित की सुरक्षा करने में कहाँ तक सफल हुई।

भारत की विदेश नीति के उपरोक्त लक्ष्यों को प्राप्त करने हेतु पंचशील एक आवश्यक सिद्धान्त के रूप में भारत की विदेश नीति से जुड़ा हुआ है। पंचशील के पाँच सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :

(i) एक दूसरे की क्षेत्रीय अखंडता तथा सम्प्रभुता का सम्मान

(ii) पारस्परिक अनाक्रमण

(iii) एक दूसरे के आन्तरिक मामलों में अहस्तक्षेप

(iv) पारस्परिक समानता तथा एक दूसरे के हितों में सहयोग

(v) शान्ति-पूर्ण सह-अस्तित्व।

17.5 भारत के विदेश नीति के निर्धारक तत्त्व

विदेश नीतियों का निर्माण एकाकीपन के सन्दर्भ में नहीं सोचा जा सकता है। विदेश नीतियों की आवश्यकता अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के विकास के सहचर होती है। विदेश नीति किसी एक तत्त्व विशेष से निर्देशित नहीं हो सकती बल्कि यह तो बहुत से निर्धारकों का समुच्चय होती है। भारत की विदेश नीति के विभिन्न विश्लेषकों द्वारा इसके निर्धारकों को अपने-अपने तरीके से दर्शाने के प्रयास किये हैं। कुछ निर्धारकों के बारे में एक सामान्य स्वीकृति दिखाई पड़ती है। इन्हीं निर्धारकों को संक्षेप में निम्नलिखित क्रम में दर्शाया जा सकता है।

1. भौगोलिक तत्त्व–भौगोलिक परिस्थितियाँ किसी भी विदेश नीति के निर्माण में निर्णायक होती हैं। भारत के एक प्रसिद्ध राजनयिक सरदार पन्निकर ने लिखा भी है कि ''जब नीतियों का लक्ष्य प्रादेशिक सुरक्षा होता है, तो उनका निर्धारण मुख्य रूप से भौगोलिक तत्त्व से हुआ करता है।'' यह एक वास्तविकता है कि किसी राष्ट्र का भूगोल स्थायी होता है और इसमें कोई परिवर्तन भी नहीं होता है। भू-राजनीति (Geo-Politics) के विशेषज्ञों ने भूगोल की महिमा को विदेश नीतियों तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के केन्द्र में ही दर्शाया है। भौगोलिक तत्त्व के अन्तर्गत भू-आकृति, भू-स्थिति, जलवायु तथा भू-स्थिति की अन्तर्राष्ट्रीय महत्ता महत्त्वपूर्ण हैं। पन्निकर नेपोलियन बोनापार्ट की तरह यह मानते हैं कि विदेश नीति भूगोल द्वारा निर्धारित होती है।

भारत, दक्षिण एशिया में बहुत ही महत्त्वपूर्ण राष्ट्र हैं। एशिया महाद्वीप में इससे विशेष स्थिति है। उत्तर तथा दक्षिण में क्रमशः हिन्द हिमालय की पर्वत श्रृंखलाएँ तथा हिन्द महासागर सहित अरब सागर और बंगाल की खाड़ी इसे विस्तृत सीमाएँ प्रदान करती हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद दक्षिण एशिया तथा हिन्द महासागर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण केन्द्रों के रूप में बने। ऐसे में भारत की विदेश नीति के निर्धारण में इनका महत्त्व सदैव ही बना रहा।

2. विचारधाराओं का प्रभाव : 'वसुधैव कुटुम्बकम' भारत की वैचारिक संस्कृति में आधारभूत है। भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में महात्मा गाँधी की शान्ति तथा अहिंसा पर आधारित विचारधारा किसी से छुपी नहीं रही है। भारत के विदेश नीति के कर्णधार नेहरू की विश्वशान्ति के प्रति निष्ठा भी संदेह से परे है। भारत के संविधान के अनुच्छेद-51 में ''राज्य की नीति के निदेशक तत्त्वों के अन्तर्गत विश्व शान्ति के आदर्श को सम्मिलित किया गया ऐतिहासिक परम्परा में गौतम बुद्ध तथा अशोक और अकबर तथा शिवाजी द्वारा अपनाए गए अहिंसा और सहिष्णुता के विचार भारत की विदेश नीति को निरन्तर प्रभावित करती रहीं। अरविन्द, टैगोर, अथवा एम0एन0 राव के मानवतावादी विचार भी इसी श्रृंखला में हमारी विदेश नीति को प्रभावित करते हैं।

3. द्वि-ध्रुवीय राजनीति–भारत के स्वाधीनता के समय राजनीति का द्विध्रुवीय विभाजन हो चुका था और इसके परिणामस्वरूप महाशक्तियाँ शीतयुद्ध के एक दौर से गुजर रही थी। भारत ने शीतयुद्धीय सैनिक गुटों से पृथक रहकर असंलग्नता की नीति को अपनी विदेश नीति का एक प्रमुख सिद्धान्त निर्धारित किया।

4. आर्थिक तत्त्व–एक परस्पर-निर्भर अन्तर्राष्ट्रीय समाज में राष्ट्रों को अपनी आर्थिक तथा व्यापारिक आवश्यकताओं की पूर्ति विदेश नीति के माध्यम से करवानी है। भारत एक विकासशील राष्ट्र होने के कारण बिना विदेशी सहायता के अपने आर्थिक विकास के विभिन्न आयामों की पूर्ति नहीं कर सकती। यहाँ पर यह बात ध्यान में रखी जानी चाहिए कि औपनिवेशिक काल में भारत का औद्योगीकरण अपर्याप्त ही रहा। इसलिए औद्योगीकरण के मार्ग में प्रशस्त भारत की नीति विदेशी तकनीकी सहायता बहुत महत्त्वपूर्ण है। जे0बी0 बन्धोपाध्याय ने भारत की विदेश नीति की आर्थिक आयामों के तीन प्रमुख सूचकों क्रमशः सुरक्षा, विदेशी सहायता तथा अन्तर्राष्ट्रीय

व्यापार को दर्शाया है।

5. सैनिक तत्त्व—स्वतन्त्रता के समय भारत की पहचान एक सैनिक के रूप में नहीं थी। भारत की विदेश नीति अपने प्रारम्भिक चरण में भारत को एक सैनिक शक्ति के रूप में स्थापित करने का उदेश्य भी नहीं रखी। दोनों गुटों से सामान दूरी पर रहने की 'असंलग्नता की नीति' तथा विश्व-शान्ति के आदर्श पर चलने की नीति के रहते, सैनिक क्षमता के विकास को प्रारम्भिक दौर में प्राथमिकता भी नहीं दी। परन्तु 1962 का चीन के साथ युद्ध ऐसा सबक था जिसने भारतीय नेतृत्व को सैन्य क्षेत्र में आत्मनिर्भरता हासिल करने हेतु प्रेरित किया।

यही कारण है कि विश्व-शान्ति और निःशस्त्रीकरण की दुहाई को बार-बार दुहराने के बावजूद भी भारत न सिर्फ अपनी सैन्य तैयारी को मजबूत करता रहा बल्कि विदेशी शास्त्रास्त्रों के आयात तथा परमाणु हथियारों के निर्माण की दिशा में प्रवृत्त रहा।

6. राष्ट्रीय हित—एक अवधारणा के रूप में राष्ट्रीय हित की कोई सर्वमान्य परिभाषा भले ही नहीं दी जा सकती तो परन्तु राष्ट्रहित किसी भी देश की विदेश नीति का सबसे महत्त्वपूर्ण आधार होता है, इस बात से सभी सहमति रखते हैं। नेहरू ने भी संविधान सभा में अपने एक भाषण में यह कहा कि "किसी भी देश के विदेश नीति की आधारशिला उसके राष्ट्रीय हित की सुरक्षा की होती है और भारत की विदेश नीति का भी लक्ष्य यही है। राष्ट्रीय हितों को मोटे तौर पर स्थायी तथा अस्थायी अथवा प्राथमिक व द्वितीय इन दो श्रेणियों में रखा जाता है। पहला श्रेणी में राष्ट्रीय अखंडता तथा सुरक्षा और दूसरी श्रेणी में खाद्यात्र, तकनीकी विकास, विदेशी व्यापार, विदेशों में अपने नागरिकों की सुरक्षा आदि सभी विषय सम्मिलित हैं।

7. नेहरू का व्यक्तित्व—भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री पंडित नेहरू निर्विवाद रूस से भारत के विदेश नीति के रचयिता, शिल्पकार, निर्माता तथा कार्यवाहक है। तमाम आलोचनाओं के बावजूद विदेश नीति के जिस ताने-बाने को नेहरू ने रखा, सम्भवतः उससे भिन्न कोई अन्य विदेश नीति तत्काल सम्भव भी नहीं था। नेहरू ने स्वयं लोकसभा में अपने एक सम्बोधन में यह बात कही भी थी कि "भारत की विदेश नीति को नेहरू के विदेश नीति नहीं कहा जाना चाहिए। पर नेहरू की मृत्यु के चार दशकों से अधिक समय व्यतीत हो जाने के बाद भी विदेश नीति के नेहरू की शैली भारत के विदेश नीति के निर्माताओं को प्रभावित करती चली आ रही है।

उपरोक्त तत्त्वों के अतिरिक्त समसामयिक अन्तर्राष्ट्रीय घटनाचक्र, राष्ट्रीय राजनीति, तत्कालीन नेतृत्व का रुझान, राष्ट्रीय जनमत का रुझान; तात्कालिक राष्ट्रीय हितों की प्राप्ति तथा उनका दीर्घकालिक राष्ट्रीय हितों के साथ तादात्म्य विदेश नीति के निर्धारण में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करते हैं। भारत की विदेश नीति के उद्देश्यों तथा लक्ष्यों के सन्दर्भ में जिन प्रमुख सिद्धान्तों को चिन्हित किया जा सकता है, वे निम्नवत् हैं :

1. **विश्व-शान्ति :** विश्व-शान्ति का आदर्श भारत की विदेश-नीति में ऐतिहासिक परम्परा और संस्कृति से चला आ रहा है। भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में महात्मा गाँधी की भूमिका तथा उनकी अहिंसा एवं विश्व-शान्ति की विचारधारा का प्रभाव विश्वव्यापी है। नेहरू ने न सिर्फ महात्मा गाँधी से इन आदर्शों को उत्तराधिकार में हासिल किया बल्कि उन्होंने अपने व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय अनुभव (Experience) के आधार पर, जिसमें दो विश्व-युद्धों के बाद की बर्बादी शामिल थी, इस आदर्श को एक ऐसे यथार्थ के रूप में अनुभव किया जो भविष्य की दुनिया को महाशक्तियों के संघर्षों के परिणामस्वरूप जन्म लेने वाले किसी संकट से भी बचाएगा और साथ ही नवोदित राष्ट्रों को उनकी स्वतन्त्रता की

बहाली में मदद करेगा।

2. **गुटनिरपेक्षता :** यह विश्व-शान्ति की स्थापना की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण पहल थी। दूसरे विश्वयुद्ध की समाप्ति तो हो गई थी, पर विश्व में शान्ति लौट नहीं सकी थी। पूर्व का लोकतन्त्र बनाम फासीवाद के बीच का संघर्ष अब लोकतन्त्र बनाम साम्यवाद के रूप में वापस लौटकर विश्व-शान्ति के लिए एक नया खतरा बन गया। इस संघर्ष में विश्व राजनीति से गुटों में विभाजित हो गई। नेहरू ने इस स्थिति को भांपते हुए भारत सहित अफ्रीका तथा एशिया के नवोदित राष्ट्रों के लिए गुटों से पृथक रहकर एक स्वतन्त्र विदेश नीति को अपनाने की वकालत प्रारम्भ कर नेहरू के विचार को अन्तर्राष्ट्रीय समर्थन भी हासिल हुआ। धीरे-धीरे गुटनिरपेक्षता गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के रूप में विकसित हुई।

3. **निःशस्त्रीकरण :** उपरोक्त दोनों सिद्धान्तों की तीसरी कड़ी निःशस्त्रीकरण है। शास्त्रों की दौड़ जब तक चलती रहेगी, विश्व-शान्ति निरापद नहीं हो सकती। शस्त्रीकरण युद्ध की मानसिकता को ही पुष्टि करता है। परमाणु अस्त्रों के विकास के साथ शस्त्रीकरण किसी भी समस्या और अधिक गम्भीर बन गई। इसलिए भारत की विदेश नीति में प्रारम्भ से ही निःशस्त्रीकरण को एक आधारभूत सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया जाता रहा है।

4. **साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और नस्लवाद का विरोध :** साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद के विरुद्ध भारत का संघर्ष बहुत लम्बा है। नस्लवाद भी इसी कड़ी में शोषण का एक उपकरण है। भारत की विदेश नीति के कार्यान्वयन में इन तीनों का विरोध, विश्व-शान्ति तथा गुटनिरपेक्ष आदर्शों की प्राप्ति सदैव ही किया जाता रहा है।

5. **संयुक्त-राष्ट्र में आस्था :** दो विश्व-युद्धों के बाद क्रमशः दो अन्तर्राष्ट्रीय संगठन निर्मित किए। पहले विश्व युद्ध के बाद निर्मित राष्ट्र संघ अपने प्राथमिक उद्देश्य में ही असफल हुआ। 20 वर्षों के अन्तराल में विश्व दूसरे विश्वयुद्ध में उलझ गया और राष्ट्र-संघ एक मूकदर्शक की तरह देखता रह गया। दूसरे विश्व युद्ध की समाप्ति तक एक बार फिर एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की आवश्यकता को विश्व-शान्ति की स्थापना एवं बहाली के लिए आवश्यक समझा। संयुक्त-राष्ट्र इसी का परिणाम था और भारत आजादी के पूर्व ही इसका सदस्य बन गया। यह संगठन भारत की विदेश नीति के पूर्वोक्त सिद्धान्तों में दर्शाए गए आदर्शों की प्राप्ति हेतु आवश्यक है। इसीलिए भारत की इसके प्रति अगाध श्रद्धा है।

17.6 भारतीय विदेश नीति के अध्ययन का विभिन्न काल खंड

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत की विदेश नीति तथा दूसरे राष्ट्रों के साथ भारत के सम्बन्धों को अलग-अलग काल खंडों में रखकर देखा जा सकता है। काल-खंडों का यह विभाजन नेतृत्व के सन्दर्भ में भी किया जा सकता है अथवा समय काल के आधार पर। हम इस विवेचन को निम्न काल खंडों में विभाजित कर अध्ययन करेंगे।

1. प्रथम काल खंड (1947-64) नेहरू युग के रूप में, जिसमें भारत की अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति के क्षेत्र में अभ्युदय (1947-55) तथा भ्रान्तियाँ का अन्त एवं नये युग का प्रारम्भ (1956-64) तक शामिल है।

2. द्वितीय काल खंड (1964-77) जिसे विशेषतः इन्दिरा युग के रूप में कहा जा सकता है।

3. तृतीय कालखंड (1977-84) जिसमें जनता दल की अल्प अवधि एवं इन्दिरा कांग्रेस के शासनकाल में आन्तरिक अनिश्चिचता एवं प्रतिक्रिया मूलक कूटनीति का प्रादुर्भाव दिखाई पड़ता है।

4. चतुर्थ कालखंड (1985- वर्तमान) में भारतीय विदेश नीति बदलते हुए विश्व के साथ तालमेल का प्रयास परावर्तित होता दिखाई देता है।

प्रथम काल खंड 1947-64 तक

स्वतन्त्रता के तुरन्त बाद विदेशी नीति निर्माण तथा विदेशी राज्यों के साथ सम्बन्ध एक बड़ी चुनौती थी। यह चुनौती और भी अधिक विकट हो गई थी, क्योंकि भारत की स्वतन्त्रता भारत के विभाजन के साथ मिली थी और इस विभाजन से विरासत में प्राप्त समस्याएँ आज तक हमारी विदेश नीति, राष्ट्रीय राजनीति तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को प्रभावित करती है। विदेश नीति का यह कालखंड मुख्य रूप से नेहरू के प्रधानमन्त्रित्व का युग था। नेहरू स्वयं भारत के विदेश मन्त्री भी थे। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस दल का राष्ट्रीय राजनीति पर वर्चस्व था और दल तथा सरकार में नेहरू की कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं था। विदेशों में नेहरू की ख्याति से लोग परिचित थे। नेहरू को विश्व इतिहास और भारत की इतिहास की गहन जानकारी थी। नेह में एक विश्व राजनेता (World Statesman) को सदैव ही देखा जा सकता है। उनके कुछ विचार जहाँ जनतन्त्र और जनतान्त्रिक पद्धति के प्रति प्रतिबद्धता दर्शाते हैं, वहीं समाजवाद के प्रति उनके रुझान की अनदेखी भी नहीं की जा सकती है। स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौर में संविधान निर्माण के दौरान तथा स्वतन्त्रता के पश्चात् देश के प्रधानमन्त्री के रूप में उनके द्वारा विभिन्न मंचों में गिए गए अभिभाषण उनकी विदेश नीति के बारे में सोच को अभिव्यक्त करते हैं। गुटनिरपेक्षता की नीति इन्हीं की सोच का परिणाम है। यह बात ध्यान में रखी जानी चाहिए कि गुटनिरपेक्षता की तमाम आलोचनाओं अथवा नेहरू के विदेश नीति के आलोचनाओं के बावजूद बाद के वर्षों में भी तथा कांग्रेस के अतिरिक्त सरकारों के दौर में भी विदेश नीति के क्रियान्वयन में नेहरू को भुला पाना मुश्किल है।

नेहरू कालीन विदेश नीति की वे सारी विशेषताएँ हैं, जिनका वर्णन हमने पूर्व में विदेश नीति के सिद्धान्तों के अन्तर्गत विवेचन किया है। नेहरू को अफ्रो-एशियाई एकता में एक ऐसा तर्क दिखाई पड़ता था जो साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद तथा नस्लवाद का विरोध करने एवं गुटनिरपेक्षता का संचालन करने में मददगार होगा। महाशक्तियों के साथ सम्बन्धों में सन्तुलन की स्थिति गुटनिरपेक्षता से ही सम्भव थी। भारत जैसे विशाल देश को अपनी विकास की तमाम आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विकसित देशों की ओर देखना स्वाभाविक था। किसी एक गुट का सदस्य हो जाना, दूसरे गुट की नाराजगी का कारण बनता, इसीलिए गुटों से समान दूरी की गुटनिरपेक्षता की नीति को नेहरू ने अपनाया। नेहरू काल में भारत के अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा में पर्याप्त वृद्धि हुई और विश्व राजनीति में भारत की एक विशिष्ठ पहचान भी हुई। नेहरू के लिए विश्व के नेताओं के साथ वार्त्ताओं में सहभागिता बिल्कुल भी असहज नहीं होती थी। वे सहज ही दूसरे नेताओं को अपने व्यक्तित्व से आकर्षित करते थे। वे जनतान्त्रिक तथा समाजवादी दोनों ही विचारधाराओं के सैद्धान्तिक विवेचन में समर्थ थे। पर विश्व राजनीति के शीतयुद्धी दौर में शीतयुद्ध को समाप्त करना किसी के भी वश में नहीं था, परन्तु शीतयुद्ध से जन्म लेने वाले तनावों को शिथिल अवश्य किया जा सकता था। नेहरू के काल में महाशक्तियों के साथ भारत के सम्बन्धों में एक सन्तुलन को देखा जा सकता है।

भारत को अपने पड़ोस में दो ऐसे राष्ट्रों के साथ सम्बन्ध निर्वाह करने पड़ें, जहाँ कभी व्यक्तित्वों की टकराहट, तो कभी नेतृत्व के प्रति सन्देह और इन सबसे भी बढ़कर सीमा-विवाद से दो-चार होना पड़ा। नेहरू काल में ही दोनों प्रमुख पड़ोसियों के साथ सैन्य-संघर्ष हो चुके थे। पाकिस्तान के साथ सैनिक-संघर्ष के मूल में कश्मीर का प्रश्न था और यह प्रश्न आज तक भारत-पाकिस्तान सम्बन्धों में विवादित प्रश्न बना हुआ है। कश्मीर की समस्या सुलाप माइकेल के शब्दों

में "अनिवार्यतः भूमि या पानी की समस्या नहीं है, यह लोगों और प्रतिष्ठा की समस्या है।" यह समस्या भारत विभाजन के समय देशी रियासतों के बारे में स्पष्ट नीति तय न किए जाने के परिणामस्वरूप जन्म हुआ। ब्रिटिश सरकार ने देशी रियासतों को यह अधिकार दिया कि वे स्वेच्छा से किसी भी राज्य में अपना विलय कर सकती है। अधिकांश रियासतों के बारे में कोई विवाद नहीं हुआ, क्योंकि वे भारत अथवा पाकिस्तान में शामिल हो गए। हैदराबाद और जूनागढ़ की रियासतों की समस्याओं का कुछ समाधान शीघ्र ही हो गया परन्तु कश्मीर की रियासत भारत-पाक सीमा पर स्थित होने के कारण तथा इसकी जनसंख्या के बड़े भाग के मुस्लिम धर्मी होने और इसके शासक के हिन्दू राजा होने के कारण यह एक विशेष स्थिति की रियासत बन गई। आजादी के समय कश्मीर के राजा ने इसके विलय के बारे में तत्काल कोई निर्णय नहीं लिया। पाकिस्तान की इच्छा कश्मीर को अपने में विलय कराने की थी। अक्टूबर, 1947 में उत्तर-पश्चिम के कबाईलियों ने पाकिस्तानियों की मदद से कश्मीर पर आक्रमण किया। पाकिस्तान सरकार ने अपनी सीमा पर सेना का जमाव कर दिया। आक्रमण के चार दिन बाद 26 अक्टूबर को कश्मीर के शासक ने भारत सरकार से सैनिक सहायता की माँग की। इस मांग के साथ ही कश्मीर को भारत में विलय करने की प्रार्थना भी की। 27 अक्टूबर को भारत सरकार ने इस प्रस्ताव को स्वीकार करते हुए अपनी सेनाएँ कश्मीर में भेज दी और युद्ध की समाप्ति पर जनमत संग्रह की शर्त्त के साथ कश्मीर को भारत का अंग मान लिया था। पर कश्मीर एक युद्ध क्षेत्र बन चुका था। पाकिस्तान की सरकार आक्रमणकारियों को हर सम्भव सहायता दे रही थी। तथा भारत की किसी भी निवेदन को सुनने से इंकार कर दिया। 1 जनवरी, 1948 को भारत सरकार ने संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद में यह शिकायत दर्ज कराई कि पाकिस्तानी सहायता से कबाईलियों ने भारत के एक भाग कश्मीर पर आक्रमण कर दिया। और इससे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को खतरा पैदा हो गया है। इसके प्रत्यारोपण में पाकिस्तान ने तर्क दिया कि कश्मीर का भारत में विलय अवैधानिक है। सुरक्षा परिषद ने इस समस्या का समाधान करने के लिए पाँच राष्ट्रों के एक आयोग का गठन कर दिया। इस आयोग में चेकोस्लोवाकिया, अर्जेन्टाइना, अमेरिका, कोलम्बिया तथा बेल्जियम शामिल थे। आयोग ने तत्काल अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया और 13 अगस्त, 1948 को भारत तथा पाकिस्तान से युद्ध समाप्त करने और समझौता करने के लिए, निम्नलिखित आधार प्रस्तुत किए–

1. पाकिस्तान, कश्मीर से अपनी सेना हटाने तथा कबाईलियों और सामान्य रूप से कश्मीर में न रहने वाले विदेशियों को वहाँ से हटाने का प्रयास करें।
2. सेनाओं द्वारा खाली किए गए प्रदेश का शासन स्थानीय अधिकारी आयोग के निरीक्षण में करेंगे।
3. जब आयोग भारत को उपरोक्त शर्तें पूरा करने की सूचना दे, तो भारत समझौते के अनुसार अपनी सेनाओं का अधिकांश भाग वहाँ से हटा लें।
4. अन्तिम समझौता होने तक भारत सरकार युद्ध विराम क्षेत्र के अन्दर उतनी ही सेनाएँ रखें, जितनी की इस प्रदेश में कानून और व्यवस्था बनाए रखने के कार्य में स्थानीय अधिकारियों को सहायता देने के लिए आवश्यक हों।

उपरोक्त सिद्धान्त के आधार पर एक लम्बी वार्त्ता के बाद भारत तथा पाकिस्तान युद्ध विराम के लिए सहमत हो गए। कश्मीर के विलय का अन्तिम फैसला जनमत संग्रह के माध्यम से किया जाना था। जनमत संग्रह की शर्तों को पूरा करने की Admiral Chester Nimith जो कि अमेरिकी नागरिक थे, प्रशासक नियुक्त किए गए। उन्होंने इस प्रश्न पर दोनों पक्षों से विचार-विमर्श किया, पर कोई परिणाम न निकलता देख, उन्होंने त्याग-पत्र दे दिया।

युद्ध-विराम रेखा तय हो जाने तक पाकिस्तान के पास कश्मीर का 3200 वर्ग मील क्षेत्र

रह गया, जहाँ सात लाख की आबादी थी और इस क्षेत्र को पाकिस्तान ने आजाद कश्मीर का नाम दिया। युद्ध-विराम के बाद भारत के पास कश्मीर का 5300 वर्गमील क्षेत्र बचा, जिसकी उस समय 33 लाख की आबादी थी। नेहरू जनमत संग्रह के लिए तैयार थे, संयुक्त राष्ट्र ने यह शर्त निर्धारित की जनमत संग्रह तभी होगा जब पाकिस्तानी सेना तथा कबाईली पूर्णतः कश्मीर से हट जाँए, पाकिस्तान इसके लिए तैयार नहीं हुआ। पाकिस्तान ने अमेरिका से 1954 में एक सैनिक सन्धि की और 1955 में पाकिस्तान सैन्टों का सदस्य बन गया। पाकिस्तान ने अपने कुछ अड्डे अमेरिका को दे दिए। पाकिस्तान के इस रवैये को उसके द्वारा अपनी सैन्य शक्ति बढ़ाने की नीति के रूप में देखते हुए नेहरू ने अपनी कश्मीर नीति में परिवर्तन कर दिया। नेहरू ने अब यह तय किया कि कश्मीर में जनमत संग्रह कराना सम्भव नहीं। एक समय भारत को कश्मीर के प्रश्न पर सोवियत संघ का समर्थन भी प्राप्त हो गया। यहाँ पर यह बात भी याद की जानी चाहिए कि 1950 में नेहरू ने पाकिस्तान से एक युद्ध-वर्जन सन्धि (No War Pact) करने का प्रस्ताव किया था, जिसे वे अस्वीकार कर दिया। 6 फरवरी, 1954 को कश्मीर की संविधान सभा ने जम्मू एवं कश्मीर राज्य का भारत में विलय होने की पुष्टि कर दी। 14 मई, 1954 को भारत के संविधान में संशोधन पर अनु0 370 के अन्तर्गत कश्मीर को एक विशेष दर्जा दिया गया। 26 जनवरी, 1959 को जम्मू तथा कश्मीर का संविधान लागू हुआ और यह भारतीय संघ का एक अभिन्न अंग बन गया।

गौरतलब है कि पाकिस्तान कश्मीर के प्रश्न को बार-बार विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय मंचों से उठाता रहा। 1957 में सुरक्षा परिषद में पाकिस्तान के द्वारा इस प्रश्न के उठाए जाने पर ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका ने कश्मीर में संयुक्त राष्ट्र के तत्त्वावधान में जनमत संग्रह कराने तथा संयुक्त राष्ट्र आपात सेनाओं को भेजने का प्रस्ताव किया। भारत ने इसका विरोध किया, सोवियत संघ ने भारत के समर्थन में सुरक्षा परिषद में विशेषाधिकार का प्रयोग किया। पाकिस्तान द्वारा गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का सदस्य बन जाने पर इससे शिखर सम्मेलनों में क्रमशः 1983, 1992 में इस प्रश्न को उठाया। इसके अलावा अन्य मंचों पर भी पाकिस्तान अपनी इस माँग को दुहराता रहा है।

चीन के साथ भारत के सम्बन्ध इस काल में 'हिन्दी-चीनी भाई-भाई' की भावना से प्रारम्भ होकर 1962 के सैनिक-संघर्ष हो कर समाप्त हुआ। और कहीं न कहीं नेहरू के चीन नीति पर एक प्रश्नचिन्ह खड़ा कर देता है। एक ओर भारत संयुक्त राष्ट्र में चीन की सदस्यता, अफ्रो-एशियाई एकता के मंच पर चीन की सहभागिता और सशक्त पड़ोसी के रूप में चीन से मित्रवत सम्बन्ध बनाए रखने की आकांक्षा रखता था तो दूसरी ओर चीन की आक्रमणकारी नीति तथा उसकी महत्त्वाकांक्षाओं को पढ़ पाने में असफल रहा और परिणाम यह युद्ध के रूप में। इस युद्ध से जन्मे भारत-चीन तनावपूर्ण सम्बन्धों की एक लम्बी अवधि भारत की विदेश नीति के कार्यान्वयन में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। अन्य पड़ोसियों में नेपाल तथा श्रीलंका के साथ भारत के सम्बन्ध इस दौर में सामान्य ही रहे। भारत एक अच्छे पड़ोसी की भूमिकाओं के निर्वहन तथा अपने मूल निवासियों के हितों के संरक्षण (श्रीलंका के मामले में) तथा छोटे राज्यों के स्वतन्त्रता के प्रति चिन्ता जताता हुआ उनकी आन्तरिक व्यवस्थाओं के प्रबन्धन के प्रति अपना कर्त्तव्य निर्वाह करता रहा। यद्यपि बाद के वर्षों में यही भूमिकाऐं प्रायः भारत के लिए एक सरदर्द का कारण भी बना।

इस काल में कोरिया से लेकर दक्षिण पूर्व-एशिया, मध्य-एशिया तथा क्यूबा के मिशाइली संकट; महाशक्तियों की शीतयुद्ध कालीन रणनीतियाँ, शस्त्रीकरण की दौड़; विशेष कर परमाणु अस्त्रों के प्रसार; के परिणामस्वरूप निःशस्त्रीकरण की अनिवार्यता तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में संयुक्त राष्ट्र की भूमिका के प्रश्नों पर भारत की विदेश नीति अपने मूल-भूत सिद्धान्तों से बिना विचलित हुए एक रचनात्मक भूमिका निर्वहन करने की बनी रही। गुटनिरपेक्षता अब तक एक आन्दोलन का रूप ले चुकी थी। साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद अपनी समाप्ति के पथ पर तेजी से अग्रसर हो रहा था। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अधिक जटिल होती जा रही थी। शीतयद्ध के चलते हुए

भी महाशक्तियों को यह अहसास होने लगा था कि क्योंकि इसे जीता नहीं जा सकता इसलिए तनाव में शिथिलता आवश्यक है। नेहरू अपनी अन्तर्राष्ट्रीय छवि से ही ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर अपनी तथा भारत की नीति को स्पष्ट करने में सक्षम थे। गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के कर्णधार के रूप में भारत तथा नेहरू के आवाज अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपना एक स्थान अवश्य रखती थी।

17.7 भारत की विदेश नीति का द्वितीय काल खंड

नेहरू की मृत्यु के बाद भारत को पाकिस्तान से एक बार फिर 1965 में युद्ध का सामना करना पड़ा। नेहरू के उत्तराधिकारी लाल बहादुर शास्त्री ने इस युद्ध में अत्यन्त दूरदर्शिता का परिचय देते हुए तथा नेहरू की नीति का ही अनुगमन करते हुए विदेश नीति को नेतृत्व प्रदान किए। ताशकंद समझौता उनके युग की तथा उनके जीवन की महत्त्वपूर्ण और अन्तिम घटना थी। शास्त्री के बाद भारत में राजनीतिक नेतृत्व की बागडोर इंदिरा गाँधी के पास आ गईं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक घटना चक्र भी तेजी से बदलने लगा। इस दौर को हम भारत के विदेश नीति के दूसरे काल के रूप में विवेचित करेंगे।

भारत की विदेश नीति का यह चरण मूलतः इन्दिरा गाँधी का युग है। इन्दिरा गाँधी इस युग में न सिर्फ भारत के प्रधानमन्त्री रहीं बल्कि भारत की सम्पूर्ण राजनीति इन्दिरा गाँधी के चारों ओर केन्द्रित रहीं। प्रधानमन्त्री के रूप में इन्दिरा गाँधी के दो कार्यकाल रहे, जिसमें पहला 1966 से 1977 तक तथा दूसरा 1980 से अक्टूबर 1984 में उनकी मृत्यु तक। बीच का अन्तराल, भारत में पहली बार केन्द्र में गैर-कांग्रेस शासित सरकार का रहा। और यह बात अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है कि विरोधी दलों के कांग्रेस को सत्ताच्युत करने के सारे प्रयास असफल रहे और इन्दिरा गाँधी का एक निर्णय जो 1975 में देश में राष्ट्रीय आपातकाल को लागू करने का था, वहीं कांग्रेस को आपातकाल की समाप्ति पर अपदस्थ करने में एक कारण बना। 1977 में कांग्रेस की संसदीय चुनाव में पराजय गैर-कांग्रेसी दलों की एकता से केन्द्र में जनता सरकार को स्थापित करने में सफल तो अवश्य हुई पर गैर-कांग्रेसी दल एक जुट नहीं कर पाए। और 1980 के मध्यावधि चुनाव में कांग्रेस तथा इन्दिरा की सरकार की वापसी हुई। इन्दिरा गाँधी ने अपने पिता नेहरू की तरह विदेश मंत्रालय को तो अपने पास नहीं रखा, पर विदेश नीति के निर्माण तथा क्रियान्वयन में उनकी भूमिका महत्त्वपूर्ण रहीं। विश्लेषकों ने इन्दिरा गाँधी की विदेश नीति को एक यथार्थवादी विदेश नीति के रूप में दर्शाया है। गुट निरपेक्ष नीति के सिद्धान्त को उन्होंने देशकाल तथा परिस्थिति के अनुसार नये सन्दर्भ प्रदान किये। इन्दिरा गाँधी को यह अनुभव हो चला था कि भारतीय उप-महाद्वीपों में अमेरिका विस्तारवाद/प्रसारवाद तथा साम्यवादी विस्तार के बीच एक सन्तुलन को स्थापित करना आवश्यक है। कभी-कभी ऐसा भी प्रतीत होता है कि इन्दिरा गाँधी कौटिल्य के विदेश नीति के छह गुणों सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय द्वैधीभाव की बारी-बारी से अजमाने का प्रयास करती रहीं। इस काल में देश की सुरक्षा के प्रति वे अत्यधिक सचेष्ट रहीं तथा सुरक्षा की बुनियादी जरूरत सैन्य आधुनिकीकरण पर विशेष ध्यान दिया गया। परमाणु अप्रसार सन्धि (NNPT) पर भारत ने हस्ताक्षर नहीं किए और तमाम दबावों की अनदेखी करते हुए पोखरन में परमाणु परीक्षण भी कर लिया। विश्व राजनीति के प्रमुख केन्द्र दक्षिण-पूर्वी एशिया, अरब-इजराइल, तथा हिन्द-महासागर इस काल में बहुत संवेदनशील बने रहे। और भारत अपनी विदेश नीति के क्रियान्वयन में इन सारे प्रश्नों पर भारत के राष्ट्रीय हितों को सुरक्षित करने में हर सम्भव प्रयास करता रहा। अपने पड़ोसियों अफगानिस्तान, नेपाल, म्यॉनमार (बर्मा) तथा श्रीलंका के साथ द्विपक्षीय वार्ताओं के माध्यम से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाने में भारत सफल रहा।

भारतीय उपमहाद्वीप में इस दौर में एक नये राज्य (बांग्ला देश) का उदय इस युग की एक बड़ी घटना थीं। गौरतलब है कि पाकिस्तान के साथ सम्बन्ध सुधार के भारतीय प्रयासों को पाकिस्तान के द्वारा सराहा नहीं गया। इससे बिल्कुल विपरीत 1969 के बाद अमेरिका तथा चीन के मध्य सम्बन्ध सुधार की प्रक्रिया के रहते पाकिस्तान को यह एहसास होने लगा कि भारत से किसी युद्ध की परिस्थिति में उसे इन देशों का समर्थन हासिल होगा। 1970 के बाद पाकिस्तान के आन्तरिक कलह भारत के लिए नई चुनौतियाँ पेश करने लगीं। तत्कालीन पूर्वी-पाकिस्तान में प्रजातान्त्रिक असन्तोष को पाकिस्तान ने सैनिक शान्ति से दबाने का प्रयास किया और एक गृह-युद्ध की स्थिति बन गई। पूर्वी-पाकिस्तान से बड़ी संख्या में शरणार्थी भारत आने लगे, जिससे भारत-सरकार पर आर्थिक बोझ बढ़ने लगा। भारत द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर यह प्रयास किया गया कि पाकिस्तान पर अन्तर्राष्ट्रीय दबाव बनाया जाए, परन्तु ऐसा नहीं हो पाया। पूर्वी-पाकिस्तान में अवामी लीग के नेतृत्व में मुक्तिवाहिनी सेना का गठन हो चुका था और एक स्वतन्त्र बंग्ला देश की घोषणा कर दी गई थी। 3 दिसम्बर, 1971 को पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण कर दिया। पाकिस्तान का यह आरोप था कि पूर्वी-पाकिस्तान में मुक्तिवाहिनी को भारत का सैन्य समर्थन प्राप्त है। 6 दिसम्बर, 1971 को भारत ने बंग्ला देश को मान्यता दे दी और दोनों ही मोर्चों क्रमशः पूर्वी तथा पश्चिमी पर युद्ध जारी रहा। 16 दिसम्बर को युद्ध विराम की घोषणा हुई तथा पाकिस्तानी सेना ने बंगलादेश में मुक्तिवाहिनी तथा भारतीय सेना के समक्ष समर्पण कर दिया। यहाँ पर यह उल्लेख करना भी आवश्यक है कि **अमेरिका,चीन,पाकिस्तान** ध्रुवीकरण का प्रतिवाद करने के लिए भारत ने सोवियत संघ के साथ 9 अगस्त 1971 को एक बीस वर्षीय मित्रता सन्धि कर ली थी। यद्यपि इस सन्धि को अमेरिका द्वारा यह कहकर दुष्प्रचारित किया गया कि इससे भारत ने अपनी गुट-निरपेक्षता की नीति का त्याग कर दिया है। भारत यह मानता है कि वह ऐसी ही सन्धि अमेरिका सहित किसी भी अन्य राष्ट्र से कर सकता है। इस बहस पर चर्चा न करते हुए यहाँ पर यह जानना जरूरी है कि 1971 के युद्ध में भारत ने एक निर्णायक विजय हासिल की। बांग्लादेश का उपमहाद्वीप में एक स्वतन्त्र, सम्प्रभु-राष्ट्र के रूप में अभ्युदय हुआ और भारत की पहचान दक्षिण एशिया में एक बड़ी शक्ति के रूप में स्थापित हुई, साथ ही भारत की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा में भी वृद्धि हुई। युद्ध के बाद 1972 में शिमला समझौतों में भारत ने पाकिस्तान को उसके पश्चिमी क्षेत्र में विजित क्षेत्रों को ही नहीं लौटाया बल्कि उन सैनिकों के वापसी का भी आश्वासन कर दिया जिन्होंने मुक्तिवाहिनी तथा भारतीय सेना के द्वारा भारत की कूटनीतिक पराजय के रूप में दर्शाया जाता है, पर यह भारत-पाक सम्बन्धों में एक महत्त्वपूर्ण मील का पत्थर है। भारत ने इस समझौते द्वारा एक बार फिर विश्व को यह जताने का प्रयास किया कि उसकी नीति विस्तारवादी या आक्रमणकारी नहीं है।

इसी युग में चीन के साथ सम्बन्ध सुधार की पहल 1976 में दौत्य सम्बन्धों के पुनः प्रारम्भ करने से हुई। भले ही इस युग में चीन के साथ सम्बन्ध-सुधार के विषय में कोई विशेष घटना नहीं घटी, न ही किसी रूप में सम्बन्धों में प्रगाढ़ता आई, पर कोई संघर्ष भी नहीं हुआ। हिन्द महासागर में महाशक्तियों की बढ़ती हुई प्रतिस्पर्द्धा को रोकने की पहल भारत विशेषकर गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के मंच से चलाता रहा। भारत की माँग 'हिन्द महासागर' को एक ओर महाशक्तियों की प्रतिस्पर्द्धा से बचाया जाए, तो दूसरी ओर इस क्षेत्र को विदेशी सैनिक अड्डों तथा परमाणु अस्त्रों से अछूता रखा जाए, संयुक्त राष्ट्र महासभा में सभी देशों का समर्थन प्राप्त करने में सफल रहीं। इस युग में भारत ने पश्चिमी एशिया तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया के राष्ट्रों के साथ मैत्री तथा सहयोग का हाथ बढ़ाया। भारत ने आशियान (ASEAN) का स्वागत किया, हिन्द-चीन में समस्या के समाधान के लिए गैर-सैनिक साधनों को अपनाने की वकालत की, अरब-इजराइल संघर्ष में अरब राष्ट्रों के पक्ष का समर्पण किया तथा मध्य-पूर्व के कुछ राष्ट्रों के साथ आर्थिक

सहयोगों को घनिष्ठ बनाया। अफ्रीका में भारत जाति भेद और औपनिवेशवादी नीतियों का सदैव विरोध करता रहा। इसलिए अफ्रीकी राष्ट्रों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने में कामयाब रहीं। कई अफ्रीकी देशों के साथ भारत ने आर्थिक, व्यापारिक तथा तकनीकी समझौते भी किये। गुट-निरपेक्ष आन्दोलन इस दौर में कहीं अधिक व्यापक भी हुआ और इस आन्दोलन द्वारा बहुत से प्रश्नों को विश्व-जनमत के समक्ष प्रस्तुत किया गया, एक नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था (NIEO) की मांग संयुक्त राष्ट्र महासभा के प्रस्ताव (1 मई 1974 को) पारित हुई। इसी युग में सोवियत संघ के अतिरिक्त अन्य पूर्वी यूरोपीय राज्यों के साथ भारत के सम्बन्ध विशेषकर आर्थिक क्षेत्र में मजबूत हुए। प्रायः ऐसा माना जाता है कि इस युग में भारत की विदेश नीति में एक सोवियत संघ के प्रति झुकाव परिलक्षित होता है। और अमेरिका से एक दूरी दिखाई पड़ती है। कुल मिलाकर इस युग में भारत की विदेश नीति में आदर्शवाद के साथ यथार्थवाद का एक सुन्दर समन्वय पाया जाता है।

17.8 तृतीय कालखंड (1977-84)

1977 में आपातकाल की समाप्ति के बाद हुए लोकसभा चुनाव में कांग्रेस की पराजय हुई। यह जनादेश कांग्रेस सरकार की आपातकाल के दौरान की गई ज्यादतियों के विरुद्ध था। चुनाव पूर्व सभी विपक्षी दलों में इन्दिरा गाँधी की तानाशाही प्रवृत्तियों के विरुद्ध एकजुट होकर चुनाव लड़ने हेतु सहमति हुई तथा उन्होंने इस चुनाव को लोकतन्त्र बनाम तानाशाही का नारा देते हुए चुनाव में विजय हासिल की। चुनाव के बाद जनता पार्टी के रूप में एकजुट विरोधी दलों की सरकार मोरारजी देसाई के नेतृत्व में बनी। जैसा कि विदित है मोरारजी देशाई प्रारम्भ से ही एक कांग्रेसी थे और पूर्ववर्ती कांग्रेसी सरकारों में वरिष्ठ की हैसियत से कार्य कर चुके थे। इस मन्त्रिमंडल में विदेश मन्त्री के रूप में अटल बिहारी वाजपेयी नियुक्त किए गए। ऐसा लगने लगा कि विदेश नीति में एक दक्षिण पंथी झुकाव के चलते पूर्ववर्ती सोवियत संघ की ओर रुझान के स्थान पर एक अमेरिकी रुझान परिलक्षित होगा। इस सरकार के घोषणा की वह नेहरू की विदेश नीति का ही अनुशरण करेगी। गुट-निरपेक्षता को असली गुटनिरपेक्षता (Genuine Non-alignment) के रूप में अपनाने की बात कही। यद्यपि इसकी कोई परिभाषा नहीं दी गई। मोरारजी देसाई का कहना था कि इन्दिरा युग में विदेश नीति के एकतरफा झुकाव को दूर करना, असली गुटनिरपेक्षता है। बाजपेयी ने कहा कि भारत को न सिर्फ गुटनिरपेक्ष रहना चाहिए बल्कि वैसा दिखाई भी पड़ना चाहिए। उन्होंने असंलग्नता को सर्व-संलग्नता के रूप में देखने की भी बात कही। इस सबके बावजूद महाशक्तियों के साथ भारत के सम्बन्धों में इस काल में एक समान दूरी भी बनी। चीन के साथ सम्बन्ध सुधार की पहल को आगे बढ़ाते हुए, बाजपेयी चीन के यात्रा पर गए पर चीन के वियतनाम में आक्रमण के प्रति रोष व्यक्त करते हुए वे अपनी यात्रा बीच में ही छोड़कर वापस चले आए। पड़ोसी देशों के साथ सम्बन्धों के संचालन एक खुलेपन का रूप इस दौरान देखने को मिला। नेपाल के साथ सन्धियाँ की गईं। बंगलादेश के साथ फरक्का विवाद को सुलझाया गया तथा बाजपेयी ने पाकिस्तान की यात्रा की। जनता शासन के दौरान अमेरिकी राष्ट्रपति कार्टर ने भारत यात्रा की। कुल मिलाकर अपने संक्षिप्त काल में जनता सरकार के दौरान भारत की विदेश नीति में एक निरन्तरता ही दिखाई पड़ता है।

1980 में लोकसभा के मध्यावधि चुनाव में कांग्रेस की विजय हुई और इन्दिरा गाँधी पुनः प्रधानमन्त्री बनीं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति इस समय एक नये दौर में प्रवेश कर चुकी थी। अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप के कारण एक नई शीतयुद्ध का माहौल जन्म ले चुकी थी। अफगानिस्तान के संकट ने भारत के लिए एक नया संकट पैदा कर दिया था क्योंकि अमेरिका द्वारा पाकिस्तान में सैनिक अड्डों की स्थापना तथा भारी मात्रा में सैनिक सामग्री के पहुँचाने से भारत को सुरक्षा के लिए चिन्ता स्वाभाविक थी।

एक ओर अमेरिका प्रयास कर रहा था कि सोवियत हस्तक्षेप का सार्वभौम विरोध किया जाए, पर भारत ने ऐसा विरोध करने में बहुत संयम दिखाया। भारत यह मानता रहा कि सोवियत सेनाओं का प्रवेश अफगान सरकार के आग्रह पर हुआ और ऐसे ही आग्रह पर सोवियत संघ अपने सैनिक वापस कर लिए। भारत का मानना था कि वह सोवियत संघ द्वारा दी गई, ऐसे आश्वासनों पर विश्वास करती है और यह भी आशा करता है कि अफगानिस्तान की स्वतन्त्रता पर कोई उल्लंघन नहीं हुआ।

1982 में रोनाल्ड रीगन के निमन्त्रण पर इन्दिरा गाँधी ने 9 दिन की अमेरिकी यात्रा की। इससे पूर्व केनकून में इन्दिरा गाँधी और रोनाल्ड रीगन की मुलाकात हो चुकी थी। इस यात्रा का एक सकारात्मक पक्ष यह रहा कि दोनों नेताओं ने एक दूसरे को समझने तथा आपसी गलतफहमियों को दूर करने का अवसर प्राप्त किया। तारापुर तथा विश्व-मुद्रा कोष के मामलों पर अमेरिकी विरोध समाप्त करने में भारत को सफलता मिली। इसी वर्ष फ्रांस के राष्ट्रपति मित्तराँ ने भारत की यात्रा की और आपसी सहयोग के विस्तार तथा तारापुर परमाणु बिजलीघर को यूरेनियम आपूर्ति की मंजूरी दी। 1982 में ही सांस्कृतिक कूटनीति की एक नई शुरुआत करते हुए लन्दन में भारत उत्सव शुरू किया गया। यह उत्सव 8 महीने चला। इस दौरान इन्दिरा गाँधी ब्रिटेन की यात्रा पर गईं। इस उत्सव की समाप्ति पर ब्रिटिश प्रधानमन्त्री थेचर ने यह माना कि इस कार्यक्रम से भारत तथा ब्रिटेन अधिक नजदीक आए। चीन के साथ भी आपसी सम्बन्धों के सुधार हेतु विभिन्न स्तरों पर वार्ताएँ प्रारम्भ की गईं। चीन के विदेश मन्त्री ने भारत यात्रा की, भारत से एक उच्चस्तरीय प्रतिनिधि मंडल चीन की यात्रा पर गया तथा स्वयं इन्दिरा गाँधी ने Salesbery (सेलेसवेरी) तथा बेलग्रेड में चीनी नेताओं के साथ आपसी हितों के मामले में चर्चा की। इस दौर में दो महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय घटनाएँ क्रमशः एशियाई देशों का आयोजन (नवम्बर 1982) तथा गुट-निरपेक्ष सातवां शिखर सम्मेलन मार्च 1983 (नई दिल्ली) रही। गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलन 1982 में बगदाद में प्रस्तावित था परन्तु ईरान-इराक युद्ध के चलते यह सम्भव नहीं हो पाया। भारत का सर्वसम्मति से इसे आयोजित करने का चयन, गुट-निरपेक्ष आन्दोलन में भारत के विशिष्ट स्थान का परिचय देता है। यह बात भी महत्त्वपूर्ण है कि इससे पूर्व हवाना सम्मेलन में फिदेल कास्त्रो के भाषण में सोवियत संघ को आन्दोलन का स्वाभाविक मित्र बताए जाने पर तीखी प्रतिक्रियाएँ हुई थीं और आन्दोलन विभाजन के कगार पर पहुँच चुका था। नई दिल्ली सम्मेलन ऐसे सभी विवादों से परे रहा। पर इतना जरूर है कि इस सम्मेलन में राजनैतिक विषयों पर बहुत कटु बहसें हुईं तथा अमेरिका की तीव्र आलोचनाएँ हुईं। ईरान-इराक युद्ध पर पूरे दिन की चर्चा के बावजूद, सिर्फ अन्तिम घोषणा-पत्र में इन राष्ट्रों से युद्ध समाप्त करने की अपील मात्र की गई। इस सम्मेलन की सबसे बड़ी उपलब्धि हवाना में पैदा हुए असन्तुलन को समाप्त कर इसे वस्तुतः निरपेक्ष बनाए जाने की रही।

17.9 चतुर्थ कालखंड 1985 वर्तमान

1984 में श्रीमती इन्दिरा गाँधी की हत्या ने विदेश नीति में इन्दिरा युग का अवसान कर दिया। इन्दिरा गाँधी की विदेश नीति के दूसरे चरण में यथार्थवाद तथा आदर्शवादी महत्त्वाकांक्षाओं का सम्मिश्रण देखने को मिलता है। राजीव गाँधी की जिन परिस्थितियों में प्रधानमन्त्री का पद प्राप्त हुआ, वे उनके प्रति देश तथा विदेश में अपार सहानुभूति से मुक्त रहीं। राजीव गाँधी के कार्य-काल में भारतीय विदेश नीति के केन्द्र क्रमशः निःशस्त्रीकरण, उपनिवेशवाद की समाप्ति, शान्ति की कूटनीति तथा विकास रहीं। जनवरी, 1985 में छह देशों के निःशस्त्रीकरण शिखर सम्मेलन का नई दिल्ली में आयोजन हुआ। ये देश भारत के अतिरिक्त अर्जेन्टाइना, स्वीडन, यूनान, मैक्सिको तथा तनजानिया है। सम्मेलन द्वारा परमाणु अस्त्रों को सदा के लिए समाप्त करने की सिफारिश की गई। राजीव गाँधी ने इसी वर्ष अमरीकी कांग्रेस के समक्ष अपने भाषण में एक युद्ध-मुक्त अन्तरिक्ष

को बनाए जाने की बात पर जोर दिया। साथ ही यह भी कहा था कि भारत परमाणु बम बनाने की क्षमता को रखने के बावजूद अपने सिद्धान्तों के अनुकूल परमाणु बम नहीं बना रहा है। संयुक्त राष्ट्र महासभा में इसी वर्ष अपने अभिभाषण में राजीव गाँधी द्वारा क्रमशः सैनिक प्रतिस्पर्द्धा, विकासशील देशों में बढ़ते हुए आर्थिक संकट, दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद तथा नामिबिया की स्वतन्त्रता पर जोर दिया गया। दक्षिण-अफ्रीका से रंगभेद को उखाड़ फेंकने के लिए एक जोरदार अभियान चलाए जाने की बात राजीव गाँधी ने 1985 में राष्ट्र मंडल शिखर सम्मेलन में भी उठायी। इसी वर्ष नई दिल्ली में गुट-निरपेक्ष युवा सम्मेलन सम्पन्न हुआ। राजीव गाँधी के कार्यकाल में सार्क अस्तित्व में आया। स्पष्ट है कि इस उपमहाद्वीप में भारत के रवैये को लेकर दूसरे देशों में एक नये विश्वास का जन्म हुआ। राजीव काल के विदेश नीति पड़ोसी देशों के साथ समानता, विनम्रता तथा बिना अहंकार के सम्बन्ध बनाए रखने की रही। राजीव गाँधी 1985 में ढाका गए। यह यात्रा बंगलादेश में आए भीषण तूफान के दौरान की गई और बाद में बंगलादेश के साथ गंगा-नदी के जल बंटवारे को लेकर नसाऊ समझौता सम्पन्न हुआ। राजीव द्वारा कोलम्बो तथा चीन की यात्राएँ भी की गईं। राजीव-जयवर्धन ने समझौता श्रीलंका में चली आ रही तामिल समस्या के समाधान हेतु एक महत्त्वपूर्ण पहल थीं। इसी समझौते के तहत भारत ने श्रीलंका में अपनी शान्ति सेना को सहायता के लिए भेजा। राजीव गाँधी द्वारा 1988 में चीन की यात्रा एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना रहीं। इस यात्रा ने भारत-चीन सम्बन्धों में एक नई पहल को जन्म दिया। राजीव के कार्यकाल में भारत-जापान आर्थिक सम्बन्ध भी मजबूत हुए। सब मिलाकर राजीव गाँधी के कार्यकाल में भारत की विदेश नीति में एक स्पष्ट वादिता देखने को मिलीं।

भारत की विदेश नीति का यह कालखंड अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण घटनाक्रमों तथा भारत की आन्तरिक राजनीति के अन्तर्गत होने वाले महत्त्वपूर्ण घटनाक्रमों से मुक्त रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में साम्यवादी व्यवस्थाओं का पराभव, जर्मनी का एकीकरण, सोवियत संघ का विघटन, शीत-युद्ध की समाप्ति तथा अमेरिकी नेतृत्व की एक-ध्रुवीय व्यवस्था का प्रादुर्भाव और वैश्वीकरण तथा उदारीकरण इस काल की महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय घटनाएँ हैं। इन घटनाओं का क्रम कुछ वर्षों बाद सितम्बर 11, 2001 की घटना जिसके परिणामस्वरूप अमेरिकी नेतृत्व में अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद से संघर्ष की एक नई मुहिम का प्रारम्भ हुआ। इसी क्रम में इराक पर अमेरिकी आक्रमण भी एक ऐसी घटना है, जिसकी ओर पूरे विश्व का ध्यान केन्द्रित हुआ।

भारत की आन्तरिक राजनीति के विविध आयाम भी इस काल में देखे जा सकते हैं। 1989 में कांग्रेस की पराजय के साथ भारत की राजनीति में एक नए युग का प्रारम्भ देखा जा सकता है। 1989 के पश्चात वास्तविक अर्थों में कांग्रेस के एक दलीय प्रभुत्व की भी समाप्ति को देखा जा सकता है। राजनैतिक अस्थायित्व के इस दौर में भले ही कुछ सरकारें अपने कार्य-कालों को पूरा जरूर कर पायी हैं, पर उनकी बहुत बड़ी शक्ति अपनी सरकारों को बचाए रखने में ही प्रयोग होती रहीं। विश्व परिदृश्य में घटित होने वाली घटनाक्रमों के ऊपर किसी भी देश का कोई वश नहीं। वैश्वीकरण और उदारीकरण नई विश्व-व्यवस्था के नये मंत्र थे। और किसी भी देश के लिए इनकी अनदेखी कर पाना सम्भव नहीं था। उदारीकरण, जो कि बाजारीकरण के अर्थतन्त्र का परिचायक है, के प्रभाव में जहाँ पूर्ववर्ती साम्यवादी राष्ट्र सम्मिलित हो गए, वहीं चीन भी इसी मार्ग पर प्रशस्त हैं। भारत में उदारीकरण की प्रक्रिया 1991 में नरसिम्हा राव की सरकार के आने के साथ ही प्रारम्भ हुई। 1989-91 के मध्य भारत में राजनैतिक अस्थिरता बनीं रही। इस काल में क्रमशः दो सरकारें सत्तारुढ़ हुईं। पहली सरकार जो वी0पी0 सिंह के नेतृत्व में बनीं वह भाजपा तथा साम्यवादी दलों के समर्थन पर टिकीं थीं। यह सरकार मात्र 11 महीने चलीं। इस काल में विदेश नीति के क्षेत्र में एक मात्र महत्त्वपूर्ण घटना श्रीलंका से सम्बन्ध सुधार की प्रक्रिया में भारतीय शान्ति सेनाओं की वापसी की रहीं। चन्द्रशेखर की अगले आठ महीनों चलने वाली सरकार के

शासनकाल में प्रथम खाड़ी संकट (1991) एक महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय घटना थीं। चन्द्रशेखर सरकार द्वारा खाड़ी युद्ध के दौरान अमेरिकी विमानों को भारत में ईंधन भरने की सुविधा अत्यधिक चर्चित रहीं। चन्द्रशेखर ने नेपाल से मधुर सम्बन्ध स्थापित करने के उद्देश्य से काठमांडू की यात्रा की।

1991 में श्री पी0वी0 नरसिम्हा राव के नेतृत्व में एक बार पुनः कांग्रेस की सरकार में वापसी हुई पर यह एक अल्पमतीय सरकार थीं। इस सरकार के कार्यकाल में विदेश नीति असमंजस्य की परिस्थिति में प्रारम्भ हुईं। परन्तु नरसिम्हाराव द्वारा अपने लम्बे प्रशासनिक अनुभवों का प्रयोग करते हुए विदेश नीति को एक दिशा देने का प्रयत्न अवश्य किया। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में इस काल में नये परिवर्तन स्पष्ट दिखाई दे रहे थे। वैश्वीकरण का प्रभाव सर्वत्र पड़ने लगा था। उदारीकरण को अपनाना सभी राष्ट्रों की एक विवशता थीं। नरसिम्हा राव के काल में भारत सरकार द्वारा उदारीकरण का प्रारम्भ किया गया। संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ भारत के सम्बन्धों पर नरसिम्हाराव की अमेरिकी राष्ट्रपति बुश से पहली मुलाकात 1991 में सम्पन्न हुई। तथा रक्षा क्षेत्रों में सम्बन्धों के एक नये युग का सूत्रपात हुआ। इनके परिणामस्वरूप भारत-अमेरिका संयुक्त नौसेना अभ्यास किये गये। 1994 में नरसिम्हा राव की अमेरिका की यात्रा के बाद भारत के प्रति अमेरिकी सोच में एक नया बदलाव आया। अमेरिका ने भारत के उदारीकरण के उपायों का स्वागत करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं में ऋण के लिए भारत के अनुरोधों का समर्थन किया। वाणिज्य के क्षेत्र में भारत-अमेरिकी सहयोग, भारत-अमरेकी सम्बन्धों में एक नई नजदीकी इस काल में स्पष्ट देखी जा सकती है। इसका प्रमाण भारत द्वारा इजराइल को राजनैतिक मान्यता तथा उसके साथ राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करने तथा संयुक्त राष्ट्र में भी अमेरिकी समर्थित रूस अख्तियार करने के रूप में देखा जा सकता है। परन्तु भारत द्वारा अमेरिका की इस इच्छा को पूरा करने से इंकार कर दिया गया कि भारत परमाणु अप्रसार सन्धि पर हस्ताक्षर कर दे। इस सम्बन्ध में भारत अपनी पूर्ववर्ती नीति पर अडिग रहा। भारत प्रारम्भ से ही इस सन्धि को असमानता पर आधारित मानता है। कश्मीर में मानव अधिकारों के प्रश्न पर भारत तथा अमेरिका के बीच मतभेद स्पष्ट रूप में उभरा। नरसिम्हा राव ने भारत की विदेश नीति को एक नया आयाम प्रदान किया जब उन्होंने 'पूर्व की ओर देखा' (Looking East Policy) का नारा दिया। रूप के साथ रॉकेट तकनीकी पर किया गया समझौता भी इस काल की महत्त्वपूर्ण घटना थीं।

1996 में देवीगौड़ा की सरकार ने सी0टी0बी0टी0 के मसौदे पर हस्ताक्षर करने से इंकार कर दिया। अमेरिका ने इसे एक चुनौती समझा तथा भारत को आर्थिक प्रतिबन्धों की धमकी तथा विश्व-बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष से असहयोग तक की धमकी दे डाली। अमेरिका तथा उसके सहयोगी यूरोपीय देश यह प्रचार करने में सफल हुए कि भारत परमाणु निःशस्त्रीकरण के कार्य में अड़ंगे लगा रहे हैं। भारत को सी0टी0बी0टी0 पर हस्ताक्षर न करने की कीमत सुरक्षा परिषद के अस्थायी सदस्य के चुनाव में पराजय के रूप में चुकानी पड़ी। अमेरिका की एक चिन्ता भारत के प्रक्षेपास्त्र कार्यक्रम और नौसेना के आधुनिकीकरण को लेकर भी बनी रही। अमेरिका द्वारा पाकिस्तान को भारत के विरोध के बावजूद भी नवीनतम हथियारों की आपूर्ति ने भारत के लिए नई चिन्ताओं को जन्म दी। इसके अलावा विश्व व्यापार संगठन के सम्मेलन (1996) में अमरीका भारत पर अपने पेटेंट अधिनियम (1970) को संशोधित करने के लिए दबाव डालता रहा।

नरसिम्हा राव के कार्यकाल में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के दो शिखर सम्मेलन क्रमशः जकार्ता (1992) तथा कार्टजेना (1995) में सम्पन्न हुई। जकार्ता सम्मेलन गुटनिरपेक्षता की नये अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उभरे समीकरणों के सन्दर्भों में इसकी प्रासंगिकता के प्रश्न के बारे में चर्चित रहा। परन्तु नरसिम्हा राव ने अपने भाषण में यह स्पष्ट किया कि यह आन्दोलन जितना प्रासंगिक द्वि-ध्रुवीय विश्व व्यवस्था के काल में था, उतना ही प्रासंगिक एक ध्रुवीय विश्व अथवा

आर्थिक रूप से बहु-ध्रुवीय विश्व में विकासशील देशों के हितों के रक्षा के लिए है। इसी क्रम में नरसिम्हा राव G-15 की बैठकों में भारत की ओर से इस बात पर बार-बार यह कहते रहे कि विकसित देश अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक मुद्दों का समाधान विकासशील देशों के साथ बातचीत के द्वारा ही निकाल सकते हैं। उन्होंने जहाँ एक ओर उत्तर-दक्षिण वार्ता को जारी रखने की वकालत की, वहीं दक्षिण-दक्षिण सहयोग को परस्पर निर्भरता और सहभागीदारी के दायरे में सुदृढ़ करने की आवश्यकता पर बल दिया। कुल मिलाकर नरसिम्हा राव की सरकार के कार्यकाल में विदेश नीति के क्षेत्र में आर्थिक तथा व्यापारिक हितों के संरक्षण को विशेष बल दिया गया। अपने पड़ोसी राष्ट्रों के साथ शान्ति-सहयोग तथा मैत्री के सम्बन्ध विकसित करने की दिशा में विशेष प्रयास किए गए। चीन के साथ वास्तविक नियन्त्रण रेखा पर शान्ति बनाए रखने का समझौता हुआ। बंगलादेश के साथ तीन बीघा गलियारे की समस्या को सुलझाई गयी। श्रीलंका के साथ 36000 शरणार्थी वापस भेजे गए। मालद्वीप, नेपाल तथा भूटान के साथ सम्बन्धों में मधुरता आईं, परन्तु पाकिस्तान के साथ सम्बन्धों में कोई नई पहल नही हुई।

1997 में गुजराल भारत के प्रधानमन्त्री बनें जो पूर्व में एक राजनयिक तथा भारत के विदेश मन्त्री के रूप में कार्य कर चुके थे। अपने संक्षिप्त कार्यकाल में गुजराल विदेश नीति के क्षेत्र में "गुजराल सिद्धान्त" के नाम से चर्चित एक सैद्धान्तिक योगदान भारत की विदेश नीति को देने में सफल हुए। गुजराल सिद्धान्त पड़ोसी देशों के साथ भारत को एक बड़े भाई के रूप में अपनी भूमिका का निर्वहन को करने का नाम है। गुजराल द्वारा पाकिस्तान के साथ सभी मुद्दों का समाधान करने के लिए संयुक्त कार्य दल गठित करने का निर्णय किया गया। हॉटलाइन की स्थापना की गई। दक्षिण एशिया में आर्थिक समुदाय के गठन का प्रस्ताव किया गया। नेपाल के साथ विद्युत व्यापार समझौता तथा जल संसाधन और नागरिक उड्डयन के क्षेत्र में सहमतियाँ हुईं।

1998 में अटल बिहारी बाजपेयी के नेतृत्व में भाजपा गठबंधन की NDA सरकार सत्तारूढ़ हुईं। इस सरकार ने 11 और 13 मई 1998 को पोखरन में पाँच परमाणु परीक्षण कर भारतीय विदेश नीति में एक नये युग का सूत्र का संकेत दिया। भारत का मानना था कि ऐसे परीक्षण उसकी सुरक्षा आवश्यकता तथा तकनीकी अनिवार्यता के कारण किए गए। निश्चित रूप से यह एक साहसी राजनीतिक निर्णय था तथा ऐसा ही निर्णय इससे पूर्व के प्रधानमन्त्री नहीं ले पाए थे। भारत ने अपने आप को एक परमाणु शक्ति सम्पन्न राष्ट्र घोषित कर दिया। इसके पश्चात एक परमाणु नीति की घोषणा भी की। भारत द्वारा परमाणु परीक्षणों को किए जाने के जवाब में पाकिस्तान ने भी दो ही हफ्तों के भीतर छगाई में परमाणु परीक्षण कर डाले। पाकिस्तान के इस कार्य ने भारत के इस विचार की पुष्टि कर दी कि पाकिस्तान गुप्त रूप से यह कार्यक्रम चला रहा था। भारत द्वारा नाभिकीय परीक्षणों ने उस बहस को भी समाप्त कर दिया, जो कई दशकों से भारत में परमाणु बम बनाने के बारे में चली आ रही है। अमेरिका द्वारा भारत की पहल की आलोचना स्वाभाविक थी। और अमेरिका ने दंडात्मक आर्थिक कार्यवाहियाँ (प्रतिबन्ध) लगाने की पहल की। अमेरिका ने भारत के सरकारी प्रतिष्ठानों, अनुसंधान केन्द्रों, सरकारी उपक्रमों तथा निजी कम्पनियों को एक सूची जारी की जिन पर प्रतिबन्ध लगाये गये। यद्यपि कुछ समय बाद इन्हें आंशिक रूप से उठा दी गईं। सन् 2000 में अमेरिकी राष्ट्रपति बिल क्लिंटन की यात्रा के अवसर पर दोनों देशों ने अपने सम्बन्धों को भविष्य की दशा को लेकर विचारने का संकल्प किया। इसे दृष्टिकोण पत्र 2000 (VISION 2000) के तहत आपसी सम्बन्ध सुधार हेतु आठ सूत्री कार्यक्रम की भी घोषणा की गईं। इनके अन्तर्गत दोनों देशों के शासनाध्यक्षों के मध्य नियमित शिखर बैठक सुरक्षा तथा परमाणु अप्रसार पर चल रही बातचीत को गति प्रदान करने तथा आतंकवाद जैसे मुद्दे शामिल रहे।

प्रधानमन्त्रियों द्वारा इस अवसर पर लाहौर घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर किए। दुर्भाग्य से लाहौर घोषणा की आड़ में पाकिस्तान ने कारगिल क्षेत्र में घुसपैठियों को भेजने की कार्यवाही कर भारत पर अप्रत्यक्ष युद्ध थोप दिया। परिणामस्वरूप कारगिल युद्ध हुआ। इस युद्ध में भारत को पर्याप्त अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीतिक सफलता हासिल हुईं। अमेरिका-रूस तथा चीन द्वारा भारत के पक्ष का समर्थन किया। यही नहीं गुट-निरपेक्ष देशों के विदेश मन्त्रियों के सम्मेलन में भी इस बात पर सहमति हो गई कि पाकिस्तान तथा अन्य फौजी देशों वाले देशों की सदस्यता खत्म कर दी जाए। यह मुद्दा भारत द्वारा ही उठाया गया कि आन्दोलन में उन फौजी देशों के लिए कोई स्थान नहीं है जो प्रजातान्त्रिक सरकारों का तख्ता पलटकर अस्तित्व में आई है। राष्ट्रमंडल द्वारा तो पाकिस्तान को निलम्बित ही कर दिया गया, साथ ही डरबन घोषणा (1999) में पाकिस्तान को चेतावनी दी गई कि यदि वहाँ लोकतन्त्र की बहाली की प्रक्रिया तेज नहीं की जाती तो उसके विरुद्ध और भी कार्यवाहियाँ की जा सकती हैं।

17.10 भारतीय विदेश नीति एवं वैश्वीकरण

नई शताब्दी के आते-आते विश्व-व्यवस्था एक नये स्वरूप को दर्शाने लगी तथा राष्ट्रों के लिए अपनी विदेश नीतियों के संचालन में वैश्विक परिदृश्य में आए बदलावों के अनुरूप समायोजन करना अनिवार्य होने लगा। वैश्वीकरण जिसे प्रायः नई तकनीकी की उत्पत्ति माना जाता है, राष्ट्रों को एक दूसरे के नजदीक लाने तथा क्षेत्रीय सम्प्रभुता पर आधारित राष्ट्रीय राज्य के अस्तित्व पर एक प्रश्न चिन्ह लगने लगा। परन्तु यह एक सैद्धान्तिक बहस हैं क्योंकि वैश्वीकरण की आवश्यकताएँ राज्यों से ही अपेक्षित हैं। इसका आशय यह है कि वैश्वीकरण के युग में एक ओर राज्यों से आर्थिक उदारीकरण के मार्ग अपनाने की आशा की जाती है तो दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय संगठन जैसे कि विश्व-व्यापार संगठन राज्यों का ही संगठन बना रहता है, न ही बहु-राष्ट्रीय कम्पनियों या परा-राष्ट्रीय निगमों का। इसीलिए राष्ट्रीय राज्य प्रासंगिक ही बना रहता है। राष्ट्रों की आर्थिक चुनौतियाँ, राष्ट्र-राष्ट्रों के बीच अनसुलझे राजनीतिक विवादों के प्रश्नों को लेकर नई चुनौतियों को जन्म देती हैं। पिछली शताब्दी के अन्तिम दो दशकों से विश्व के समक्ष उत्पन्न चुनौतियों में आतंकवाद एक नई एवं सबसे बड़ी चुनौती के रूप में उभरा। भारत इस चुनौती को लगभग एक चौथाई शताब्दी से झेल रहा है। भारत द्वारा इस प्रश्न को बार-बार अन्तर्राष्ट्रीय मंचों तथा अन्य राष्ट्रों के साथ संवादों में उठाया जाता है परन्तु बड़ी ताकतों के बीच यह तभी एक चिन्ता का विषय बनता है जबकि वे इन गतिविधियों के शिकार बनते हैं। 11 सितम्बर, 2001 की विश्व व्यापार संगठन तथा पेंटागन में हुई आतंकवादी घटनाओं ने अमेरिका को आतंकवाद के खिलाफ जंग छेड़ने के लिए प्रेरित किया। और इसके लिए उसे विश्व-व्यापी समर्थन भी हासिल हुआ। पर आतंकवाद की समाप्ति अभी भी सम्भव नहीं है। आतंकवाद ने राष्ट्रों की विदेश नीतियों का निर्धारण में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया।

17.11 भारतीय विदेश नीति एवं चुनौतियाँ

नई शताब्दी ने भारत की विदेश नीति के समक्ष नई चुनौतियों को उत्पन्न किया। ये चुनौतियाँ क्षेत्रीय अखंडता से सम्बन्धित भी हैं तथा आर्थिक एवं नाभिकीय भी हैं। ये चुनौतियाँ क्षेत्रीय भी हैं तथा वैश्विक भी। इन चुनौतियों को आन्तरिक राष्ट्रीय चुनौतियों से अलग करके भी नहीं देखा जा सकता है। नई विश्व व्यवस्था अभी अपने संक्रमणकाल से ही गुजर रही हैं। इसका

स्थिर रूप क्या और कब बनेगा, इसे कोई नहीं जानता। इतना तो तय है कि एक प्रभुत्व सम्पन्न राष्ट्र के निदेशन वाली एक ध्रुवीय विश्व व्यवस्था के प्रति सहानुभूति कहीं भी नहीं है। विश्व शान्ति के जिस आदर्श की परिकल्पना द्वितीय विश्व-युद्ध की समाप्ति पर संयुक्त राष्ट्र (The U.N.) की स्थापना के साथ संजोई गई थी वह अभी तक साकार नहीं हुईं। भले ही विश्व-युद्ध जैसी कोई घटना न हुई हो तो भी दुनिया भर में युद्ध अपने विविध रूपों में निरन्तर होते रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीयता तथा वैश्वीकरण राष्ट्रों से अपनी विदेश नीतियों को बदलते अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य के अनुकूल समायोजित करने का तकाजा करती हैं। राष्ट्रहित किसी राष्ट्र की विदेश नीति का आधार होता है। राष्ट्रहित की अवधारणा गत्यात्मक होती हैं, परन्तु कतिपय राष्ट्रहित स्थिर, स्थायी और अति आवश्यक होती है। राष्ट्रहितों का समुचित निर्धारण तथा उनके अनुकूल विदेश नीति निर्माण तथा उनका कार्यान्वयन किसी राष्ट्र की विदेश नीति की सफलता की कसौटी है।

17.12 भारतीय विदेश नीति का मूल्यांकन :

स्वतन्त्रता के उपरान्त भारत की विदेश नीति में एक निरन्तरता को देखा जा सकता है। घरेलू राजनीति ने विदेश नीति में किसी क्रान्तिकारिता को लाने में कोई भूमिका अदा नहीं की है। यह बात इस दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है कि विगत वर्षों में भारत में साझा सरकारें अस्तित्व में आई हैं और एक लम्बे समय से कांग्रेस के एकदलीय वर्चस्व की समाप्ति हुई है। विभिन्न कालखंडों में भारतीय विदेश नीति में वास्तुकार के रूप में नेहरू को ही सराहा जाता रहा है, भले ही राज्य सत्ता में बैठे रहे राजनीतिक दल घरेलू राजनीति में नेहरू तथा उनकी नीतियों का कितने ही बड़े आलोचक क्यों न रहे हों। बहुदलीय भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में अधिकांश राजनीतिक दलों के पास विदेश नीति के सम्बन्ध में कोई योजना अथवा कार्यक्रम है, ऐसा नहीं दिखाई पड़ता है। स्पष्ट है कि सत्तारुढ़ होने पर उन्हें विदेश नीति के उसी ताने-बाने के अनुरूप इसके क्रियान्वयन की प्रक्रिया को आगे बढ़ाना होता है। इसीलिए नई सरकारें पूर्व विदेश नीति अथवा विदेश विभाग पर ज्यादातर निर्भर रहती हैं। कदाचित विभिन्न समयों में विदेशी मामलों के कुछ जानकार (अधिकारी वर्ग तथा बुद्धीजीवी वर्ग) किन्हीं विशिष्ट अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर सरकार को नई दिशा देने में अवश्य सफल हो जाते हैं। भारत के संसद में विदेश नीति के प्रश्नों पर बड़ी बहसें अथवा चर्चाएँ हुई हों, ऐसे उदाहरण कम ही मिलते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि विदेश नीति के मामले पर एक आम सहमति अनौपचारिक रूप में बनी रहती है और इसके निर्माण तथा क्रियान्वयन का दायित्व कुछ विशेषज्ञों के हाथ में बना रहता है।

विदेश नीति एक कला होती है। एक सफल विदेश नीति किसी समय विशेष में एक राष्ट्र द्वारा अपने राष्ट्रीय हितों समुचित निर्धारण तथा उनकी प्राप्ति और प्रोन्नयन का नाम है। इस प्रक्रिया में पर राष्ट्रों के साथ सम्बन्धों का समायोजन तात्कालिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में किया जाता है। प्रायः विचारधारा के साथ समझौते भी करने होते हैं। राष्ट्रहित में ऐसे समझौते अनुचित भी नहीं कहे जा सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य में होने वाले घटनाक्रमों के अनुकूल किसी राष्ट्र को दूसरे राष्ट्रों तथा अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के साथ अपने सम्बन्धों को समायोजित भी करना पड़ता है, ऐसी परिस्थितियों में कभी-कभी विदेश नीति में एक नये रुझान या परिवर्तन का आभास होता है। इस सम्बन्ध में तीन उदाहरण लिए जा सकते हैं। पहला, 1971 में भारत-सोवियत संघ मैत्री सन्धि का है जिसकी आलोचना यह कह कर की गई कि इसमें भारत के गुटनिरपेक्ष होने पर एक प्रश्नचिन्ह लगा दिया है। दूसरा, उदाहरण भारत द्वारा इजराइल के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध (1992) स्थापित करने का। यह भी विदेश नीति में एक नीतिगत परिवर्तन था क्योंकि हम प्रारम्भ से ही अरब राष्ट्रों से अपने मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाए हुए थे। तीसरा, उदाहरण 2005 में अमेरिका के साथ परमाणु समझौते के विषय को लेकर है। इस सम्बन्ध में भी बहुत सी शंकाएँ जतायीं जा रही हैं जबकि

सरकार तथा विदेश विभाग का मानना है कि इससे न तो भारत की सम्प्रभुता पर कोई जांच आयेगी और न ही भारत ने अमेरिका के समक्ष कोई समर्पण किया है।

राष्ट्रीय हित एक सुनियोजित रूप में तात्कालिक तथा दीर्घकालीन राष्ट्रीय एवम् वैश्विक परिदृश्य के निर्धारण से निर्धारित होती है। इन परिदृश्यों का समुचित आंकलन एक दुष्कर कार्य है। विशेषकर जब हम अन्तर्राष्ट्रीय जगत में बहुत सी घटनाओं को अकस्मात् घटित होते हुए देख चुके हैं। दोनो जर्मनी के एकीकरण अथवा सोवियत संघ के विघटन की कल्पना इनके घटित होने की कल्पना कुछ समय पूर्व कोई भी नहीं कर पाया। ऐसी परिस्थिति में भविष्य का अनुमान कर पाना एक मुश्किल कार्य है। भारत की विदेश नीति के सन्दर्भ में भी ऐसे कई अप्रत्याशित घटनाक्रमों को चिन्हित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए 1962 में चीन का भारत पर आक्रमण जितना अप्रत्याशित था उतना ही कारगिल का युद्ध। निश्चित रूप से स्वतन्त्रता के बाद लगभग छः दशकों में भारत की विदेश नीति का एक मूल्यांकन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हम यदि बहुत सफल नहीं हुए हैं तो भी हम असफल नहीं रहे। इस अवधि में अन्तर्राष्ट्रीय जगत में भारत ने अपने लिए एक स्थान बनाया। विश्व की दूसरी सबसे बड़ी आबादी वाला राष्ट्र भारत क्षेत्रफल की दृष्टि से विश्व का सातवां सबसे बड़ा राष्ट्र है। दक्षिण एशिया तथा भारतीय उप-महाद्वीप में भारत की उपस्थिति की अनदेखी नहीं की जा सकती। भारत की सांस्कृतिक विरासत की समृद्धता, दूसरे राष्ट्रों को भारत की ओर आकर्षित करती है। गुट-निरपेक्ष आन्दोलन तथा विकासशील देशों की दुनिया भारत से एक नेतृत्व की अपेक्षा करती हैं। विज्ञान तथा तकनीकी के क्षेत्र में भारत ने सराहनीय प्रगति की। विश्व में ऐसे राष्ट्र विरले ही हैं, जिनके सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक और यहाँ तक कि राजनीतिक जीवन में भी भारत ने अपनी एक विशिष्ट पहचान बनाई है।

ऐसे में भारत की विदेश नीति को अत्यधिक गत्यात्मक होना आवश्यक है। वैश्वीकरण के युग में विदेश नीति के समक्ष उत्पन्न होने वाली नई चुनौतियों का सामना करने के लिए विदेश नीति को वैश्वीकरण के आधारभूत सांचे के अनुरूप आचरण करना आवश्यक है। उदारीकरण, वैश्वीकरण की एक शर्त है। परन्तु उदारीकरण के नाम पर राष्ट्र की सम्प्रभुता के साथ समझौता नहीं किया जा सकता है। इसी तरह निवर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद की चुनौती भी विदेश नीति के लिए एक बड़ी चुनौती है और आतंकवाद के खिलाफ किसी अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध की दशा में आवश्यक नीतिगत परिवर्तन किए जा सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में आस्था के प्रति भारत की वचनबद्धता भारत की विदेश नीति का आधारभूत सिद्धान्त रहा है। यही कारण है कि आज संयुक्त राष्ट्र में सुधारों, जो कि संयुक्त-राष्ट्र को और अधिक प्रजातान्त्रिक बनाए रखने तथा इसमें संरचनात्मक परिवर्तनों के उद्देश्य से विचारित किए जा रहे हैं, उन सबको भारत की स्वीकृति प्राप्त है सुरक्षा का प्रश्न विदेश नीति में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। राष्ट्रीय सुरक्षा, विज्ञान तथा तकनीकी क्रान्ति के युग में कई रूपों में खतरे उत्पन्न करती हैं। अब यह मात्र विदेशी आक्रमण के भय तक सीमित नहीं है। इसीलिए सुरक्षा का समुचित आंकलन इसके साथ जुड़े सारे प्रश्नों के सन्दर्भ में ही किया जा सकता है। जाहिर है कि इस विषय पर भी विदेश नीति के आधारभूत सिद्धान्तों के साथ समझौते किए जा सकते हैं।

17.13 सारांश

भारतीय विदेश नीति के कर्णधार पंडित जवाहरलाल नेहरू हैं। उन्हें पूर्ण रूप से यह अहसास था कि किसी भी विदेश नीति का मूलभूत उद्देश्य अपने हितों के सम्बर्द्धन में हैं। इसलिये उन्होंने भारतीय विदेश नीति को गुटनिरपेक्षता, पंचशील, भारतीय संस्कृति एवं दर्शन तथा सामाजिक एवं आर्थिक जरूरतों के अनुरूप ढाला। चूंकी विदेश नीति का निर्माण आवश्यक रूप से किसी राष्ट्र द्वारा, अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में उद्देश्यों तथा साधनों के विकल्प की प्रक्रिया है।

भारतीय विदेश नीतियों के उद्देश्यों में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा, नस्लवाद एवं उपनिवेशवाद का विरोध, अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शान्तिपूर्ण समाधान तथा अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों, विशेष कर संयुक्त राष्ट्र को सक्रिय सहयोग देना शामिल है। भारतीय विदेश नीति के लक्ष्यों में जातीय भेदभाव एवं साम्राज्यवाद का विरोध, एशियाई देशों की सम्मान की रक्षा, एक स्वतन्त्र तथा असंलग्न नीति पर बल, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में विश्वास, शीतयुद्ध एवं क्षेत्रीय सैनिक संगठनों से बचाना, अन्तर्राष्ट्रीय तनावों को कम करने वाले एवं शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की सम्भावनाओं को बढ़ाने वाले प्रयासों में विश्वास व्यक्त करना, शामिल है। भारतीय विदेश नीति के निर्धारक तत्त्वों में भारत की दक्षिण एशिया में विशिष्ट भौगोलिक स्थिति, 'वसुधैव कुटुम्बकम' एवं मानवतावादी वैचारिक संस्कृति, गुटनिरपेक्षता, आर्थिक एवं सैनिक तत्त्व का प्रभाव, राष्ट्रीय हितों को प्राथमिकता तथा नेहरू का व्यक्तित्व प्रभावी तौर पर शामिल हैं।

भारत के विदेश नीति के संचालन एवं प्रभावशीलता को अलग-अलग कालखंडों में रखकर देखा जा सकता है। प्रथम कालखंड विशेषकर नेहरू युग के तौर पर जाना जाता है। इस युग के प्रथम काल में भारतीय विदेश नीति की प्रक्रिया इस प्रकार थी–

1. शीतयुद्ध का सामना करने के लिए गुट-निरपेक्ष रवैया अपनाना;
2. पाकिस्तान तथा भारत की कुछ रियासतों का सामना करने के लिए भारत की भौगोलिक अखंडता को सुदृढ़ बनाने के लिए निर्णायक राजनीतिक सैन्य रवैया, अपनाना;
3. संयुक्त राज्य और (पूर्व) सोवियत संघ के साथ एक समान सम्बन्ध रखने के प्रयास करना;
4. चीन के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध विकसित करना;
5. सामान्य मुद्दों पर स्वतन्त्र देशों को एकता के सूत्र में बाँधने की पहल करना, इत्यादि।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी भारत ने 'न्यूटरल नेशंस रिपेट्रिएशन कमीशन' की अध्यक्षता, 'इंडो-चाइना पीस एग्रीमेंट' को व्यावहारिक रूप में मदद, संयुक्त राष्ट्र के नियन्त्रण आयोग में लाओस, कम्बोडिया तथा वियतनाम के सम्बन्ध में अध्यक्षता की। भारत-सोवियत संघ (पूर्व) बहुआयामी सम्बन्धों की शुरुआत हुई। 1950 और 1955 की अवधि में कोलम्बो सम्मेलन (1954) तथा 1955 में एफ्रो-एशियन सम्मेलन के दौरान भारत ने इंडोनेशिया, मिस्र, श्रीलंका तथा चीन के साथ सम्बन्ध विकसित किए। भारत को NAM के संस्थापक सदस्य के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ख्याति मिली लेकिन चीन-भारत युद्ध के कारण पंडित जी का सपना चकनाचूर हो गया।

शास्त्री जी गुटनिरपेक्षता के प्रति वचनबद्धता तथा आर्थिक और रक्षा क्षेत्र में आत्म-निर्भर बनने की ओर भारत के दृढ़-निश्चय पर कायम रहे। सन् 1965 में भारत-पाक युद्ध की जटिलताओं का शास्त्री जी ने जिस प्रकार से सामना किया, यह भारतीय विदेश नीति के विकास का महत्त्वपूर्ण चरण था।

श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने कुल मिलाकर 15 वर्ष तक, अर्थात् सन् 1966-77 तक, उसके बाद सन् 1980-84 तक भारत की विदेश नीति की बागडोर संभाली। श्रीमती गाँधी का केन्द्र बिन्दु आदर्शवाद की बजाय राजनीतिक यथार्थवाद पर आधारित 'भारतीय हित' थे। सन् 1966 से 1970 तक श्रीमती गाँधी ने पाकिस्तान और चीन की सैन्य कार्यवाहियों एवं बुलन्द हौंसले को रोका तथा नेपाल, भूटान, अफगानिस्तान, म्यांमार, श्रीलंका, मालद्वीप के साथ सहानुभूति पूर्ण सम्बन्ध स्थापित किए। भारत-ईरान सम्बन्ध भी विकसित हुआ। श्रीमती गाँधी के अफ्रीकी नेताओं कवामे, क्रूमाह, केनेथ काउंदा, जुलियस नियरे तथा सेकिचु दूरे के साथ व्यक्तिगत रूप से मित्रता की। अनेक बाधाओं के बावजूद श्रीमती गाँधी और राष्ट्रपति जॉनसन के बीच व्यक्तिगत स्तर पर समझ-

बूझ के कारण भारत-संयुक्त राज्य के बीच परस्पर सम्बन्धों में सन्तुलन रहा। 1970-74 के बीच पाकिस्तानी राजनीति का पतन तथा बंगलादेश में मुक्ति आन्दोलन के प्रति भारत की प्रतिक्रिया, शिमला समझौता, भारतीय विदेश नीति तथा सामरिक कार्यवाहियों का महत्त्वपूर्ण बिन्दु रहा। भारत ने इस दौरान मई, 1974 को परमाणु शस्त्रों की क्षमता भी हासिल कर ली। कुल मिलाकर श्रीमती गाँधी गुटनिरपेक्ष आन्दोलन तथा भारत की विदेश और रक्षा नीतियों के स्वतन्त्र विकल्प के प्रति वचनबद्ध रहीं।

श्री देसाई के कार्यकाल में विदेश नीति के प्रमुख मुद्दे जैसे परमाणु अप्रसार, निरस्त्रीकरण, जल संसाधनों में विभाजन, निकटवर्ती पड़ोसी देशों के साथ व्यापार बढ़ाने, जिम्मी कार्टर की जनवरी 1978 में भारत यात्रा आदि रहा। श्रीमती गाँधी के शासनकाल के दूसरे चरण में भारतीय विदेशनीति के प्रमुख मुद्दे अफगान संकट, पंजाब, जम्मू-कश्मीर में पाकिस्तान प्रायोजित विद्रोह, सोवियत संघ में ब्रेझनेव की अस्वस्थता, शीतयुद्ध में रोनाल्ड रीगन के बढ़ते प्रभाव, ईरान-इराक युद्ध, दक्षेस मुद्दा (बातचीत के अन्तिम अवस्था में) रहे।

श्री राजीव गाँधी के विदेश नीति में रूस-अमेरिकी उदीयमान अन्तर्सम्बन्धों के सन्दर्भ में भारत द्वारा सामंजस्य बैठाना, श्रीलंका के जातीय संकट से निपटना, पाकिस्तान का सामना करना, भारतीय अर्थव्यवस्था को आधुनिक बनाने के लिए आवश्यक प्रौद्योगिकी और संसाधन निवेश सुनिश्चित करना, अन्तर्राष्ट्रीय सामरिक माहौल में आए बदलाव का सामना करने के लिए भारत की रक्षा क्षमताओं को बनाए रखना इत्यादि। 1989-91 के मध्य भारत में राजनीतिक अस्थिरता रही। श्री वी0पी0 सिंह के कार्यकाल में श्रीलंका से शान्ति सेना की वापसी तथा श्री चन्द्रशेखर के कार्यकाल में खाड़ी-संकट, नेपाल से सम्बन्धों में सुधार प्रमुख मुद्दे रहे।

1991 में श्री पी0पी0 नरसिम्हाराव के नेतृत्व में आर्थिक सुधार, अमेरिका से सम्बन्ध सुधार, इजराइल को राजनैतिक मान्यता, पूर्व की ओर विदेश नीति का रूस (Looking East Policy), जकार्ता (1992) तथा कार्टजेना (1995) गुट-निरपेक्ष सम्मेलन, G-15 की बैठक एवं पड़ोसी राष्ट्रों के साथ शान्ति-सहयोग इत्यादि महत्त्वपूर्ण रहे। श्री देवगौड़ा एवं बाद में भी गुजराल के अल्प शासन काल के बाद 1998 में श्री बाजपेयी के नेतृत्व में NDA सरकार सत्तारूढ़ हुई। भारत ने अपने को परमाणु सम्पन्न राष्ट्र घोषित किया। सन् 2000 में बिल क्लिंटन के भारत यात्रा के बाद भारत-अमेरिकी सम्बन्ध (VISION-2000) के तहत लगातार सकारात्मक रही। बाजपेयी की लाहौर बस यात्रा एवं कारगिल संकट भी ऐतिहासिक रहा।

भले ही भारतीय विदेश नीति की अपनी कुछ सीमाएं रहीं, पर महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में हमने सफलता पाई। उदाहरण के लिए, भारत की क्षेत्रीय एकता एवं अखण्डता, पड़ोसी देशों के साथ अच्छे सम्बन्ध, विदेश नीति, परमाणु, अन्तरिक्ष तथा प्रौद्योगिक विकल्प बनाए रखना, निरन्तर विश्व के प्रमुख ताकतों के साथ व्यवहारिक सम्बन्ध बनाए रखना; बहुपक्षीय संगठनों में वैश्विक मुद्दों पर विचार-विमर्श करते समय सक्रियता बनाए रखा, तथा भारत के मूल-भूत हितों की पूर्ति के लिए पर्याप्त लचीलापन अपनाते हुए अपनी रक्षा और विदेश-आर्थिक सम्बन्ध बनाए रखे, ताकि इस जटिल विश्व में भारत के लोगों को सुरक्षा और कल्याण सुनिश्चित की जा सके।

17.14 सन्दर्भ ग्रन्थ

जे0बन्धोपाध्याय	The Making of India's Foreign Policy J-Vandopadhyay
जे0एन0 दीक्षित	भारत की विदेश नीति
सी0पी0 मामरी	Foreign Policy of India
विमल प्रसाद (Edit)	India's Foreign Policy : Studies in Continuity and

Change

Surjeet Man Singh — India's Search for Power : Indiva Gandhi's Foreign Policy.

A. Appadorai — Domestic Roots of India's Foreign Policy

A - Appadoria & M.S. Rajan — India's Foreign policy & Relations

V.P Dutta - India's Foreign Policy in a Changing World.

डा० पुष्पेश पन्त एवं श्री पाल जैन भारतीय विदेश नीति - नए आयाम

मथुरा लाल शर्मा - बदलती विदेश नीतियाँ

B.C. Upreti, Mohan Lal Sharma & S.N. Kaushik (Ed.) India's Foreign Policy; Emerging Challanges and Paradigms Vol. 1 & Vol 2.

17.15 सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न

1. भारतीय विदेश नीति के आधारभूत तत्त्वों की विवेचना कीजिए।
2 बदलते वैश्विक परिवेश में भारत की विदेश नीति का परीक्षण कीजिए।
3. भारतीय विदेश नीति के संचालन में इन्दिरा गाँधी की भूमिका का मूल्यांकन कीजिए।

लघु-उत्तरीय प्रश्न

1. भारतीय विदेश नीति एवं गुट-निरपेक्ष आन्दोलन
2. भारतीय विदेश नीति एवं चुनौतियाँ
3. भारत-पाक सम्बन्ध

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. भारत-चीन संघर्ष किस वर्ष में हुआ?

   (a) 1962 (b) 1955

   (c) 1964 (d) 1966

2. जनवरी, 1985 में छह देशों का निःशस्त्रीकरण सम्मेलन कहाँ आयोजित हुआ।

   (a) वाशिंगटन में (b) लन्दन में

   (c) नई दिल्ली में (d) लाहौर में

3. भारत-अमेरिकी परमाणु सहयोग समझौता किस वर्ष हुआ।

   (a) 2004 (b) 2002

   (c) 2003 (d) 2005

17.16 प्रश्नोत्तर–

1. a
2. c
3 d

Notes

Notes